ज्ञानमण्डल ग्रन्थमालाका ग्यारहवाँ ग्रन्थ

जापानकी राजनीतिक प्रगति

(संवत् १९२४—१९६६ तक)

लेखक

डाक्टर जार्ज एत्सुजीरो उयेहारा

बी. ए. (वाशिंगटन) डी. एस-सी (लण्डन)

अंगरेजीसे भाषान्तरकार

पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे

काशी

ज्ञानमण्डल कार्यालय

पुस्तक मिलने का पता—

❀ हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग ❀

सम्पादकीय वक्तव्य

जापानी विद्वान् डाकृर उयेहाराने डाकृरी डिगरीके लिए लन्दन विश्वविद्यालयमें जापानके राजनीतिक विकासपर एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध पढ़ा था। वह सं० १९६७ वि०में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। ज्ञानमण्डलके संचालक श्रीमान् बाबू शिवप्रसाद गुप्तके आदेशसे इस ग्रन्थ-रत्नका हमारे मित्र पं० लक्ष्मण नारायण गर्देने जो अब दैनिक भारत-मित्रके सम्पादक हैं—अंग्रेज़ीसे उलथा किया। जब ज्ञानमण्डल-के पास प्रेस न था तभी इसका छपना अन्यत्र आरम्भ हो गया था, पर अनेक विघ्न बाधाओंके कारण पुस्तक एक खंड छपकर रुक गयी थी। अब यह पूरी की गयी है। "देर आयद दुरुस्त आयद" की कहावतके अनुसार पाठकोंको पुस्तक पसन्द आयी तो मण्डल सारा परिश्रम और व्यय सुफल समझेगा।

इसके पहले खण्डके सम्पादनका श्रेय श्रीयुत श्रीप्रकाश-तथा श्रीमान् पं० पद्मसिंह शर्म्माको ही है शेषके सम्पादन कार्य्यमें, प्रूफ संशोधनादिमें हमें पं० जयदेवजी विद्यालङ्कारसे बराबर सहायता मिली है, जिसके लिए हम इन मित्रोंके कृतज्ञ हैं।

श्रीकाशी।
१ मेष १९७८

रामदास गौड़
सम्पादक

जापानपर एक सरसरी निगाह

[ले॰ रामदास गौड़]

१—भूगोल

प्राचीन जम्बूद्वीपके और आजकलके एशिया महाद्वीपके अत्यन्त पूरबमें जापानका साम्राज्य है। कमचटका-के दक्खिनी सिरेसे लेकर फिलिपाइन द्वीपसमूहके उत्तर सौ मीलकी दूरीतक प्रशान्त महासागरमें कुछ टेढ़े मेढ़े बेडौल टापू परस्पर मिले जुले हैं जिन्हें जापान द्वीपपुञ्ज कहते हैं। इसके पश्चिमोत्तरमें अखोट्स्क समुद्र, जापान समुद्र और पूर्वी समुद्र है और दक्षिण-पूर्वमें प्रशान्त महासागर है। उत्तरमें कुरील द्वीपपुञ्ज है। दक्षिण पश्चिममें शाखालीन द्वीप-माला है जिसको जापान द्वीपमालासे केवल परुष नामक जलडमरुमध्य अलग करता है। जापान द्वीपमालामें चार द्वीप मुख्य हैं—येज़ो (वा होकायदो) होंदो (वा निप्पन), शिकोकु और किउशिउ। किउशिउसे दक्षिण लिउकिउ वा लूचू टापू हैं जो अपना सिलसिला फारमोसा द्वीपतक पहुँ-चाते हैं। यह फारमोसा द्वीप भी सं॰ १९५२में चीनसे जापानके साम्राज्यमें आ गया है। जापानका विस्तार लगभग पौने दो लाख मीलके है जो हमारे बङ्गाल और बिहारके बरा-बर होता है। मुल्क ऊबड़ खाबड़ और पहाड़ी है। जागते और सोते ज्वालामुखी पर्वतोंसे भरा है। बारम्बार भूकम्प हुआ

करता है। भूकम्पोंसे अगर कोई हिस्सा प्रायः बचा रहता है तो वह उत्तरीय भाग है। इन्हीं भूकम्पोंके डरसे वहाँ मकान लकड़ीके बनाये जाते हैं जो दो मंजिलसे ज्यादा ऊँचे प्रायः नहीं होते। कई पर्वत दस बारह हज़ार फुट ऊँचे हैं। टापूके किनारे इतने टेढ़े मेढ़े और असम हैं कि समुद्रका किनारा लगभग अठारह हज़ार मीलके मिल जाता है। नदियाँ छोटी हैं पर अत्यन्त वेगवती हैं। गरमियोंमें बरफ़के गलने और पानी बरसनेसे बड़ी तीव्र बाढ़वाली धारा बहने लगती है। इनसे सिंचाई अच्छी होती है पर इनमें जहाज़ नहीं चलते। कित-कम, तोनी, शिनानो, किसो और इशिकारी प्रधान "गव" अर्थात् नदियाँ हैं। हाँदोंमें जापानकी सबसे बड़ी झील है जिसे "बीवा" कहते हैं।

ऋतुओंमें बड़ा अन्तर है। मुख्य टापुओंमें जाड़ा इतना कड़ा पड़ता है कि कभी कभी पारातक जम जाता है। गरमी मनुष्यके रक्तकी गरमीतक पहुँच जाती है। ४० इंचसे लेकर १५० इंचतक वर्षा भी हो जाया करती है। सबसे अधिक गरमी असाढ़ सावन और भादोंमें पड़ती है। दक्खिन पूरब-के सारे किनारोंसे लगी हुई उत्तरी प्रशान्त महासागरकी एक धारा बहती है जिसे कुरोशिवा (कृष्णा धारा) कहते हैं। इसी लिए दक्खिन-पूर्वी भाग पश्चिमोत्तरकी अपेक्षा अधिक गरम रहते हैं। गरमीमें बड़ी भयानक बवंडरों और बगूलोंवाली आँधी उठा करती है जो शरद ऋतुके आते आते बहुत हानि-कारक हो जाती है। यहाँ पाताल और जम्बूद्वीप (अमेरिका और एशिया) दोनोंके जन्तु पाये जाते हैं जिससे निश्चय होता है कि किसी युगमें जम्बूद्वीप और पाताल दोनोंसे ये टापू मिले हुए थे। वनस्पतियोंका भी यही हाल है। जापानी प्रायः

मछली भात खाता है। चायकी भी बड़ी चाल है। चायकी खेती भी बहुतायतसे होती है।

२–समाज

शहरोंके रहनेवाले ख़ासे विलायती हो गये हैं। पश्चिमी सभ्यताकी कोई चीज़ नहीं जिसका वहाँ प्रचार न हो। वही चटक मटक, वही तूमतड़ाक, वही शान, वही आनबान। नागरिक जापानी फिरङ्गियोंकी पूरी नक़ल करता है और अपनी प्राचीन सभ्यताको प्रायः खो बैठा है। पर गाँववाले अभी बहुत कुछ पुरानी सभ्यताको सँभाले हुए हैं। जापानकी भौगोलिक दशा भी उसकी प्राचीन सभ्यताका रक्षक है। घरोंमें चटाइयोंके सिवा कुर्सी मेजकी चाल नहीं है। जापानी अपनी थाली अपने सामने चटाईपर रखकर भोजन करता है। अधिकांश गरम हम्मामोंमें नहाते हैं जो मैदानमें बने हुए उबलते जलाशय हैं। जापानियोंमें बड़े कुटुम्बोंकी प्रथा नहीं है। बड़ेसे बड़ा कुटुम्ब प्रायः पाँच छः प्राणियोंका होता है। जापानियोंमें बड़ी जातियोंके लोग प्रायः गोरे कुछ पीला-पन लिये होते हैं, चेहरे लम्बोतरे, आँखें कानकी तरफ़ तिरछी चढ़ी हुई और मुँहका घेरा छोटा होता है। क़दमें जापानी लम्बा नहीं होता। ऊँचाई प्रायः सवा पाँच फ़ुटसे अधिक नहीं होती। शारीरिक अवस्था उनकी अच्छी नहीं होती। प्रायः दुबले और कमज़ोर होते हैं। छोटी जातियोंके लोग कुछ साँवले होते हैं, आँखें सीधी होती हैं और शरीरकी बनावटमें मज़बूत होते हैं। जापानियोंका सिर प्रायः कुछ बड़ा होता है।

मर्द रेशमी या सूती कुर्ता और किमोनो (जापानी चोग़ा)

पहनते हैं। कमरमें रेशमी कमरबन्द बँधा रहता है। शीत-कालमें कई किमोनो एक दूसरेके ऊपर पहन लेते हैं। और सबसे ऊपर 'काकामा' या हार्सी (जापानी कोट) पहना जाता है। यह बड़ा कोट घरमें रहनेके समय उतार देते हैं। स्त्रियाँ अन्दर एक चोला पहनती हैं, ऊपरसे 'किमोनो' पहन लेती हैं और कमरमें डेढ़ फुट चौड़ा कमरबन्द (ओबी) किमोनो-के भी ऊपर बाँध लिया जाता है। औरतें बालोंमें खूब तेल लगाकर घुण्डीदार लम्बी सूइयोंसे अपने बालोंको बड़ी अच्छी तरहसे सँवार लेती हैं। एक बार बालोंको गूँथकर सातवें दिन खोलती हैं। केशपाशको ढीला न होने देनेके लिए गर्दन के मापकी एक मुड़ी हुई लकड़ीकी पट्टी लगा लेती हैं।

जापानी लोग स्वभावसे ही खुले दिल, प्रसन्न, विचारवान् सहिष्णु और बड़े मितव्ययी होते हैं। जापानमें स्त्री पतिका धन समझी जाती है।

जापानकी आबादी १९७५ वि०में लगभग पौने छः करोड़ थी। स्त्री पुरुषोंकी संख्या प्रायः बराबर ही समझना चाहिए।

३—शिक्षा

जापानमें ६ से १४ वर्षकी अवस्थातक प्रारम्भिक शिक्षा आवश्यक समझी जाती है। १९७२-७३ वि० में प्रारम्भिक पाठशालाएँ २५,५७८, शिल्प विद्यालय ७६२४, बालोद्यान ६३५, मध्यविभागके विद्यालय ३२१, कन्यापाठशालाएँ ३६६, नार्मल-स्कूल ९२, अन्यान्य स्कूल २३१७, उच्च कक्षाके विद्यालय ८, विश्वविद्यालय ४, और अन्धों और गूँगोंके स्कूल ७१ थे।

प्रारम्भिक विद्यालयोंमें आचारशिक्षा, मातृभाषा, गणित, इतिहास, भूगोल, शारीरिक व्यायामको शिक्षा दी जाती है।

मध्य विद्यालयोंमें पूर्वोक्त विषयोंके अतिरिक्त चीनी, अंग्रेजी, फरांसीसी, जर्मन भाषाएँ तथा उच्च गणित, पदार्थ विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि पाठ-विधिमें रखे गये हैं। तोकियो, कियोतो, तोहोकू और किउशिउमें राजकीय विश्वविद्यालय स्थापित हैं जिनसे बहुतसे धर्मशास्त्र, चिकित्सा, साहित्य, विज्ञान, शिल्प, कृषि आदि विद्याओंके महाविद्यालयोंका सम्बन्ध है। इन चारों विश्वविद्यालयोंके उपाध्यायों और महोपाध्यायोंकी संख्या वि० १९७२-७३ में ८६५ थी। और भी बहुतसे ऐसे स्कूल हैं जो सरकारकी और सर्वसाधारणके चन्देकी सहायतासे चलते हैं।

१९७२-७३ वि०में जापानमें ९०० पुस्तकालय थे। इसी वर्षमें २८५१ समाचारपत्र, मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र प्रकाशित होते थे।

४—धर्म

आजकल जापानका राज्य-धर्म्म कुछ भी नहीं है। सभी सम्प्रदायोंको स्वतन्त्रता है। शिंतोधर्म और बुद्धधर्म ये दोनों मुख्य हैं। शिंतोधर्मकी १४ और बुद्धधर्मकी १२ शाखाएँ हैं। १९४८ वि०में वहाँ ईसाइयोंका गिरजा भी स्थापित हो गया था। १९७१ वि०में जापानमें छोटे बड़े सब शिंतोमन्दिर १,२१,३९९, बुद्ध मन्दिर ७१५१ और १४११ गिरजे थे। शिन्तोधर्म जापानका अपना धर्म है। बुद्धधर्मके प्रचारक छठी शताब्दीके अन्त और सातवीं शताब्दीके प्रारम्भमें चीनसे आये थे। शिन्तोधर्ममें नैसर्गिक देवताओंकी उपासना तथा पितरोंकी पूजा मुख्य है। मुख्य देवता अमतेरासु (सूर्यदेव) ही जापानके सम्राट् मिकाडोका आदि वंशकर्त्ता हुआ है।

अर्थात् जापान सम्राट् अपनेको सूर्य्यवंशी कहता है। उसके नीचे और भी बहुतसे गौण देवता हैं जो पर्वतों नदियों और अन्य भौतिक रचनाओंके अधिष्ठाता हैं बहुतेरे त्योहार तो पितरोंके ही नाते माने जाते हैं। शिन्तोधर्मके मन्दिर बुद्ध मन्दिरोंकी अपेक्षा बहुत सादे होते हैं और पूजाविधि भी बहुत शानसे नहीं होती। उच्च श्रेणीके बहुतसे लोग इसी धर्मको मानते हैं।

५—उद्योग-धन्धे

अधिक उद्योग-धन्धे वही हैं जिनका सम्बन्ध खेती, बागवानी, जंगलात और मछुआहीके साथ है। सबसे मुख्य धन्धा खेतीबारी है जो बहुत प्राचीनकालसे चली आ रही है। सैकड़ा पीछे साठ आदमी खेतीबारीमें ही लगे रहते हैं। देशका बहुतसा भाग पहाड़ी होनेसे बेबसा पड़ा है तोभी बसे हुए भागोंमें भी उपजके मालको बाजारमें ढो लानेके लिये बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। वहाँकी मुख्य उपजें, धान, जौ, गेहूँ और रुई हैं। वहाँके किसानों और जमीनदारोंके निरन्तर परिश्रमसे आशासे अधिक फसल होती है। एक वर्षमें एक ही खेतसे तीन तीन फसलें काट लेते हैं। बाजरा, सेम, मटर, गेहूँ, आलू, रूई, तम्बाखू, नील और चाय आदि पदार्थ प्रायः सब जगह पैदा होते हैं। रेशमी कीड़ोंके पालनेके लिए शहतूतके बाग़ भी जगह जगह लगे हुए हैं। तम्बाकूपर जापानी सरकारका ठीका है। रेशमी फसल जापानकी मुख्य पैदावार है। जापानसे रेशमी माल बहुत ज्यादा बाहर भेजा जाता है। जापानसे १९७६ वि०में कच्चा रेशम पौने चौरानबे करोड़

रुपयेका, रेशमी माल, १५ करोड़ रुपयाका, और रेशमी कपड़ा ३० करोड़ रुपयेका विदेशमें गया।

जापानमें घोड़ा, सूअर, भेड़, बकरी, गाय बैल आदि पशु भी बहुत पाले जाते हैं। लगभग अठारह करोड़ एकड़ भूमिमें बाँस, बड़े केले, सागोन, खजूर, लाख, कपूर, मोम आदिके वृक्षोंके जंगल हैं। किउशिउ और येजोके प्रान्तोंमें कोयलेकी खानें हैं। चाँदी, ताँबा, रसांजन, सोना, गन्धक, लोहा, ग्रेफाइट् और चीनी मिट्टी भी मिलती है। और खानें भी मध्य होन्दो और येजोमें कहीं कहीं हैं। जापानमें मजूरी सस्ती है। रुई, सूतके माल रेशमी और टसरी माल, पीतलके बर्तन, चटाइयाँ, दरियाँ, चीनीके बर्तन, टोकरियाँ, बाँस और बेंतकी कारीगरी, दीयासलाई, शीशेका सामान, फलालैन, पंखे तथा लोहेके बर्तन कैंची, चाकू आदि सामान अधिक बिकता है।

नागासाकीमें जहाज़ बनानेका एक बड़ा कारखाना है। वाकामात्सुमें लोहे और फौलादके कारखाने हैं। इसके सिवा सौमें पाँच आदमी मछलीका ही रोज़गार करते हैं।

१९७५में जापानमें सरकारी रेलें और कम्पनीकी रेलें मिलाकर लगभग १८३४ मीलोंपर फैली हैं। एक नियत चौड़ाईकी रेलकी पटरी बिछानेकी आयोजना की गयी है जिसका सवा दो अरब रुपयेका बजट कूता गया है। यह कार्य वि० १९९०में समाप्त होगा। एक सुरङ्ग १९७७ वि०में ही खुदना प्रारम्भ हो गया है जो १९८५ वि०में समाप्त हो जायगा। इस ७ मीलकी सुरङ्गसे किउशिउ द्वीपसे होन्शू द्वीपमें सुगमतासे लोग आ जा सकेंगे।

जापानमें १६४१ मीलोंपर (वि० १९७५) बिजलीसे चलने वाली ट्रामकी पटरी बिछ गयी है।

विदेशीय व्यापारके लिए जापानी सरकारने व्यापारी कम्पनियोंको नियुक्त किया है। ४ मुख्य जहाज़ी मार्ग खुले हुए हैं। १. उत्तर अमरीकाकी ओर, २. दक्षिण अमरीकाकी ओर ३. यूरोपकी ओर, ४. आस्ट्रेलियाकी, ओर। कोरिया, उत्तरी चीन और यंगसीकियांगके बन्दरोंपर भी जापानी जहाज़ोंके मार्ग खुले हुए हैं।

फलतः जापानकी अपनी स्थिति सभ्य संसारमें किसी यूरोपी राष्ट्रसे कम नहीं रही। संसारकी सबसे बड़ी राज्य-सत्ताओंमें जापान भी एक गिना जाता है।

६—इतिहास

जापानी पुराणोंके अनुसार जापानी द्वीपोंको सूर्य्यदेवता-ने बनाया था। उन्हींके वंशमें जापानी राजवंशके मूलपुरुष ज़िम्मूने ६०३ वि०पू०में अपना राज्य स्थापित किया था। एक प्रसिद्ध दन्तकथाके अनुसार रानी जिंगोने २७६ वि०में कोरियाकी विजय की थी। तभीसे कोरियाकी सभ्यताका जापानपर प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ। छठी शताब्दीके प्रारम्भमें बौद्धधर्म फैला। महाराजा सूसानकी हत्याके पीछे रानी सूइकोने बौद्धधर्मको बड़ी दृढ़तासे फैलाया। चीनके साथ बड़ी गाढ़ी मित्रता हो गयी और चीनी सभ्यता बहुत शीघ्र अपनाली गयी। रानी सुईको सोगावंश की थी। यह वंश उस समय प्रबल हो गया था परन्तु कोक्योकू वंशकी रानीके शासनमें (६९९—७०२) सोगावंशका यौवन ढल चुका था। इसके पीछे राजा कोतुकू गद्दीपर बैठा। इसके बाद राजपाटका काम राजनीतिज्ञ कामातारीके हाथमें आया। यही

चतुर व्यक्ति प्रसिद्ध फूजिवारा वंशका संस्थापक हुआ। ५ शताब्दियोंतक इस वंशकी प्रबलता रही तो भी महाराज-की पदवी प्राप्त न थी। वंशपरम्परागत राजप्रतिनिधि पदसे ही सन्तुष्ट थे। इन्हींके शासनकालमें जापानकी शासन शक्ति और सभ्यताकी बड़ी वृद्धि हुई।

८वीं शताब्दीमें एक धर्मव्यवस्था-पुस्तक तय्यार हुई। राजाका ज़ोर बहुत कुछ घट गया और फुजिवारा वंशका बल बहुत बढ़ गया। एक क़ानून ऐसा बन गया कि महाराजाके हरेक शासनसम्बन्धी कामपर राजप्रतिनिधिका नियन्त्रण आवश्यक हो गया। इसी कालमें धार्मिक संस्था और सेना विभागका भी बहुत बल बढ़ा। १२ वीं शताब्दीतक जापान बड़ा ही सुखी और समृद्ध रहा। इसके पीछे मिनामोती और तायरा दो सम्प्रदायोंमें बड़ा विरोध हो गया। यह कियोतो-की राजगद्दीके लिए था। होते होते इस झगड़ेने ऐसा भया-नक रूप धारण किया कि पाँच शताब्दियोंतक युद्ध चलता रहा। फूजिवारा वंश दोनोंके लिए समान था। फूजिवारा वंशके अधिकारी उसीके सिरपर राजमुकुट रखते थे जो संभाल सकता था। १२१६ वि०में तायरा और मिनोमोती दोनों दलोंके दो प्रबल नेता गद्दीके लिए उठ खड़े हुए। तायरा दलकी विजय हुई। नीजोको राजगद्दी दी गयी। दूसरे दलका नेता योशितोमो मार डाला गया और उसका पुत्र योरीतोमो भाग गया। कुछ काल पीछे योरीतोमोने तायरा दलके विरोधमें बड़ी सेना इकट्ठी करके और अपने भाई योशित्सुनेकी सहायतासे तायरा दलको परास्त किया और शासनकी बागडोर अपने हाथमें करके जापानका शासक बन बैठा। मिकादो अब केवल नाम मात्रका राजा रह गया।

शोगून केवल नाम मात्रके लिए मिकादोको कर भेज देता था। असलमें बागडोर शोगूनके हाथमें थी। योरितोमोने अपने शासनका केन्द्र कामाकुरा स्थानपर बनाया। और छावनियोंका विशेष रूपसे स्थापन करके शासन किया। वि० १२५५में वह मर गया। उसके पश्चात् उसका श्वसुर होजो तोकिमासा सब कारबारका मालिक बना और उसके वंशज भी शिकेन वा शोगूनोंके व्यवस्थापकके नामसे प्रसिद्ध हुए।

होजो वंशजोंका बल इतना अधिक बढ़ चुका था कि उनका बल घटानेके लिए कियोतोके राजाने १२७८ वि०में सेना भेजी। होजोके वंशजोंने उसका पूरा मुकाबला किया और राजाको गद्दीसे उतार कर देशसे निकाल दिया। फलतः होजोके वंशजोंमें अगले सौ वर्षोंके लिए बराबर ज़ोर बना ही रहा। वे अपने शिकेनके पदपर बराबर जमे रहे और शोगूनाई और राजगद्दीका मान नाममात्रको रह गया। इन्हींके शासनमें मंगोल लोगोंका बड़ा भारी आक्रमण हुआ। १३३१ वि०में पंहला धावा रोका गया। मंगोल लाचार होकर चीनकी ओर लौट गये। मंगोल विजेता कुबला खाँने अपना राजदूत कर उगाहनेको भेजा, इसपर विशेष ध्यान न देकर जापान सरकारने राजदूतोंको मरवा डाला। इसपर खानका बड़ा भारी लड़ाऊ बेड़ा १३३८ वि०में जापान समुद्रमें दिखाई पड़ा। शत्रुकी कितनी ही बड़ी सेना रही हो पर जापान द्वीपपर पैर रखनेकी हिम्मत न थी। जापानियोंने इस अवसरपर अनेक काम बड़ी वीरताके किये। अन्तमें चीनी बेड़ा आपसे आप तूफ़ानसे छितरा गया। कुछ एक ही बचकर ताका टापूमें पहुँचे। वहाँ भी उन अभागोंको शरण न मिली। जापानी उनपर टूट पड़े और उनका काम तमाम कर दिया।

१३ वीं शताब्दीके अन्तमें मिकादोने शिकेन लोगोंकी ठकुराईका अन्त कर देना चाहा। पर वह असफल रहा, बल्कि उलटे उसे ही कारावासका दण्ड मिला। तो भी इस समय मिकादोके पक्षमें सेनापति नित्ता, योशिदा, आशिकागा तकाऊजी आदि बड़े बड़े समर्थ पुरुष थे। उन्होंने होजो वंशजोंको लोहेके चना चबवाए। होजो लोगोंको परास्त किया और उन्हें देशसे बाहर निकालकर पुनः गोदायगोको ही राजसिंहासनपर बैठाया (१३९०२ वि०)।

गोदायगो राजगद्दीपर बैठकर भी कोई बड़े अधिकार न पा सका क्योंकि वि० १३९३में ही आशिकागा तकाउजीकी शोगूनाई प्रबल हो गयी। उसका विरोध करनेपर गोदायगोको गद्दीसे उतार दिया गया और नया मिकादो गद्दीपर बिठाया गया। ५० सालतक दो विरोधी राजवंश गद्दीके लिए खड़े होते रहे, एक जापानके दक्षिणी भागमें और दूसरे उत्तरी भागमें। ये दोनों दल योशिमित्सुकी शोगूनाई शासनमें गोकोमात्सुके राज्यकालमें (१६३० वि०) परस्पर मिल गये। १५ वीं शताब्दीमें शोगूनाईका पद सर्वथा निर्बल पड़ गया। सारा देश भीतरी युद्धोंसे जर्जरित हो गया और जागीरदारों और ताल्लुकेदारोंमें बराबर लाठी तलवारें चलती रहीं।

हिदेयोशी इयेयासू और नाबूनागा इन तीन सेनापतियोंके प्रबल प्रयत्नसे इस घोर अराजकताका अन्त हुआ। इनमें नाबूनागा जापानके इतिहासका एक प्रसिद्ध व्यक्ति है। उसने एचिजन और अन्य पाँच प्रान्तोका शासन अपने हाथमें लिया। आशिकागा योशिआकाको अपना शोगून बनाया और मिकादोके नामपर सारा शासनका कार्य चलाना प्रारम्भ किया। वि० १६३९ में उसका घात किया गया। इसके बाद सेनापति

हिदेयोशीने देशमें व्यवस्था बनाये रखनेका कार्य्य अपने हाथमें लिया। राजासे उतरकर दूसरे नम्बरपर यही था। उसने कियोतो और ओसाका नगरपर किलाबन्दीकी और बहुतसे संशोधन किये और पोर्चुगीज लोगोंको ईसाई मत फैलानेसे रोका। उसके मरे पीछे १६५५ वि०में उसके साले तोकूगावा इयेयासूने प्रधान बल पकड़ा। ईसाइयोंको उसने खूब दबाया। साथ ही हिदेयोशीके छोटे बेटेको अगुआ बनाकर विरोधमें खड़ा होनेवाले सर्दारों और जागीरदारोंको (१६५७ वि०) दबाया। १६६० वि०में उसने सारे जापानको अपने अधिकारमें करके स्वतः शोगून बन गया। १६७२ वि०में ओसाका स्थानपर ईसाइयोंका पराजय ही जापान भरके लिए उस समय बड़े महत्वकी घटना थी। इयेयासूने ताल्लुकेदारी राज चलाया जिसको उसके पोते इयेयासुने और भी दृढ़ कर दिया। इसकी चलायी तोकूगावा सरकार १६२५ वि० तक बनी रही। इनकी शोगुनाईमें जापानकी शान्ति सुखसमृद्धि खूब बढ़ी। १६१० वि०तक जापानसे विदेशी निकाल बाहर कर दिये गये। इसके पीछे अमरीका बर्तानिया, रूस, आदि देशोंसे व्यापारी सन्धि की गयी। और देशी व्यापारियोंके लिए भी कई बन्दरगाहोंके रास्ते खोल दिये गये।

शोगून पदका बल बहुत घट गया। विदेशियोंके चरण पड़ते ही जागीरदारों और ताल्लुकेदारोंका शासन टूट गया। अन्तिम शोगूनका १६२४तक राज्य रहा इसके बाद शोगून दल और राजदलमें संग्राम छिड़ गया और १६२१ वि०में राजपक्षकी ही विजय हुई। इसके बाद मिकादोने अपनी राजधानी तोकियो बनायी। फूजिवारा वंशके शासनमें जबसे

मिकादोकी अपनी मानमर्यादा नाममात्र रह गयी थी तबसे अबतक यह प्रथम अवसर था कि पदवीधारी मिकादो अब जापानका सच्चा शासक बन गया। तालुकेदारी शासनका लोप हो गया। बौद्धधर्मपर शिन्तोधर्मने विजय पायी। जल थल दोनों सेनाओंका सङ्गठन किया गया। रेल और डाकका प्रबन्ध किया गया। और भी बहुतसे सुधार हुए। १९२९ वि०में तोकियोमें भयङ्कर आग लगी। सारा नगर जलकर भस्म हो गया। नगर नये सिरेसे बनाया गया। लकड़ीके मकानोंकी जगह पत्थरकी इमारतें खड़ी की गयीं। तबसे ही गुलामी भी जापानसे सदाके लिए विदा हो गयी।

१९३१ वि०में जापानके एक भागमें कोरियापर आक्रमण करनेको बड़ा उत्थान प्रारम्भ हुआ जो शीघ्र ही शान्त हो गया। इसी वर्ष फार्मोसा टापूमें कुछ जहाजियोंका एक दल भेजा गया। पर वहाँके जङ्गली लोगोंने कुछ जहाजियोंको मार डाला। उस समय फार्मोसापर चीनका शासन था। इसी प्रसङ्गमें चीनसे फार्मोसाके लिए तकरार छिड़ गयी। और फलतः चीनको लगभग २२ लाख रुपयेकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ी। १९३४ वि०में सात्सुमामें द्रोह पैदा हुआ जो शीघ्र ही दबा दिया गया। सायगो आदि अनेक नेता इसमें स्वतः या अपने मित्रोंके हाथसे ही मारे गये। वि० १९३५में डाकका प्रबन्ध बढ़ाया गया। १९३६ वि०में लुच्चू द्वीपमाला-को अधिकारमें किया गया। वि० १९४७में मिकादोका नवराज्य-सङ्गठन-विषयक प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित हुआ और अगले वर्ष ही शिक्षाको आवश्यक कर दिया गया। १९४६ वि०में नव-शासनपद्धतिकी स्थापना हुई और सबको धर्मविषयक स्वत-न्त्रता दी गयी। अमरीका आदि देशोंसे फिरसे सन्धियाँ

की गयीं। विदेशियोंसे विशेष विभेदका भाव मिटा दिया गया।

कोरियाके लिए १६५१ वि०में चीनसे लड़ाई छिड़ी और अन्तमें यह सन्धि की गयी कि चीन कोरिया प्रान्तमें बिना मिकादोको सूचना दिये अपनी सेना न लावे। परन्तु चीनने इस सन्धिके विपरीत मनमानी की और अपनी सेनाएँ कोरियामें भेजीं। इसपर जापानने युद्धकी धमकी दी। चीनने धमकी की कुछ परवा न की और १६५१ वि०के श्रावण मासमें लड़ाई छिड़ गयी। आसानके पहले मुहासरेमें चीनकी बुरी हार हुई। कुछ पीछे कोरिया और जापानमें सन्धि हो गयी। इसके बाद जापानने ली-इन-चांग, नीउ-चांग आदि स्थानमें विजय पायी और ओयामाने पोर्ट-आर्थरकी बड़ी प्रसिद्ध विजय की। चीन भी कई जगह बराबर हारता गया और जापानकी विजय ही विजय हुई। १६५२ वि०में सन्धि हो गयी जिससे जापानके वीर्योपार्जित देश जापानके हाथमें रहे जिसमें फार्मोसा लियाओ और येस्कार्डस आदि स्थान भी सम्मिलित थे। कोरियाको स्वतन्त्र कर दिया। चीनको हर्जाना देना पड़ा और कई बन्दरगाह भी विदेशी व्यापारियों-के लिये खोल देने पड़े। जापानने एक बार फिर कोरियापर प्रभुताकी आवाज़ उठायी और जङ्ग फिर छिड़ गयी। अबके बर्तानिया और अमरीकावाले भी अपनी टाँग अड़ाये थे। आख़िर सन्धियाँ की गयीं। १६५८में जापानकी अंग्रेज़ोंसे मित्रता हो गयी।

७—रूस-जापानका युद्ध

मानचूरियामें रूस बराबर बढ़ता चला आ रहा था। इसी-से जापान और रूसमें मनमुटाव पैदा हो गया। रूसकी आँख

कोरियापर थी। जापानसे न सहा गया। १९५९ वि०में युद्ध छिड़ गया। रूसने अपनी जहाज़ी सेना पोर्ट-आर्थर व्लेडिवोस्के और अन्य कई बन्दरोंपर स्थापित की थी। जापानियोंने इन्हीं स्थानोंपर यूरोपसे नयी सहायता पहुँचनेके पूर्व ही धावा बोलनेकी सोची।

सेनापति नोगीने निःशङ्क होकर पोर्ट आर्थरपर धावा किया और कप्तान कुरोकीकी थल-सेनाने कोरियावालोंसे सन्धि करके रूसियोंको बड़ी वीरतासे निकाल बाहर किया। बादमें रूसी सेनापति मकराफका बेड़ा आया परन्तु जापानी पनडुब्बे गोलोंकी झपेटमें आकर स्वतः रसातलमें डूब गया। चैत्रमें रूसी जनरल कुरोपाटकिनने लियोयांगको केन्द्र बनाकर सफलता पानी चाही परन्तु जापानियोंके प्रबल वेग और नीतिके सामने उनकी सारी वीरता हरन हो गयी। पोर्ट आर्थरपर दोनों पत्तोंका बड़ा आग्रह रहा पर विजयश्री जापानके हाथ आयी। रूसको पीछे हटना पड़ा।

चीनमें सबके समान व्यापारिक अधिकारके विषयमें १९६२में जापानको अंग्रेज़ोंसे सन्धि हुई। १९६६में कोरियाकी सीमाके विषयमें चीनसे सन्धि हुई। १९६९में मिकादो मुत्सुहितोने शरीरके साथ राज्य छोड़ा और योषितो मिकादोने राज्यासनपर विराजे जो वर्तमान जापानी सम्राट् हैं।

८—उपसंहार

हमने जापानपर एक सरसरी निगाह डाली है। उसका भूगोल, उसका समाज, उसका व्यापार, उसकी शिक्षा और उसका इतिहास स्थूल दृष्टिसे देखा। पाठक एक बार ज़रा पुरानी दुनियाके नकशेको अपने सामने फैलाकर देखें—हम

जिसे पुरानी दुनियाँ कहते हैं उसका नकशा नहीं बल्कि जिसे पच्छाहीं पुरानी दुनिया कहते आये हैं उसका। फिरंगियोंकी पुरानी दुनियाँके पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर भाग दोनों ही महासागरोंसे घिरे हैं। पच्छिममें अटलांटिक और पूरबमें प्रशान्त महासागर है। दोनोंमें एक ही ढंगकी द्वीपमालाएँ हैं—एक ओर बर्त्तानिया दूसरी ओर जापान। कोई दिन था कि बर्त्तानियाने फ्रांसका एक बड़ा भाग हड़प रखा था। आज कोरियाको जापान दबाये बैठा है। बर्त्तानियाने पश्चिमी समुद्रोंको घेर लिया है और जापानने पूर्वी समुद्रोंको। बर्त्तानियाँका अधिकार कई सौ बरससे फैल रहा है। रूससे लड़कर जापानने अपनी धाक बिठा ली, बर्त्तानियाकी धाक मुद्दतसे बैठी हुई है। जापानने अपनी शानशौकत अपना दबदबा अपनी शक्ति युरोपके ढंगोंको अपनाकर इतनी बढ़ायी कि अब उसको भारी शक्तियोंकी पंचायतमें और शक्तियाँ लाचार होकर शरीक करती हैं। पच्छिममें बर्त्तानियाँने जैसे निर्णायक पदका इजारा कर रखा है पूरबमें जापानने भी एशिया-भाग्य-विधाता बननेका हौसला मुद्दतसे कर रखा है। युरोपके किसी झगड़ेके अवसरपर जापान अपना रोब जमानेमें आजतक नहीं चूका। आज भी अमरीकाकी निगाहोंमें बर्त्तानियाँका उतना डर नहीं है जितना जापानका और आये दिन दोनोंमें छिड़ जानेका खटका बना हुआ है।

जब युरोपवाले लड़ाईमें भिड़े हुए थे अमरीका और जापान व्यापारी लड़ाईकी पूरी तय्यारीमें थे। फल यह हुआ कि आज संसार इन्हीं दो देशोंके व्यापारका खिलौना हो रहा है। परन्तु जापान कई बातोंमें अमरीकासे फिर भी चढ़ा बढ़ा है और अमरीकाकी ईर्षा बेबुनियाद नहीं है।

जापानकी इतनी समृद्धि किन कारणोंसे हुई ? भारतके लिए यह समृद्धि कहाँतक स्पृहणीय है ? जापानको देखकर हमारे मनमें स्वभावसे ही यह प्रश्न उठते हैं। हमने जापानपर जो सरसरी निगाह डाली है उससे साफ जाहिर है कि जापानने अपनी भौगोलिक स्थितिसे, युरोपीय सभ्यताकी नकल करके पूरा फायदा उठाया है। जापानकी असली सभ्यता शुद्ध एशियाई सभ्यता है। परन्तु उसने कुछ ही बरसोंमें अपना रंग बदल दिया। अपनी सभ्यता खासी युरोपकी सी कर ली। उसने भी पैसोंको ही अपना परमेश्वर बना डाला। पशुबलको ही अपनी शक्तिका स्थान दिया। धर्मको सभ्यताके पीछे ढकेल दिया। बीस बरससे अधिक हुए बड़ा शोर था कि जापान अपना महत्त्व बढ़ानेके लिए ईसाई मतको राज-धर्म्म बनाना चाहता है और युरोपीय राष्ट्रोंसे वैवाहिक सम्बन्ध करनेवाला है। यह बात भी प्रसिद्ध है कि हर्बर्ट स्पेंसरने पिछली बातका विरोध किया था। निदान जापानको कोई निजी चीज़ इतनी प्यारी न थी कि युरोपीय शैतानी सभ्यताके बदले बेचनेको तय्यार न होता और आज भी उसका जो कुछ रूप है उससे उसकी ऐसी अनिष्ट प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही दीखती है। जापान यांत्रिक सभ्यताका दास हो रहा है। उसका शासनयंत्र भी आज युरोपका ही है।

जापानकी रूसपर विजय, जापानकी दौलत, जापानकी इतनी जल्दी उन्नति देखकर हम भारतीय मुग्ध हैं। बात बात में उसका उदाहरण देना, उसे अपना आदर्श ठहराना फैशन हो गया है। हमारे अनेक भाई तो उस पर जी जानसे निछावर हैं, समझते हैं कि वह हमारासाही देश है और कितने ही इतने दिलदादः थे कि समझते थे कि जापानका राज भारतपर हो

जाय तो हमारा भला होगा। परन्तु वह इन सब बातोंमें गलत नतीजे, भ्रामक परिणाम, निकालते हैं। दोनों देशोंकी भौगोलिक अवस्था एक दम भिन्न है। जापानमें स्वराज नहीं है। पूर्वी सभ्यता जापानियोंके हृदयमें शायद ऐसी मजबूतीसे नहीं गड़ी थी जितनी भारतवर्षमें। जापानमें आज युरोपीय सभ्यताका राज है, पश्चिमी पद्धतिका शासन है, और पश्चिमीय पद्धति, विशेषतः जैसी बर्त्तानियाकी है, वस्तुतः स्वराज्य नहीं है। भारतवर्ष जिस तरह पश्चिमीय पद्धतिके कोल्हूमें बर्त्तानियाँ द्वारा पिल रहा है, कोरियाके साथ जापानका बर्त्ताव उससे कम कठोर और पाशविक नहीं है। बर्त्तानिया आज जितनी घरेलू विपत्तियाँ झेल रहा है। जापान उनसे—यदि अपना रुख़ न बदले—बच नहीं सकता। भारतवर्षकी रक्षा उसके धर्म्मकी रक्षामें है, न कि "भयावह परधर्म्म" के ग्रहण करने में।

डाक्टर उयेहाराने जापानके राजनैतिक विकासका विस्तारसे दिग्दर्शन किया है। यह ग्रन्थरत्न पाठकोंको इस दृष्टिसे भेंट है कि वह जापानकी दशापर स्वतन्त्र रूपसे विचार करें और देशकी दशापर ध्यान कर देखें कि हम किस ढंगसे अपने विकासमें सफल हो सकते हैं। क्या जापान हमारे लिए अनुकरणीय हो सकता है? क्या उसके आदर्शपर चलना हमारे लिए श्रेयस्कर होगा? क्या किसी दिन जापान हमारे लिए हानिकर न होगा? वह क्या सूरतें हैं जिनसे कोई भी विदेशी राज्य हमें हानि न पहुँचा सके? यही प्रश्न हैं जिनपर विचार करना पाठकोंका कर्त्तव्य है।

ग्रन्थकारकी भूमिका

हमारे शासन-पद्धति-सम्बन्धी आन्दोलनसे प्रतनिधिक शासन-पद्धति तथा अन्य प्रतनिधिक संस्था प्रकट हुई हैं। इस ग्रन्थमें इसी पद्धतिकी खोज करनेका प्रयत्न किया गया है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें लगी विषय-सूची और घटनाक्रमसे इसके क्षेत्र और शैलीका पूरा पता लग जाता है। इस अवसरमें मैं उन सज्जनोंको धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थके निर्माणमें विशेष सामग्री दी और अपनी आलोचना और विशेष विधियाँ दर्शाकर बड़ी सहायता की है।

सबसे प्रथम मैं मि० ग्रहम वालेस (अर्थशास्त्रके अध्यापक लण्डन) का विशेषरूपसे ऋणी हूँ। आपने न केवल इस ग्रन्थकी रचनाकी प्रथम प्रेरणा ही की थी प्रत्युत इसके सामग्री संचयके कार्यमें भी बहुत बड़ी सहायता दी और मेरे हस्तलिखित ग्रन्थको भी स्वतः साद्यन्त पढ़नेकी कृपा की।

मैं प्रतिनिधि परिषद्के प्रधान मन्त्री मि० कामेतारो हाया शिदाका बड़ा धन्यवाद करता हूँ। आपने बहुतसी घटनाएँ और मूल्यवान विशेष बातें बतलाकर मेरा बड़ा उपकार किया। मैं मि० शिगेयोशी कूदोके प्रति अपनेको आभारी लिखनेमें भी बड़ा हर्ष अनुभव करता हूँ। आपके बनाये "तइकोकू गिकाईशी" और "गिकाईशिको" दोनों ग्रन्थोंसे मुझे बहुत अधिक सहायता मिली है।

अन्त में मैं श्रीमती एडवर्ड्स और श्रीमती वालेसको तथा अन्य मित्रों और सहायकोंको भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

विषय-सूची

भूमिका

प्रथम परिच्छेद

जापान और उसके राजनीतिक संस्कार

द्वितीय परिच्छेद

जापान और उसके राजनीतिक संस्कार

प्रथम भाग

पुनः स्थापना तथा संघटनान्दोलन

प्रथम परिच्छेद

सं० १९२४, पुनः स्थापना

१. पुनः स्थापनाके पूर्वकी राजनीतिक अवस्था

२. पुनः स्थापना

द्वितीय परिच्छेद

राष्ट्रसङ्घटन सम्बन्धी उद्योगकी प्रथम अवस्था

तृतीय परिच्छेद

सङ्घटनान्दोलनका द्वितीय अभिनय

द्वितीय भाग

सङ्घटनके सिद्धान्तोंपर विचार

प्रथम परिच्छेद

सङ्घटनकी सीमामें सम्राट्

द्वितीय परिच्छेद

मन्त्रिमण्डल और मन्त्रपरिषद्

मन्त्रपरिषद्

तृतीय परिच्छेद

राष्ट्रीय सभा

चतुर्थ परिच्छेद

निर्वाचनपद्धति

पञ्चम परिच्छेद

जापानी प्रजाजनोंके स्वत्व और अधिकार

तृतीय भाग

सङ्घटनकी कार्य-प्रणाली

प्रथम परिच्छेद

सङ्घटनात्मक राज्यसत्ता

द्वितीय परिच्छेद

सरदार सभाकी अधिकार मर्यादा

तृतीय परिच्छेद

मन्त्रिमण्डल और राजनीतिक दल

१. ऐतिहासिक घटना क्रम

हाल की एक घटना

चतुर्थ परिच्छेद

निर्वाचन

जापानके सम्बन्धमें उपयोगी ग्रन्थ

जापानके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान सम्पादन करने के लिए संक्षेपमें पाठकोंके लिये कुछ एक ग्रन्थोंके नाम नीचे दिये जाते हैं।

'जापान' (१२ खण्ड) कप्तान ब्रिंकले कृत।
'जापानी वस्तुएँ' बी. एच. चेम्बरलेन कृत।
'जापानका इतिहास' डब्ल्यू. जी. एस्टन कृत।
[illegible] हार्न कृत।
'नये जापानके पचास वर्ष' (२ खण्ड) काउन्टशिगेनोबु [illegible] कृत, [illegible]
मारकस बी. हूईरा कृत।

घटना क्रम

पुनः स्थापनाके पूर्वका काल

संवत् १६१०-सेनापति पेरिका आगमन (२४ आषाढ़)
किंयोतोके दरबारमें कुगीस् कौन्सिलकी बैठक
जोइतो, और, काईको कूतो, दो दलों (बर्बर
लोगोंका निर्वासक दल और देशका द्वार-उद्घा-
टक दल) का उत्थान।
शोगून इयेयाशीकी मृत्यु और इयेसादाका
शोगून पदपर आना (भाद्रपद)
सेनापति पेरिका लौटना (१ फाल्गुन)
संयुक्तप्रान्त अमरीकासे प्रथम सन्धि (१० चैत्र)
सं० १६११-सरजाम स्टर्लिंगका आगमन, अँग्रेज़ी सरकारसे
सन्धि (२६ आश्विन)
योशीदा और शिबूकी और उनके अध्यापकको
विदेशमें जानेके प्रयत्न करनेपर कैदकी सज़ा।
रूसके साथ सन्धि। (२५ माघ)
सं० १६१२-हालेण्डके साथ सन्धि (१७ माघ)।
सं० १६१३-टानसेन्ड हेरिसनका आगमन (श्रावण)।
सं० १६१४-शोगूनकी हेरिससे भेंट (२१ मार्ग०)।
येदोंमें दाइमियो लोगोंका सम्मेलन (माघ)।
अमरीकाके साथ व्यापार और मेलविषयक सन्धि-
का राजदरबारकी ओरसे इनकार, आइकामोन-
नोकामिकी राष्ट्रमन्त्रि-पदपर नियुक्ति (तायरो)।
सं० १६१५-हेरिसकी सन्धिका परिणाम (१३ श्रावण)।

अंग्रेज सरकार, फ्रांस और रूससे भी उसी प्रकारकी सन्धि।

मितोके दाइमियोके नेतृत्वमें विदेश सम्पर्क और शोगुनाईके विरोधमें प्रबल आन्दोलन।

शोगून इयेसादाकी मृत्यु और इयेमोचीका पदारोहण

सं० १९१६–राष्ट्रमन्त्री आई और विदेशसम्पर्क विरोधी दल।

शोगून विरोधी दलोंका घोर मतभेद।

राष्ट्रमन्त्री आईकी हत्या (फाल्गुन)।

हालैण्ड और प्रशियाकी सन्धिका परिणाम।

सं० १९१७–विदेश सम्पर्क विरोधियोंका अमरीकन राजदूत पस्केनपर दोषारोपण (माघ)।

सं० १९१८–अंग्रेज़ी राजदूतपर आक्रमण (श्रावण)।

प्रथम जापानी राजदूतका रूसमें जाना (माघ)।

१९१९–अंग्रेज़ी राजदूतपर दूसरा आक्रमण (१२ आषाढ़)

रिचर्डसनका दल (आश्विन)

सम्राट्की इच्छाके अनुकूल दाइमियो लोगोंका सम्मेलन, कियोतो राजदर्बारके शोगूनशासनमें हस्तक्षेपका प्रारम्भ।

सं० १९२०–योशिउदलका अमरीकाके व्यापारी, फ्रांसीसी लड़ाऊ जहाज़ और डच् जहाज़पर आक्रमण (आषाढ़ श्रावण)

सेनापति कुपेरका कागाशिमापर आक्रमण (२६ श्रावण)।

जङ्गली लोगोंको देशसे बाहर निकाल देनेके सम्बन्धमें सरकारी आज्ञापत्र।

शोगुन इयेमोचीका कियोतोमें आगमन।

सं० १६२१-शोगून इयेमोचीका कियोतो राजदबारमें दूसरी बार आगमन।

अंग्रेज़, हालेण्ड, फ्रांस और अमरीकाके संयुक्त बेड़ेका शिमानसेकीपर आक्रमण।

सं० १६२२-शोगून सरकार और चोशिउके दाइमियोंमें परस्पर लड़ाई झगड़े।

सर हेरीपारकेसका आगमन।

सं० १६२३-शोगून इयेमोचीकी मृत्यु (आश्विन)।

केकीकी शोगून पदपर नियुक्ति।

हियोगोका सन्धि-बन्दरके रूपमें खुलना।

सम्राट् कोमीका स्वर्गवास।

राजपुत्र मित्सुहीतोका राज्याभिषेक।

सम्राट्को पुनः शासनाधिकार प्रदानके सम्बन्धमें तोसाके दाइमियोका शोगूनके प्रति कथन।

सं० १६२४-शोगूनका त्यागपत्र (२२ आश्विन)।

पुनः स्थापना (२३ कार्तिक)।

मेजीकाल

सं० १८२३-शासनपद्धतिका पुनः सङ्गठन।

सत्सुमा और चोशिऊदल और पइज़ु और कुवान दलोंमें परस्पर युद्ध (माघ)।

विदेशी राष्ट्रोंके प्रति नियत नीतिका प्रारम्भ (फाल्गुन)।

जापानके साथ पत्रव्यवहार करनेमें कोरियाकी आनाकानी।

सम्राट्के साथ सर हेरीपार्कसकी भेंट (चैत्र)

सिद्धान्तपञ्चकका शपथपत्र (१३ चैत्र)।

सं० १९२४-सम्राट्के राजपक्षकी सेनाओं और तोकुगावा दलके पुरुषोंमें झगड़े (श्रावण)।

राजदर्बारका कियोतोसे उठकर तोकियो आना (मार्ग)।

तारोंका प्रबन्ध।

सरकारी गज़टका प्रथम प्रकाशित होना (चैत्र)।

सं० १९२६-कोगिशो सभाकी स्थापना (वैशाख)।

उत्तरीय प्रदेशोंमें द्रोहियोंपर सरकारी सेनाओंका पूर्ण विजय (आषाढ़)।

दाइमियो लोगोंका मध्यस्थ बनना।

सं० १९२७-कोगिशोका अधिवेशन भङ्ग (कार्तिक)।

रेल मार्गोंका निर्माण।

सं० १९२८-ताल्लुकेदारी शासनपद्धतिका अन्त (श्रावण)।

शासनपद्धतिका नवीन सङ्गठन।

एता-अन्त्यजोंका उद्धार।

तलवार लगानेकी प्रथाका अन्त।

सन्धिपर पुनर्विचार करनेके निमित्त इवाकुरा दलका अमरीका और योरोपको प्रस्थान।

सं० १९२९-तोकियो और योकोहामाके बीच रेल मार्गका पूरी तरह बन जाना।

ईसाइयोंके विरुद्ध घोषणाओंकी पुनर्रोपणा

राष्ट्रीयपरिषद्में कोरियाके साथ युद्धके प्रश्नपर वादविवाद (श्रावण)।

इवाकुरा दलका विदेशसे प्रत्यागमन (आश्विन)।

सं० १९३०-सेनामें बलपूर्वक भर्ती करनेकी रीतिका अनुसरण।

प्रेगरीके तिथिपत्रको अपनाना (आषाढ़)।
सङ्कटनात्मक शासनपद्धतिकी स्थापनाके सम्बन्ध-
में किदोका आवेदनपत्र।
कोरियाके प्रश्नपर राष्ट्रसभामें मतभेद (कार्तिक)।
इतागाकी और उसके मित्रोंकी ओरसे आवेदन-
पत्र (४ माघ)।
सागाका बलवा (फाल्गुन)।

सं० १९३१-किदोका त्यागपत्र (वैशाख)।
जहाज़ियोंका फार्मोसाको प्रस्थान (ज्येष्ठ)।
प्रान्तीय शासक सभाओंकी स्थापनाके निमित्त
सम्राट्का आज्ञापत्र (१९ वैशाख)।
ओसाका सम्मेलन।

सं० १९३२-शिष्टसभा (सिनेट) और प्रधान न्यायमन्दिरकी
स्थापनाके लिए सम्राट्का आज्ञापत्र (१ वैशाख)।
प्रन्तीय शासक सभाकी प्रथम बैठक (जून २०)।
नया दमनकारी प्रेस क़ानून (१४ आषाढ़)।
जापानी जङ्गी जहाज़पर कोरियावालोंका आक्रमण
(आश्विन)।
कोरियाके साथ मैत्री और व्यापारके सम्बन्धमें
सन्धि (१४ फाल्गुन)।
राष्ट्रसभासे इतागाकीका त्यागपत्र।

सं० १९३३ कुमामोतो और चोशिऊमें बलवे (कार्तिक)।

सं० १९३४ सात्सुमाके राजद्रोह (३३ वि० के फाल्गुनसे आश्विन
तक) निर्वाचित राष्ट्रीय सभाकी स्थापनाके सम्बन्ध-
में रिशीशाका प्रार्थनापत्र।
कतिपय राजनीतिक दलोंका उत्थान।

किदोका मृत्यु (ज्येष्ठ)।

सं० १६३५ ओकुवाकी हत्या (ज्येष्ठ)।
प्रान्तीय सभाओंकी स्थापना (४ श्रावण)।

सं० १६३६ राष्ट्रसभाकी स्थापनाके लिए ओकायामाके प्रान्ताध्यक्षके समीप जनताका प्रार्थनापत्र (पौष)।
ओसाकामें आइकोकुशा सम्मेलन।
सन्धिपत्रपर पुनर्विचार और राष्ट्रीय सभाकी स्थापनाके लिए किइ आइशाका आवेदनपत्र (माघ)।
ओसाकामें राष्ट्रीय सभाकी स्थापनाके संयुक्त सङ्गठनके लिए राजाज्ञा (चैत्र)।
सभासम्मेलनोंका कानून बनना (२२ चैत्र)।

सं० १६३७ नयी व्यवस्था पुस्तक और फौजदारी कानूनकी पोथीका प्रकाशित होना (श्रावण)।

सं० १६३८ ओकुमाका कार्यक्रम।
होकायदोके कतिपय कारखानोंकी बिक्रीके सम्बन्धमें कुरोदाकी नीति।
मन्त्रिमण्डलमें दलबन्दी (कार्त्तिक)।
सं० १६४७ में राष्ट्रसभा स्थापनाके सम्बन्धमें सम्राटका आज्ञापत्र (कार्त्तिक)।
उदारदलका सङ्गठन (१३ कार्त्तिक)।
पश्चिमीय देशोंमें राजनैतिक सङ्गठनोंके अनुशीलनके निमित्त इतोका योरोपको प्रस्थान (फाल्गुन)।
प्रागतिक दलका सङ्गठन (१ चैत्र)।
शासन पद्धतिमें राजपक्षका उत्थान (४ चैत्र)।

सं० १६३६-इतागाकीकी हत्याका उल्लेख (वैशाख)।

सार्वजनिक सभाओं और सम्मेलनोंके सम्बन्धमें कानूनपर पुनर्विचार (२० ज्येष्ठ)।
'मनुष्यके अधिकार विषयक नवीन स्थापना' नामक डा० कातोके ग्रन्थका प्रकाशन।
रूसोके 'सोशल कन्ट्राट्, का अनुवाद।
इतागाकी और गोतोकी इरिवर्ष यात्रा (मार्ग०)।
उदार और प्रागतिक दलोंमें परस्पर कलह।

सं० १९४०-प्रेस कानून और दमनकारी कानूनपर पुनर्विचार (३ वैशाख)।
इवाकुराकी मृत्यु।
राजनीतिक दलोंमें परस्पर फूट (आश्विन कार्तिक)।
फूकूशिमाका मामला।
इतोका विदेशसे प्रत्यागमन (आश्विन)।

सं० १९४१-ताल्लुके दारोंका पुनरधिकार लाभ।
कावायामाका मामला (आश्विन)।
जापान और चीनके प्रमुख दलोंका कोरियामें कलह (१९३९-१९४१)।
सियोलकी सन्धि।

सं० १९४२-तेन्त्सिनकी सन्धि (५ शाख)।
ओसाकाका मामला (मार्ग०)।
केबिनट पद्धतिका पुनः सङ्गठन (पौष)।
इतोके प्रथम मन्त्रिमण्डलका सङ्गठन।

सं० १९४३-जापानी राष्ट्रके विलायती ढाँचेपर ढालनेका सरकारी संविधान।
सन्धिपर पुनर्विचारके लिए पत्रव्यवहार (ज्येष्ठ

सं० १९५४–सन्धिपर पुनर्विचारके कार्यमें इनोयीकी कार्य-
विफलता।
वैदेशिक विभागके मन्त्री इनोयीका त्यागपत्र
(१३ श्रावण)।
शान्तिरक्षा कानून (१० पौष)।
तोकियोमें भयङ्कर हत्याकाण्ड।
वैदेशिक मामलोंके लिए ओकामाका मन्त्रिपदपर
आगमन (फाल्गुन)।

सं० १९४५–मन्त्रपरिषद्‌की स्थापना (१५ वैशाख)।
कुरोदाका मन्त्रिमण्डल (वैशाख)।
सङ्घटनाका प्रवर्तन (२२ माघ)।
मन्त्रिमण्डलकी स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें इतोका-
सिद्धान्त (फाल्गुन)।
सन्धिपर पुनर्विचार कार्यमें ओकूमाकी विफलता।

सं० १९४६–ओकूमाकी हत्या करनेका उद्योग (कार्तिक
यामागाता मन्त्रिमण्डल (पौष)।

सं० १९४७–दीवानी और व्यापारसम्बन्धी कानून पोथियोंका
निर्माण (वैशाखसे कार्तिकतक)।
प्रथम सार्वजनिक चुनाव (१७ अषाढ़)।
राष्ट्रसभाका प्रथम अधिवेशन (८ मार्ग०से २५
फाल्गुन तक)।

सं० १९४८–मात्सुकाताका प्रथम मन्त्रिमण्डल (ज्येष्ठ)।
राष्ट्रसभाका द्वितीय अधिवेशन (५ मार्ग से १० पौष)
प्रतिनिधि सभाका भङ्ग (फाल्गुन)।
दूसरा सार्वजनिक निर्वाचन।

सं० १९४९–राष्ट्रसभाका तृतीय अधिवेशन (१६ वैशाखसे ३१ ज्येष्ठ)।

निर्वाचनमें सरकारी हस्तक्षेप होनेसे सार्वजनिक सभाका सरकारसे विरोध (३१ वैशाख)।

आयव्यय पत्रपर राष्ट्रसभाकी दोनों परिषदोंके अधिकारके सम्बन्धमें मन्त्रपरिषद्का निर्णय (३१ ज्येष्ठ)।

इतोका द्वितीय मन्त्रिमण्डल (भाद्र)।

राष्ट्रीयदल (कोकुमीघ किओकाई) का विस्काउण्ट शिनागावा द्वारा सङ्गठन।

राष्ट्रसभाका चतुर्थ अधिवेशन (६ मार्ग० से २० फाल्गुन)।

आयव्यय पत्रपर प्रतिनिधि परिषद् और सरकारका विरोध।

प्रभावशाली भाषण (१० माघ)।

राजकीय घोषणाका प्रकाशन (२८ माघ)।

सं० १९५०–राष्ट्रीय सभाका पाँचवा अधिवेशन (१५ पौषतक)।

प्रतिनिधि परिषद् सभापति होशीका पदच्युत करना।

गवर्नमेण्टकी आलोचनामें परिषद्का भाषण (१८ मार्ग०)।

इतोका प्रत्युत्तर (१६ मार्ग)।

मन्त्रपरिषद्का भाषण (६ पौष)।

पी० एण्ड ओ० कम्पनीपर हरजानेका मुकद्मा परिषद्का भङ्ग (१५ पौष)।

तीसरा सार्वजनिक निर्वाचन (चैत्र)

सं० १९५१–राष्ट्रीय सभाका छठा अधिवेशन (२८ वै० १६ ज्येष्ठ)।
परिषद्में सरकारकी कड़ी आलोचना, परिषद्का भङ्ग।
चीन जापान युद्धका प्रारम्भ (श्रावण)।
चतुर्थ सार्वजनिक सम्मेलन (श्रावण)।
हिरोशिमामें राष्ट्रीय सभाके ७ वें अधिवेशनकी आयोजना (२९ आश्विनसे ३ कार्तिक)
अंग्रेजोंसे नयी सन्धिका स्थापन (श्रावण)
राष्ट्रसभाका आठवाँ अधिवेशन (७ पौषसे १० चैत्र)

सं० १९५२–राजकीय व्यवस्था द्वारा शिकारसम्बन्धी कानूनके पुनर्विचारपर वादविवाद।
निर्वाचन सुधार बिल।
चीनके साथ शान्ति सन्धि (आश्विन)।
कियोमेङ्ग प्रायःद्वीपका चीनको लौटा देना (कार्तिक)।
कोरियाके दरबारमें रूस और जापानके प्रमुख दलोंका परस्पर विवाद।
उदार मतवादियोंका सरकारसे कलह।
राष्ट्रसभाका नवाँ अधिवेशन (१० पौषसे १४ चैत्र)।
प्रागतिक दलका अभियोगात्मक आवेदनपत्र (माघ)।

सं० १९५३–रूस और जापानका परस्पर समझौता (ज्येष्ठ)।
मात्सुकाता ओकुमा मन्त्रिमण्डल या द्वितीय मात्सुकाता मन्त्रिमण्डल (आश्विन)।
राष्ट्रीय सभाका १०वाँ अधिवेशन (७पौषसे १०चैत्र)।
मात्सुकाता और ओकुमामें परस्पर संघर्ष

सं० १९५४–ओकुमाका त्यागपत्र (२० कार्तिक)
राष्ट्रसभाका ११वाँ अधिवेशन (६ पौषसे १० पौष)

सरकारपर विश्वास न रहनेके सम्बन्धमें प्रस्ताव।
सभा भङ्ग
मात्सुकाता मन्त्रिमण्डलका पद त्याग।
इतोका तृतीय मन्त्रिमण्डल (२० पौष)।
पाँचवाँ सार्वजनिक निर्वाचन (१ चैत्र)

सं० १९५५–राष्ट्रसभाका १२ वाँ अधिवेशन (३१ वैशाखसे २७ ज्येष्ठतक)।
इतोका निर्वाचन सुधार बिल।
१९४४ वि० का शान्तिरक्षा कानूनका रद्द करना
भौमिक कर वृद्धि कानूनके रद्द करनेपर सभाका भङ्ग (२७ ज्येष्ठ)।
उदार दल और प्रागतिक दलका संघटनात्मक दलसे मिल जाना (६ आश्विन)।
मन्त्रपरिषद्में इतो और यामागाताके बीच विवाद (१० असाढ़)।
संघटनात्मक दलके सदस्योंद्वारा नये मन्त्रिमण्डलका संगठन (१८ आषाढ़)।
छठा सार्वजनिक निर्वाचन।
संघटनात्मक दलका भङ्ग।
ओकुमा-इतागाकी मन्त्रिमण्डलका अधःपात।
द्वितीय यामागाता मन्त्रिमण्डल (२२ कार्तिक)।
राष्ट्रसभाका १३ वाँ अधिवेशन (२१ कार्तिकसे २० फाल्गुन तक)।
यामागाता मन्त्रिमण्डलका पुराने उदार दलसे मैत्री भाव।
भौमिक कर वृद्धि कानूनका पास होना निर्वाचन-

सुधार कानूनपर दोनों परिषदोंमें विवाद, मन्त्रिमण्डल और उदार दलमें परस्पर मैत्रीभावपर कोप।

सं० १६५६–नयी सन्धियाँ करना।
राष्ट्रसभा का १४ वाँ अधिवेशन।
दोषारोपक आवेदन पत्रका प्रतिवाद (२६ मार्ग)।

सं० १६५७–दोनों परिषदोंमें निर्वाचन सुधार 'बिलकी स्वीकृति'।
उदार दलोंका मन्त्रिमण्डलके साथ मैत्रीभङ्ग।
'सेयुकाई' सभाका सङ्गठन (६ भाद्र)।
यामागाता मन्त्रिमण्डल का पद त्याग।
सेयुकाई सभाके सदस्योंका नया मन्त्रिमण्डल या इतोका पाँचवाँ मन्त्रिमण्डल।
पत्र व्यवहारके मन्त्री।
होशीका पद त्याग (६ पौष)।
राष्ट्र सभाका १५ वाँ अधिवेशन (७ पौषसे १० चैत्र तक)।
आयव्यय पत्रपर सरकार और सरदार परिषद् का विवाद।
आयव्यय पत्रके सम्बन्धमें राजकीय निवेदनपत्र।
दुर्व्यवहार कानून की स्वीकृति।

सं० १६५८–सरकारकी आर्थिक नीतिपर सदस्योंका मतभेद (वैशाख)।
केबिनट के मन्त्रियोंका पद त्याग (ज्येष्ठ)।
कत्सूराका प्रथम मन्त्रिमण्डल (१६ ज्येष्ठ)।
होशीका प्राणदान।

राष्ट्र सभाका १६ वाँ अधिवेशन (२१ मार्गसे २६ फाल्गुन)।
अंग्रेज़ सरकारसे सन्धि (१६ माघ)।
सं० १६५६–सातवाँ सार्वजनिक निर्वाचन (भाद्र)।
राष्ट्रकी आर्थिक नीतिके सम्बन्धमें इतो और ओकुमाका परस्पर परामर्श (१७ मार्ग०)।
भौमिक कर वृद्धिके कानूनको रद्दकर देनेपर सभाभङ्ग।
आठवाँ सार्वजनिक निर्वाचन।
सं० १६६०–राष्ट्रीय सभाका १८ वाँ अधिवेशन (२५ वैशाखसे २२ ज्येष्ठ तक)।
दोषारोपक भाषण और उसका प्रत्युत्तर (१३ ज्येष्ठ)
सेयुकाई सभासे इतोका पद त्याग।
राष्ट्रीय सभाका १६ वाँ अधिवेशन (१६ मार्ग० से २४ मार्ग० तक)।
परिषद्की प्रारम्भिक भाषणके समयकी घटना परिषद्का भङ्ग।
रूस जापानका युद्ध प्रारम्भ (२६ माघ)।
६ वाँ साधारण निर्वाचन (चैत्र)।
राष्ट्रीय सभाका बीसवाँ अधिवेशन (४ चैत्रसे १६ चैत्र तक)।
सं० १६६१–राष्ट्रीय सभाका २१ वाँ अधिवेशन (१२ मार्ग० से १८ फाल्गुन तक)।
पोर्टस् माउथकी सन्धि (२० भाद्र०)।
अंग्रेज़ी सरकारसे शान्तिसम्बन्धी नयी सन्धि (२२ श्रावण)।

कोरियासे सन्धि (१ मार्ग०)।

चीनसे सन्धि (७ पौष)।

आगाही कानून।

आगाही कानूनका विरोध (१३ मार्ग०)।

राष्ट्रीय सभाका २२ वाँ अधिवेशन (१० पौषसे १३ चैत्र तक)।

सं० १९६२–कत्सूरा मन्त्रिमण्डलका पदत्याग।

सायोनजी मन्त्रिमण्डल (२४ पौष)।

राष्ट्रीय रेलोंका प्रस्ताव पास।

सं० १९६३–राष्ट्रीय सभाका २३ वाँ अधिवेशन (१० पौषसे १३ चैत्र तक)।

सं० १९६४–फ्रांस और जापानका समझौता (२ आषाढ़)।

रूस जापानका समझौता (३० श्रावण)।

राष्ट्रीय सभाका २४ वाँ अधिवेशन (१० पौषसे १२ चैत्र तक)।

राष्ट्रीय आय व्यय सम्बन्धी सरकारी नीतिपर कैबिनटके सदस्योंसे मतभेद होनेसे आयव्ययके मन्त्रीका पदत्याग (माघ)।

सं० १९६५–१० वाँ सार्वजनिक निर्वाचन (ज्येष्ठ)।

सायोनजी मन्त्रिमण्डलका पदत्याग।

कत्सूराका द्वितीय मन्त्रिमण्डल।

राष्ट्रीय सभाका २५वाँ अधिवेशन(७ पौषसे १०चैत्र)।

सं० १९६६–खांडकी कम्पनीके कारण बदनामी (वैशाख)।

चित्रोंकी सूची।

जापानकी राजनीतिक प्रगति

(संवत् १६२४ से १६६६ तक)

जापान और उसके राजनीतिक संस्कार

किसी देशकी राजनीतिक संस्थाओंका स्वरूप और उनके कार्य्य करनेकी रीतिको ठीक ठीक समझनेके लिये इस बातकी आवश्यकता है कि हम पहले उस देशकी मनोवृत्ति और उसके राजनीतिक संस्कारोंको जान लें। सबसे पहले हमें यह जान लेना चाहिये कि किसी राष्ट्रको बनाना बिगाड़ना उसकी सरकारके हाथमें नहीं होता, प्रत्युत राष्ट्र ही सरकारका विधाता होता है। किसी सरकारका पराक्रमबल तथा शासनकौशल उसके स्वरूप व सङ्गठनपर उतना नहीं निर्भर करता जितना कि सर्वसाधारणके सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक चारित्र्यपर। किसी अंगरेज़के कानोंमें जब यह ध्वनि पड़ती है कि, "ईश्वर महाराजको चिरायु करे" तो उसके हृदयमें कैसे कैसे भाव उत्पन्न होने लगते हैं इसकी भी कल्पना कीजिये। उनके देशकी मनोवृत्ति ही ऐसी है और इसे कोई रोक नहीं सकता। उनकी इसी

भावभक्ति, परम्परागत प्रेम, श्रद्धा और पुराणप्रियताके कारण आजके इंग्लिस्तानमें राजतन्त्र राज्य बना हुआ है और केवल यही नहीं, उसमें वह शक्ति भी विद्यमान है जिससे शासनयन्त्रकी गतिमें कोई बाधा नहीं पड़ने पाती। यद्यपि इस शासनपद्धतिपर कई तर्कविरुद्ध (बेसिरपैरके) आक्षेप किये जाते हैं तौभी उसकी शक्ति देखकर बड़े बड़े फ़राँसिसी राजसत्ताविरोधियोंको दाँतों उंगली दबाकर ही रह जाना पड़ता है। 'बैजट' महाशयने क्या ही सिद्धान्तकी बात कही है कि, "इंग्लिस्तानमें मन्त्रि-मण्डल द्वारा शासन होसकनेका कारण यह है कि अंगरेज़ लोग ही विनयशील होते हैं।"

अतएव जापानकी प्रातिनिधिक संस्थाओंकी गति-प्रगतिका अनुसन्धान करनेके पूर्व यह आवश्यक है कि हम जापानराष्ट्र और जापानराष्ट्रके राजनीतिक संस्कारोंकी संक्षेपमें आलोचना करें।

किसी राष्ट्र या उस राष्ट्रके संस्कारोंका वर्णन करनेमें पहले ही जो सबसे बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है वह वंशनिर्णयकी है। इसलिये पहले ही इस सम्बन्धकी दो चार बातें कह देना हम आवश्यक समझते हैं।

जापानी राष्ट्रके मूल पुरुष कौन थे, इस सम्बन्धमें वंशवेत्ताओंकी एक राय नहीं है। परस्परमें ऐसा मतविरोध है जैसा कि स्वयं मानवजातिके मूलके सम्बन्धमें है। 'राइन' और 'बापल्ज़' प्रभृति विद्वानोंका कहना है कि जापानी लोग विशुद्ध मोगल (मंगोली) वंशके हैं यद्यपि उनमें 'आइनो'[१] जातिका

[१] आइनी या आइनो अर्थात् जापानके आदिम निवासी।

रक्त भी कुछ आया हुआ जान पड़ता है। देहरचनासम्बन्धी बारीक भेदोंका निरीक्षण कर उन्होंने यह सिद्धान्त किया है। परन्तु और दूसरे लोगोंने 'कोजिकी[१]' और 'निहोंगी' नामक प्राचीन जापानी गाथाओंको पढ़कर यह मान लिया है कि 'कोरिनी' (कोरियन), 'चीनी' और 'मालयचीनी' इन तीन जातियोंके सम्मिश्रणसे ही जापानियोंकी उत्पत्ति है। इस सम्बन्धमें एक और मत है और वह बड़ा विचित्र है। कुछ लोगोंपर यह भी एक दृढ़ संस्कार हो गया है कि राजनीतिक कार्य्य करनेकी योग्यता एक आर्य्यवंशवालोंमें ही हो सकती है, औरोंमें नहीं। इसलिये जब उन्होंने देखा कि जापान बड़ी तरक्की कर रहा है तब जापानको भी उन्होंने आर्य्यवंश-वाला मान लिया, क्योंकि ऐसा किये विना उन्हें जापानकी उन्नतिका और कोई कारण ही समझमें न आता था। उन-का यह कहना है कि बहुत प्राचीन समयमें हिन्दुस्थानसे कुछ लोग जापानमें आये होंगे और उन्हींसे वर्तमान जापा-नियोंकी, कमसे कम उनके शासकवर्गकी, उत्पत्ति हुई है।

मनुष्यजातिके मूलका प्रश्न अध्यात्मशास्त्रान्तर्गत 'एक और अनेक' के प्रश्नके समान कभी हल न होगा[२]। जड़ और

---

१. कोजिकी = पुरातन बातोंकी चर्चा। निहोंगी = जापानकी कहानी। जापानकी इतिहाससम्बन्धी सबसे पुरातन पुस्तकें ये ही हैं। कोजिकी संवत् ७६८ और निहोङ्गी संवत् ७७७ में लिखा गया है। इन ग्रन्थोंके वर्णन हमारे पुराणग्रन्थोंसे मिलते जुलते हैं।

२. 'हेकेल' आदि पण्डितोंका यह सिद्धान्त है कि जड़से ही बढ़ते बढ़ते आत्मा व चैतन्य उत्पन्न हुआ है, परन्तु 'कैण्ट' आदि पण्डितोंका कहना यह है कि हमें सृष्टिका जो ज्ञान प्राप्त होता है वह आत्माके एकीकरण-व्यापारका फल है और इसलिये आत्माको सृष्टिसे स्वतन्त्र मानना ही पड़ता है। यह

चैतन्यके रहस्यके सम्बन्धमें अध्यापक 'विलियम जेम्स' कहते हैं, "चाहे जड़से चैतन्य उत्पन्न हुआ हो या चैतन्यसे जड़का आविर्भाव हुआ हो हमारे लिये दोनों बातें बराबर हैं"। जापानियोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें हम भी यही बात कह सकते हैं कि चाहे जापानी तुर्किस्तानसे आये हों चाहे तिब्बत, हिन्दुस्थान, मलयद्वीप, कुशद्वीप, अथवा और कहीं-से आये हों या जापानहीके रहनेवाले हों, जापान राष्ट्रकी प्रगतिमें इससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।

जापान-सम्राट् 'जिम्मू'के नायकत्वमें, जापानने अपने राष्ट्रीय जीवनका बीज बोया था और तबसे इन पच्चीस शताब्दियों-में जापानकी सरकार कभी नहीं बदली। उसी एक सरकारके अधीन रहते हुए जापानियोंने अपनी जाति और देशको अखण्ड रक्खा है। देशभरमें उनकी एक भाषा है, एकसे आचारविचार और एक ही पूर्वपरम्परा है, और एकहीसी रहनसहन है। व्यक्तिगत कितनी ही भिन्नता होनेपर भी उनके विचारों और भावोंमें कुछ एक ऐसी समता व विशेषता है जो उनके राष्ट्रीय जीवनके प्रत्येक कार्य्यमें स्पष्ट दिखायी देती है। उनके देशकी प्राकृतिक रचनामें जैसी निराली ही छटा है वैसे ही उनके जातीय लक्षण एक दम निराले हैं जो जापानियोंमें ही मिलते हैं और जो जापानियों-की खास पहचान हैं।

चीनियों और जापानियोंके बीच बड़ा अन्तर है। यद्यपि दोनोंका रंग एकसा है और कई शताब्दियोंतक दोनोंकी सभ्यता

मानना कि वह सृष्टिसे ही उत्पन्न हुआ है यही माननेके बराबर है कि हम अपने कन्धेपर बैठ सकते हैं।

भी एकहीसी रही है तथापि दोनोंमें इतना शारीरिक और मानसिक भेद है कि शायद उतना युरोपके 'ट्यूटन'[१] और 'लैटिन'[२] जातियोंमें भी नहीं है। कप्तान 'ब्रिंकले' महाशय कहते हैं, "एक बातमें, जापानकी कथा और सब देशोंसे निराली है। उसके राष्ट्रीय जीवनका धाराप्रवाह एकसा चला आता है। उस प्रवाहमें कभी परदेशियोंके आक्रमणसे या विदेशियोंके उस देशमें घुस आनेसे बाधा नहीं पड़ी। यह सही है कि विदेशियोंके प्रभावसे उसके नीतिनियमों और समाज-संस्थाओंमें समय समयपर परिवर्तन हुआ है। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जापानियोंने बाहरसे जो कुछ भी ग्रहण किया है उसपर भी उन्होंने अपने जापानत्व-की छाप लगायी है, और आज पच्चीस शताब्दियोंसे निर्विघ्नता और शान्तिके साथ अपना जीवन-निर्वाह करते हुए उन्होंने अपनी कुछ विशेषताएँ बना ली हैं जो इतनी स्पष्ट हैं कि उनके इतिहासका अध्ययन करनेमें परम्परासे प्राप्त इन लक्षणों-की एक सुसम्बद्ध शृङ्खला स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है।"

आज जो जापानी जाति आप देख रहे हैं वह तत्त्वतः अपने भूतकालीन जीवनका फलस्वरूप है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वह भूतकालीन जीवन जापान देश-की प्राकृतिक स्थितिका ही बहुत कुछ परिणाम है। 'ब्लश्रली' महाशयने कहा ही है कि, "प्रकृतिके सृष्टिकौशलके कारण

---

१. 'ट्यूटन' जातियोंमें 'जर्मनी' 'नारवे' 'स्वीडन' प्रभृति देशोंका अन्तर्भाव होता है।

२. 'लैटिन' कहनेसे 'फ्रांस' 'स्पेन' 'पुर्त्तगाल' और 'इटली' देशोंके लोग समझे जाते हैं।

ही मानवजातियोंमें वैषम्य होता है ”। ‘एमिल बूमी’ महाशयने इसी बातको और भी स्पष्ट करके कहा है कि, “किसी राष्ट्रके सङ्गठनमें सबसे बलवान कारण प्रकृति या निसर्गका ही होता है, यथा देशका स्वरूप, पर्वतों और नदियोंका अवस्थान, भूमि और समुद्रका विस्तार-परिमाण, जलवायुकी शान्त अथवा अशान्त प्रकृति, और फलमूलादिकी प्रचुरता या अभाव आदि बातोंका प्रभाव जातिके बनानेमें सबसे अधिक होता है। ये प्रभाव उतने ही प्राचीन हैं कि जितनी प्राचीन स्वयं मानवजाति है, सहस्रों वर्षोंका सिंहावलोकन कर जाइये, कोई ऐसा समय न मिलेगा जब ये प्रभाव न रहे हों। इनमें कोई परिवर्तन भी नहीं हुआ है, और यदि कोई परिवर्तन हुआ भी है तो वह मनुष्यमें हुआ है, क्योंकि उसपर और भी तो कई बातोंका प्रभाव पड़ गया है। आरम्भमें तो केवल यही प्राकृतिक (नैसर्गिक) बातें थीं जिनका प्रभाव नवसृष्ट प्राणियोंपर पड़ता था और इन्हींका आज वह परिणाम हुआ है जिसे हम असम्भव समझते थे। देशमें जो स्मारकचिह्न दिखायी देते हैं, शिलालेखोंमें धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्रके जो आदेश पाये जाते हैं, लोकसमुदायमें जो संस्कारविधि प्रचलित है, युद्धके जो गान सुनायी देते हैं, वे सब अपनी नैसर्गिक अवस्थाके परिणाम हैं। कुछ कालतक इन्हीं नैसर्गिक बातोंसे ही एक एक जातिका अपने अपने ढंगसे सङ्गठन हुआ और तब जाकर ये जातियाँ इस योग्य हुईं कि प्राकृतिक बातोंको अपनी इच्छाओंके अनुकूल कर लेने लगीं और उनमें यथासाध्य परिवर्तन भी करने लगीं।”

जापानका मानचित्र देखनेसे यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है कि क्योंकर जापान संसारसे अलग और स्वाधीन

रहा। एशियाके महाद्वीपसे समुद्र उसे अलग करता है और इस समुद्रने चारों ओरसे उसकी रक्षा की है, और जब आजकलकी तरहके बड़े बड़े जहाज़ नहीं थे तब जापानमें बाहरसे किसीका आना और जापानसे बाहर किसीका जाना बड़ा ही कठिन था, और इसी कारणसे जापानी जाति अपने देशकी सीमाओंके अन्दर अखण्ड और अभङ्ग बनी रही। इस प्रकार जापानियोंमें जातिभेदसम्बन्धी कोई परस्परभिन्नता या वैर नहीं था कि जिससे उनके समाजका अङ्ग भङ्ग होता, उनपर कोई बाहरी दबाव भी नहीं था और न अपने देशकी रक्षाका कोई बड़ा भारी बोझ ही उनके सिरपर था (जो आजकल सभी राष्ट्रोंको दबा रहा है), और जापानकी ऐसी अनुकूल अवस्था होनेके कारण ही जापानी प्रजाजनोंने मिलकर जापानको एक व्यूहबद्ध राज्य बना दिया है, और जापानसरकार और जापानी प्रजाजन दोनोंही अपने समस्त राष्ट्रकी सुखसमृद्धिका पूरा उद्योग कर सके हैं। कई शताब्दियोंका सिंहावलोकन कर जानेपर भी कहीं परस्पर युद्ध अथवा विवाद होनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता। आपसकी लड़ाइयाँ न होनेहीके कारण जापानकी एकता और अखण्डता बनी रही। हाँ, यह सही है कि विक्रम संवत् १५०० के पूर्व जापानके दरबारियोंके बीच कई बड़ी ही भयङ्कर लड़ाइयाँ हुईं, और १२ वीं शताब्दीसे १६ वीं शताब्दीतक वहाँके बड़े बड़े लश्करी जागीरदारों[१]

---

१. लश्करी जागीरदार या तालुकेदार वे लोग थे जिनके पास बड़ी बड़ी जागीरें और फौजें थीं। ये जापान-सम्राट् मिकादोको मानते जरूर थे; पर अपने अपने स्थानोंमें ये एक प्रकारसे स्वतन्त्र राजा ही बन बैठे थे। इन्हींको

या ताल्लुकेदारोंने आपसमें लड़कर भयङ्कर रक्तपात किया और रक्तकी नदियाँ बहा दीं, पर तौभी यह कुछ ही लोगोंकी आपसकी लड़ाइयाँ थीं। इनमें सारा राष्ट्र सम्मिलित नहीं था, राष्ट्रमें फूट नहीं थी और राष्ट्रकी अखण्ड अभिन्नतामें कोई अतिक्रम नहीं हुआ था।

जापानके सम्पूर्ण इतिहासमें केवल एक बार बाहरी आक्रमणका वर्णन आता है। विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके आरम्भमें चीन और कोरियाको पादाक्रान्त कर चुकनेपर 'कुबला खाँ'[१] ने जापानको भी अपने राज्यमें मिला लेनेकी महत्त्वाकांक्षासे एक बड़ी भारी नौसेना जापानी समुद्रमें भेज दी। इतना बड़ा जङ्गी जहाज़ोंका बेड़ा जापान-समुद्रमें 'एडमिरल रोदसवेन्स्की' को छोड़ और किसीका कभी भी न आया था। परन्तु अंगरेजोंकी खाड़ीमें इस्पहानी 'अर्मदा' नामके रणपोतोंकी जो दुर्गति हुई 'कुशद्वीपके' तटसमीपमें फँसकर, वही दुर्गति 'कुबलाखाँ' की इस नौसेनाकी भी हुई और उसकी सारी आशापर पानी फिर गया।

यह कहनेकी शायद कोई आवश्यकता नहीं कि किसी राष्ट्रके जीवन और उत्थानकी क्रियामें देशकी प्राकृतिक स्थितिका जितना दख़ल होता है उससे उस देशकी

'दामिश्रो' कहा जाता था। संवत् १९२८ में इन दामिश्रोंने अपनी जागीरें सम्राट्को अर्पण कर दीं जिसका वर्णन इस पुस्तकमें आगे चलकर आवेगा।

१. संवत् १७३१ में 'कुबला खाँ' ने जापानपर चढ़ाई करनेके लिये एक तातारी फौज भेजी थी। पर इसे प्राण लेकर भागना पड़ा। तब ७ वर्ष बाद फिर 'कुबला खाँ' ने एक स्थलसेना और नौसेना भी जापानपर भेजी। इसीकी दुर्गतिका जिक्र ऊपर किया गया है। तबसे फिर किसी विदेशीकी हिम्मत नहीं पड़ी कि जापानपर आक्रमण करे।

जलवायुका प्रभाव कुछ कम नहीं होता। 'इस्किमो,' 'नेग्रिलो,' 'नीग्रो'और 'पापुअन' आदि जातिके लोग जिन देशोंमें रहते हैं वहाँ कभी कोई बड़े राष्ट्र नहीं स्थापित हुए, इसका कारण यही है कि उत्तरका भयङ्कर शीत मनुष्यकी शक्तिको बेकाम कर देता है और दक्षिणकी हदसे ज़्यादा गरमी उद्योग करनेमें दिल ही नहीं लगने देती।

जापानके टापुओंका स्थूल स्वरूप सर्पाकार है। इनकी अधिकसे अधिक लम्बाई (४५°.२५ से ३१° अक्षांश और १३०°. ३१ से १४६°. १७ भुजांशके बीचमें) ८४० कोस है और चौड़ाई १०० कोससे कम ही है। स्थान स्थानमें भिन्न भिन्न प्रकारकी जलवायु है, परन्तु यह भिन्नता उतनी नहीं है जितनी कि अक्षांशोंके अन्तरसे होनी चाहिये थी। सागरतट-के देशोंमें यह एक विशेषता पायी जाती है। संसारमें कहीं भी जापानकी जलवायुसे अधिक प्रसन्न करनेवाली जलवायु नहीं है। वहाँका वह नील आकाश, वह सुप्रभ सूर्यप्रकाश, वह उत्साहवर्धक समीर और वह नयनमनोहर सृष्टिसौन्दर्य्य रसिकमात्रको मोह लेनेवाला है। पर जलवायु इतनी समशी-तोष्ण नहीं है, यहां शीत व ग्रीष्मका प्रताप इंग्लिस्तानकी सरदी गरमीसे बहुत अधिक उग्र रहता है, पर इतना नहीं कि मनुष्य-का उत्साह और बल टूट जाय। प्रकृतिसे जापानियोंको भी वही उपदेश मिलता है जो इंग्लिस्तानकी प्रकृतिसे अंगरेजोंको मिलता है—"यदि तुम अपने उद्योगमें ढीले पड़ जाओगे तो तुम्हारा निःसन्देह नाश है; पर यदि कष्टोंकी परवाह न कर उद्योग किये जाओगे, तो सहस्र गुना लाभ उठाओगे।" जापा-नको जिन्होंने देखा है या जापानके विषयमें जिन्होंने ध्यानसे पढ़ा है उन सबकी इस विषयमें एक राय है कि जापानी बड़े

चपल, परिश्रमी और कष्टसहिष्णु होते हैं। आत्मरक्षाकी इच्छाही उन्हें इन गुणोंका अभ्यास करने और इनका विकास करनेपर विवश करती है।

लश्करी जागीरदारों अथवा ताल्लुकेदारोंके शासन-कालमें भी वे 'सामुराई'[१] लोग जो किसी सदुद्योगमें लगे रहना पसन्द नहीं करते थे और जो व्यवसाय, कृषि अथवा और किसी उद्योगधन्धेमें लगकर कष्ट उठाना नहीं जानते थे वे भी पटेके हाथ चलाकर, कुश्ती खेलकर और 'युयुत्सु'-का अभ्यास कर अपने मस्तिष्क और शरीरको सुदृढ़ बनाते थे। जापानियोंमें चपलता, दृढ़प्रतिज्ञता, धीरता, दूरदर्शिता और संयम आदि जो गुण हैं और जिन गुणोंकी बदौलत जापानने 'मञ्चूरिया' में वह पराक्रम कर दिखाया कि संसार देखकर चकित हो गया, जिन गुणोंकी बदौलत जापानियों-ने कठिनसे कठिन राजनीतिक प्रश्नोंको हल करके व्यर्थके विकारयुक्त आन्दोलनोंको किनारे कर देशको सुरक्षित रक्खा, और जिन गुणोंकी बदौलत जापानने स्वर्गवासी मिकादोके समयमें इतनी आश्चर्यकारी उन्नति की है, उन गुणों-की दीक्षा जापानियोंको प्रकृतिसे ही मिली मालूम होती है।

'बुशिदो'[२] 'कनफ्यूशियस'[३] और 'बौद्धमतके' प्रतिपादक

१. जापानमें जो लोग क्षात्रवृत्तिमें परम्परासे जीवन व्यतीत करते हुए चले आते थे अर्थात् जापानके जो क्षत्रिय कहला सकते हैं उन्हे 'सामुराई' कहते थे। सामुराई शब्दमें 'समर' की गन्ध अवश्य ही आती है।

२. सामुराईके क्षात्र धर्मको 'बुशिदो' कहते हैं। इस धर्मकी आज्ञाके अनु-सार प्रत्येक 'बुशी' या क्षत्रियको राजभक्त, विश्वासपात्र, पुरुषार्थी, युद्धकुशल, साधु, सरल, न्यायपरायण, धार्मिक, बातका धनी, विनयशील, शिष्टाचारी, दयावान्, असहाय सहायक और विद्याप्रेमी होना चाहिये। जापानियोंमें इस

कभी कभी यह कह देते हैं[१] कि हमारे धर्म और नीतिग्रन्थोंकी शिक्षासे ही जापानियोंमें ये गुण अवतरित हुए हैं। परन्तु ये लोग इस बातको बिलकुल ही भूल जाते हैं कि मनुष्यकी प्रकृतिपर देशकी प्राकृतिक अवस्थाका क्या प्रभाव पड़ता है। सच तो यह है कि प्रत्येक जातिमें जो कुछ विशेष बातें होती हैं उनका उद्गम निसर्गकी रचनासे ही होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जातीय विशेषताको पुष्ट करनेमें धर्म और नीतिकी शिक्षा बहुत कुछ सहायता देती है और उन प्रवृत्तियोंको भी दुर्बल कर देती है जो कि समाज-

---

धर्मका एक समय इतना प्रचार हो गया था कि बुशी या क्षत्रिय ही सबसे श्रेष्ठ गिना जाता था जैसा कि एक जापानी कहावतसे प्रकट होता है। कहावत यह है कि, "हाना वा साकुरा, हितो वा बुशी—अर्थात् जैसे पुष्पोंमें गुलाब, तैसा ही मनुष्योंमें बुशी।"

२. विक्रम संवत्के ४६४ वर्ष पूर्व चीनमें 'कङ्गफूज' नामका एक बड़ा तत्वदर्शी पण्डित हुआ। इसी कङ्गफूज नामका भ्रष्टरूप कनफूशियस है। कनफूशियसने राजा प्रजाके कल्याण तथा देशोंकी शान्तिपूर्ण उन्नतिकी कामनासे अनेक देशोंमें परिभ्रमण कर अपने उपदेश सुनाये। उसने कई ग्रन्थ भी लिखे जिनका इस समय चीनमें बड़ा आदर है। लोगोंने उसके उपदेशोंको धर्मोपदेशवत् ग्रहण कर लिया और उसको मृत्युके बाद धीरे धीरे इस धर्मका जापानमें भी प्रचार हुआ। इस धर्ममें धर्मकी अपेक्षा राजनीति-का ही अङ्ग विशेष है।

१. संवत् ६०८ में सर्व प्रथम 'कोरिया' के राजा 'कुदारा' ने बौद्ध मूर्तियाँ जापान-सम्राट्को भेंट कीं और इस प्रकार जापानमें बौद्ध धर्म्मका प्रवेश हुआ। आरम्भमें इस मतका बड़ा विरोध हुआ, पर ५० वर्ष बाद 'शोतोकू-तैशी' के शासनकालमें जापानमें बौद्धधर्मकी जड़ जम गयी। शायद यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जापानने इस बौद्धधर्मको अपने सांचेमें ढालकर तब उसको स्वीकार किया था।

की हितविरोधिनी हैं। परन्तु यह जो जातीय विशेषता है वह देशकी नैसर्गिक रचनासे ही आविर्भूत होती है यह बात माननी ही पड़ेगी। जापानियोंमें और भी जो विशिष्ट बातें हैं, यथा लावण्यप्रेम, कारुण्यवृत्ति, निष्कापट्य, तेजस्विता, चञ्चलता, सरलता, अस्थिरता इत्यादि, इनका उद्गम निसर्गसे नहीं तो और कहांसे हुआ है ?

देशकी नैसर्गिक रचनाके सम्बन्धमें एक बातका विचार करना रह गया है और यही सबसे बड़े महत्त्वकी बात है। विचार इस बातका है कि जापानियोंकी आर्थिक अवस्थापर इस नैसर्गिक रचनाका क्या प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक प्राणी-के लिये सबसे मुख्य विचार जीविकाका होता है। जैसी जिस जातिकी आर्थिक अवस्था होती है वैसाही उसका जीवन, वर्द्धन और चरित्रबल होता है।

जापान द्वीपदेश होनेके कारण आक्रमणसे बच सका है; और उसकी नैसर्गिक भूमि, नदी, पर्वतादिकी रचना और सुखद जलवायुके कारण वहाँके विशाल लोकसमुदायका यथेष्ट भरणपोषण भी होता है। जापानमें नाना प्रकारके धान्य और मांसमछलियाँ होती हैं जो केवल वहाँके निवासियोंको भरपेट भोजन देकर बढ़ती हुई जनसंख्याकी उन इच्छाओं-को भी पूर्ण करती हैं जो 'सभ्यता' के साथ बढ़ती जाती हैं। अभी साठ वर्ष ही बीते हैं जब पहले पहल जापानको पाश्चा-त्य देशोंसे सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा और वास्तवमें इस सम्बन्धके पहले भी जापान इतना समृद्ध था कि उसके तीन करोड़ निवासी यथेष्ट अन्न वस्त्र पाते थे और कुशलसे रहते थे। जापानकी आधुनिक प्रगतिका रहस्य यदि समझ-ना हो तो यह बात स्मरण रखनी चाहिये और इसपर सूक्ष्म

विचार करना चाहिये कि सहस्रों वर्षोंसे खाने पीनेके लिये जापानको कभी किसीका मुँह नहीं ताकना पड़ा है। हाँ, अबतक जापानमें कोई ऐसे यन्त्राविष्कारोंका प्रवेश नहीं हुआ था जिनसे युरोपके वाणिज्यजीवनके सदृश यहाँ भी वह सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती। कलकारखानोंसे मुक्त होनेके कारण जापानियोंका रहनसहन बिलकुल सादा ही रहा और जापान प्रतिद्वन्द्वितासे, गलेपर छुरा चलानेवाली चढ़ा-ऊपरीसे स्वतन्त्र रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि जापान-का व्यक्तिगत या राष्ट्रीय धन तो नहीं बढ़ा, पर जापानियोंके सभी पेशे और हैसियतके लोग सन्तुष्ट रहे और युरोपके विशाल नगरोंके गन्दे गलीकूचोंके, दुःखी नरनारियोंके हृदय-विदारक दृश्योंसे देश बचा रहा। संवत् १९२४ तक बड़े बड़े 'चाल' या कटरे नहीं थे, कारखाने नहीं थे, भूखके सताये कङ्काल नहीं थे और ऐसे बच्चे भी नहीं थे जिनको भरपेट खाना न मिलता हो। किसी राष्ट्रकी प्रगति, अखण्डता और एकताके ये ही तो सबसे भयङ्कर शत्रु हैं। 'सन्त जेम्स' की राजसभासे जो पहले राजदूत[1] संवत् १९२० में यहां आये थे, वे लिख गये हैं, "यहांका बाहरी स्वरूप तो यों है कि देशकी सारी सत्ता लश्करी जागीरदारोंके हाथमें है...लश्करी जागीरदार ही सब कुछ हैं और मज़दूर आदि निम्नश्रेणीके लोग कुछ भी नहीं हैं। फिर भी क्या देख पड़ता है कि सर्वत्र शान्ति है, समृद्धि है, चेहरोंपर सन्तोष है, और इतनी उत्तमताके साथ खेतीबारी हो रही है और सर्वत्र इमा-रती लकड़ीका सामान इतना इकट्ठा है कि इंग्लिस्तानमें भी

---

१. सर रदरफर्ड आलकाक।

वह नसीब नहीं। यहांके कानून बहुत कड़े हैं और उनका अमल भी कड़ा होता है पर बिलकुल सीधे और सादे तरीके-से। कोई बखेड़ा नहीं और किसी वकील-मुख़्तारकी भी ज़रूरत नहीं।…और यह भी देखिये कि यहाँका सार्वजनिक आयका अनुमान तीन करोड़ किया गया है और इस सम्पत्तिने इस ज्वालामुखीपर्वतपूर्ण भूमिको नन्दनकानन बना दिया है, यहाँकी जनसंख्या और सम्पत्तिको यहींके देशी उद्योग-धन्धोंने बढ़ा दिया है जिनका कुछ भी सम्बन्ध संसारके और किसी देशसे नहीं है।"

जागीरदारोंके शानसकालमें भी यहाँकी सब सत्ता इंग्लिस्थानके समान कुछ थोड़ेसे जागीरदारों या सरदारोंके हाथमें नहीं चली गयी थी, बहुत प्राचीन कालसे यहाँ थोड़ी थोड़ी भूमि ही रखनेकी प्रथा प्रचलित थी और जापानमें कभी भी पाश्चात्य जगत्के समान जागीरोंके साथ गुलाम नहीं रहा करते थे। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि देशके प्रधान शासक 'शोगून'से जो ज़मीन 'दामिओ' याने सरदारोंको मिलती थी उनपर उनका पूरा राज्य होता था, पर तत्त्वतः दामिओ केवल ज़िले या प्रदेशभरका मुख्य कर्मचारी होता था और वह कभी किसानोंके परम्परागत अधिकारोंमें हस्तक्षेप नहीं करता था।

जापानमें भी जातिभेदकी एक प्रथा प्रचलित थी। जहाँ जहाँ जागीरदार या ताल्लुकेदार-शासनपद्धति होती है वहाँ वहाँ प्रायः ऐसी प्रथा भी दिखायी देती है। उस समय दामिओं और सामुराइयों अर्थात् सरदारों और भूमिरक्षकों[१]

---

१. दामिओंकी जागीरोंकी रक्षा, देखभाल आदि सब प्रबन्ध सामुराई

के बीच और उसी प्रकार भूमिरक्षकों और कृषकोंके बीच भेदकी जो एक दीवार खड़ी थी वह वैसी ही दुर्भेद्य और दुर्गम थी जैसी कि इस समय 'अमरीका' के दक्षिणी राज्योंके 'श्वेत' और 'कृष्ण' वर्णोंके बीचमें है। परन्तु यहाँ यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि दक्षिणी राज्योंका यह भेदभाव वर्णविद्वेष, कुसंस्कार और घृणासे उत्पन्न हुआ है, पर जापानियोंके इस भेदभावका मूल सामाजिक कर्त्तव्योंका विभाग है। इस-लिये इस भेदभावमें द्वेषका कुछ भी लेश नहीं था, यद्यपि जन्मतः किसी जाति विशेषमें गणना होनेके कारण अथवा हैसियत या पेशेके कारण समाज कई विभागोंमें बँट गया था। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि निम्नतम जातिके लोग भी जीवननिर्वाहकी साधारण आवश्यकताओंसे कभी वञ्चित न रहे और न निर्दय 'जीवन सङ्ग्राम' के कारण उन्हें किसी अभा-वका कष्ट ही था, अपने भाग्यसे सम्यक् सन्तुष्ट न होनेपर भी वे इतने हताश कभी न हुए कि समाजका विध्वंस करनेपर उतारू हो जाते। इस शासनपद्धतिके रहते हुए जापानमें निर्धन मनुष्य तो बहुत रहे पर भयङ्कर दरिद्रता कभी नहीं थी। जापान राष्ट्रकी शक्तियोंका जोड़ लगाते हुए इस बात-को भी न भूलना चाहिये। सुप्रजाजननशास्त्र यदि कोई शास्त्र है और उसके पण्डितोंका यह कहना ठीक है कि यूरोपमरीकावासी आदि 'आर्य्य' जातियोंसे जापानी हीन हैं, तो यह भी देख लीजिये कि जापान कितना सुखी है जो उस-की जनसंख्यामें युरोप और अमरीकाके बड़े बड़े शहरोंके

लोग ही किया करते थे। इसलिये इन्हे कहीं भूमिरक्षक, कहीं उपनायक और कहीं कारिन्दे कहा गया है।

गन्दे बाजारोंमें पले हुए वर्णहीन जातियोंके ऐसे लोग स्थान नहीं पा सके हैं।

राष्ट्र या जातिकी जो आत्महत्या होती है, जो प्राणघात और समाजविच्छेद होता है और जिस कारणसे अब पाश्चात्य 'सभ्य' राष्ट्रोंके जनसमाजकी जड़ भीतर ही भीतर खोदी जा रही है उसका कारण आर्थिक विषमावस्था अथवा सम्पत्तिका अन्यायपूर्ण विभाग है, और कुछ नहीं।

यह एक समझनेकी बात है कि जापानियोंके परस्पर बन्धुभावने दरिद्रता और उसके अन्तर्गत दुःखोंसे जापानकी कैसे रक्षा की है। आध्यात्मिक अर्थमें तो सभी देशोंके लोग परस्परमें बन्धुत्वका नाता मानते हैं पर जापानी लोग जातिभेदके रहते हुए भी एक दूसरेको 'दोबो' याने जन्मतः भाई बहन समझते और मानते थे। यहाँ हम एक दो ऐसे उदाहरण देते हैं जिनसे जापानके सामाजिक जीवनका असली हाल क्या था सो मालूम हो जायगा। अध्यापक 'सिमन्स' लिखते हैं, "जब कोई ग्रामवासी बीमार हो जाता है तो उसके 'कूमी'[१] के अन्य लोग यथाशक्ति हर तरहकी सहायता करते हैं और आवश्यकता होती है तो उसका खेत भी जोत बो देते हैं। पर यदि ऐसा करनेमें उन्हें विशेष कष्ट और बोझ मालूम होता है तो वे 'कूमीगाशीरा' या 'नानुशी'[२] की शरण

१. शासनसम्बन्धी सुभीतेके लिये जापानमें पांच पांच परिवारोंका एक एक गुट हुआ करता था। इस परिवारपंचकको जापानी भाषामें 'कूमी' कहते हैं।

२. कुमीके अध्यक्षका नाम 'कुमीगाशीरा' होता था और ग्रामके अध्यक्षको 'नानुशी' कहते थे। जापानी भाषामें ग्रामको 'मूरा' कहते हैं।

लेते हैं। ये महाशय समस्त ग्रामवासियोंको इसकी खबर देते हैं और सब ग्रामवासी मिलकर पीड़ितकी सहायता करते हैं। जब कोई किसान अपना मकान बनाता है या उसकी मरम्मत करता है तो ग्रामके सहवासी मिलकर उसकी सहायता करने आते हैं और बिना कुछ लिये उसका काम कर देते हैं, केवल बढ़ई, संगतराश आदि कारीगरोंको उनका मेहनताना दिया जाता है और बाकी सबको खुराक[1]। यदि किसान बहुतही ग़रीब हुआ तो बढ़ई आदि कारीगरोंको ग्रामनिधिसे ही रोज़ी दी जाती है। आग, महामारी आदिके समय भी इसी निधिसे कार्य्य चलता है। जब किसी दुर्भाग्यवश गरीबोंके मकान गिर जाते हैं और उन्हें रहनेके लिये कोई स्थान नहीं रहता तो वे मन्दिरोंमें जाकर एकाध महीना रह जाते हैं। जब कोई समूचा ग्राम ही जलकर नष्ट हो जाता है तो पड़ोसके ग्राम मदद करने आ जाते हैं और जमीन्दार तथा बड़े बड़े लोग मुफ़्तमें लकड़ी देते हैं।

"यदि कोई अतिथि या प्रवासी मार्गमें बीमार हो जाता था तो प्रायः ग्रामाध्यक्ष उसे अपने गृहपर भेज देते थे और सेवा-शुश्रुषा कराया करते थे। यदि कोई प्रवासी मृतावस्थामें पाया जाता था तो उचित प्रकारसे उसका संस्कार किया जाता था या उसके ग्रामके अध्यक्षको इसकी सूचना दी जाती थी जिसमें मृत मनुष्यके इष्ट-मित्रोंको इस बातका अवसर मिले कि वे उसके शरीरको ले जायँ। यदि मृतव्यक्तिके पास 'निम्ब-त्सुचो' याने जन्मपत्र न हुआ और उसके सम्बन्धियोंका

१. जापानमें यह रिवाज अब भी है।

पता न लगा तो ग्रामनिधिके व्ययसे ही उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की जाती थी।"

अब दूसरा उदाहरण व्यापारी वर्गका लीजिये। व्यापारी जापानी समाजकी निम्नतम श्रेणीमें गिने जाते थे। इनके परिवारोंकी रक्षाके लिये, देखिये, कैसा अच्छा प्रबंन्ध था। 'तोकिओ' (जापानकी राजधानी) और 'ओसाका' इन दो नगरोंके बीच व्यापार करनेवालोंमें परस्परकी सहायताके लिये ऐसा नियम था कि "जब किसी व्यापारीका कोई जहाज़ डूब जाय या चट्टानसे टकराकर चूर हो जाय तो ऐसी अवस्थामें यदि अकेला वही व्यापारी हानि सहले तो उसके पास एक कौड़ी भी न रहे और उसका परिवार अर्थ-कष्टसे नष्ट हो जाय। इसलिये यदि कभी किसी परिवारपर यह सङ्कट पड़े तो सब व्यापारी सम्मिलित होकर हानिका भाग बाँट लें। इसप्रकार प्रतिवर्ष प्रत्येक व्यापारीको कुछ थोड़ासा त्याग करना पड़ेगा पर किसीकी ऐसी हानि न होगी कि फिर उसे सिर उठाना कठिन हो जाय।"

इस प्रकार जब हम जापानकी आर्थिक व्यवस्था और उसके सामाजिक आचारविचार देखते हैं तो प्राचीन जापान एक बड़े भारी परिवारके रूपमें दिखायी देता है। या 'स्पेन्सर' की परिभाषामें यों कहिये कि वहाँ राष्ट्रकानूनकी अपेक्षा परिवारका कानूनही चलता था। अध्यापक 'सिमन्स' लिखते हैं, "पुराने जापानमें समाज आप ही अपना कानून था। उसके शासनसम्बन्धी नियम जनतासे ही आविर्भूत होकर राजातक ऊपरको जाते थे न कि ऊपरसे प्रकट होकर नीचेको आते थे। कई शताब्दियोंके अनुभव और प्रभावसे जो

रिवाज प्रचलित हो गया था वही कानूनकी पोथियोंका काम करता था (अपराधविषयक कानूनको छोड़कर) और अदालतों, न्यायाधीशों और वकील मुख्तारोंका काम पञ्चायत-प्रथासे ही निकलता था। ग्रामसंस्थाओंकी योजना बहुत ही उचित और अच्छी थी और कुछ बन्धनके साथ इन्हें स्थानिक कार्य्यसञ्चालन और शासनमें पूरी स्वाधीनता थी और इन संस्थाओंमें सब प्रकारके लोगोंको प्रतिनिधित्व प्राप्त होता था। इनका शासन जितना सामाजिक या पारिवारिक ढङ्ग-का था, उतना राजनीतिक नहीं, और इनके जो मुखिया होते थे वे परामर्शदाता (सलाहकार) होते थे, न कि हाकिम, और न्याय करनेवाले पञ्च होते थे न कि न्यायाधीश।"

प्राचीन जापानमें समाजकी यह अवस्था होनेके कारण नागरिकोंके कर्तव्यों और अधिकारोंके सम्बन्धमें कोई व्यवस्था नहीं बनी थी और न कानूनकी कोई कड़ाई ही थी। जापानी समाजमें जो उपर्युक्त व्यवस्थाकी कमी पायी जाती है इस-का कारण कुछ लोग सभ्यताकी कमी बताते हैं, पर वा-स्तविक इसका कारण यह है कि जापानियोंमें वह 'व्यक्ति-प्राधान्यवाद' और 'लक्ष्मीका दासत्व' नहीं था जो कि पाश्चात्य सभ्यतामें भरा हुआ है। बहुतसे दीवानी झगड़े तो आपसमें ही समझकर तै कर लिये जाते थे जैसे कि एक परिवारके लोग आपसमें समझ लिया करते हैं। जब कोई दीवानी झगड़ा अदालतमें जाता था तो लोगोंको उतना ही दुःख और घृणा होती थी जितनी कि नवीन समाजमें पतिपत्नीके त्यागके मुकदमेसे होती है। यही कारण है कि जापानमें शासन-सङ्गठनके विरुद्ध कभी कोई घोर विप्लव नहीं

हुआ और धीरे धीरे, पर क्रमके साथ उसकी उन्नतिही होती गयी।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन लोगोंको ऐसी धीमी उन्नतिका अभ्यास था, और जिन्हें कभी निर्दय जीवनसंग्रामका सामना नहीं करना पड़ा था वे ऐसी अद्भुत उन्नति क्योंकर कर सके कि जिसे देखकर संसारको चकित होना पड़ा। जापानके इस अद्भुत प्रगमन और पराक्रमका क्या रहस्य है?—वह प्रगमन और पराक्रम कि संसारके इतिहास-में जिसकी कोई उपमा नहीं है, पश्चिमके बड़े बड़े समझदारोंने स्वप्नमें भी जिसे न देखा और जो भविष्यमें संसारकी विचार-गतिको एक नया ही मार्ग दिखलानेवाला है। क्या वह जाति ही ऐसी पराक्रमी है? कुछ मानवप्रकृतिशास्त्रज्ञ तो अब भी कहते हैं कि जापानी जाति निम्नश्रेणीकी जाति है। तब इस अभिनव जापानके इस इतिहासका क्या रहस्य है? क्या यह बुशिदोका परिणाम है या पूर्वजपूजा, शिन्तोमत, मिकाडोकी मान्यता, कनफूशियस मत, बौद्धधर्म इत्यादिमेंसे कोई उसका कारण हुआ है?

इस उलझनको सुलझानेके लिये बड़े बड़े प्रयत्न हुए हैं। कुछ लोग इसका कारण क्षात्रधर्म (बुशिदो) बतलाते हैं और कुछ लोग पूर्वजपूजन या कनफूशियस मतको इसका श्रेय देते हैं, इस प्रकार अनेकोंके अनेक मत हैं, पर प्रायः सभी ज़ोर देकर यही कहते हैं कि जापानियोंकी धार्मिक शिक्षाका ही यह फल है। निःसन्देह आचार और धर्म-की शिक्षाने जापानके अभ्युदयमें बड़ी भारी सहायता की है। पर क्षात्रधर्मपर कुछ जापानियोंका ही स्वत्व नहीं है, युरोपीय मध्ययुगमें भी जैसाकि अध्यापक 'फ्रीमन'

बतलाते हैं कि यह क्षात्रवृत्ति प्रबल थी, और न मिकादोकी मान्यताही कोई ऐसी विशेषता है जो जापानियोंमें हो और औरोंमें न हो। राजभक्तिकी भावना सर्वत्रही वर्तमान थी, पूर्वजपूजा तो मनुष्यजाति जहाँ जहाँ है वहाँ वहाँ वर्तमान है और स्पेन्सर महोदयने तो इसी पूर्वजपूजाको सारे धर्मसम्प्रदायोंका मूल अनुमान किया है। शिन्तो या पञ्चमहाभूतोंकी उपासना भी जैसा कि अध्यापक ई. बी. टेलर कहते हैं, जापानहीकी कोई विशेपता नहीं है, कनफूशियस मत जैसे जापानमें था, वैसे चीन और कोरियामें भी था, और बौद्धधर्म केवल जापानमें ही नहीं, वरन समस्त दक्षिण एशिया खण्डमें प्रचलित है। अतएव जब यह मान लेते हैं कि ये सब मत या इनमेंसे कोई, अभिनव जापानकी चमत्कृतिजन्य उन्नतिका मूल है तो इसका क्या उत्तर है कि और जिन जिन देशोंपर इन मतोंकी छाप रही उनपर इनका कोई परिणाम नहीं हुआ और अकेले जापानपर ही क्यों हुआ?

जब बेञ्जामिन कोड महाशयने यह समझा कि पाश्चात्य सभ्यताके साथ जो प्रजासत्तावाद संयुक्त हुआ उसका वास्तविक कारण ईसाकी शिक्षा है तो उन्होंने भी यही गलती की और यन्त्र और यन्त्रको चलानेवाली शक्ति दोनोंको एक ही समझ लिया। ईसाई धर्मने निःसन्देह प्रजातन्त्रको बहुत कुछ ऊपर उठाया है पर वह प्रजातन्त्रका जनक नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार जापानियोंकी इस असाधारण उन्नतिका मूल और प्रधान कारण जापानियोंकी आचारशिक्षा और मतोपदेशको बतलाना उनका मिथ्या महत्त्व बढ़ाना है।

मेरे विचारमें इसका मूल कारण अपने राष्ट्रकी स्वाधीनता और अखण्डता बनाये रखनेकी जापानियोंकी हार्दिक चिन्ता

है जिसकी उद्दीपनासे ही जापानियोंने ये सब महान् उद्योग किये हैं। इन उद्योगोंकी महत्ता और प्रगाढ़ताका कारण यह है कि जापानी जाति अभिन्न थी क्योंकि जापानियोंका वंश अभिन्न था, आचारविचार अभिन्न थे, पूर्वपरम्परा और संस्कार अभिन्न थे। यह सब केवल एक बातके कारण सम्भव हुआ, वह यह कि जापान अन्य भूप्रदेशोंसे अलग था, और मुद्दतसे वह स्वतन्त्र और स्वाधीन था।

जब कोई कार्य्य करना होता है तब सबसे पहले उसे करनेका दृढ़ निश्चय होना चाहिये। यह निश्चय चाहे किसी मनोविकारके कारण हुआ हो या विवेकसे हुआ हो, और निश्चय कर चुकनेपर अपनी सारी शक्तियोंको उस उद्योगमें लगा देना होता है। एक जापानी कहावत है, "निश्चयका बल ही फलके अर्धांशसे अधिक लाभ है"। नेपोलियनकी युद्ध-नीति यही थी कि जिस स्थानपर उसका आक्रमण होता था उसमें वह अपनी पूर्ण शक्ति लगा देता था। जापानकी इस असाधारण उन्नतिका कारण कि वह एक बहिर्भूत भूप्रदेश-की दशासे आज संसारकी महाशक्तियोंके बराबर हो गया है, केवल यही हो सकता है कि उसने अपनी सारी शक्ति एकमात्र निर्दिष्ट लक्ष्यकी प्राप्तिमें लगादी अर्थात् उसने अपनी स्वाधीनताकी रक्षाके लिये महाशक्तियोंकी बराबरीको ही अपना लक्ष्य बना लिया।

अस्थिर प्रकृतिवाले पाश्चात्य देशवासियोंमें 'अहंभाव' बड़ाही प्रबल होता है। सबसे अधिक महत्त्व वे इसीको देते हैं। जिस भूमिमें वे रहते हैं उसके सम्बन्धमें उनके मुखसे ऐसेही शब्द सुनायी देते हैं कि, "हम यहाँ आये। हमने जोतकर इस

सामने व्यक्तिप्रेमको कहीं स्थान ही नहीं है[१]। इग्लिस्तान और अमरीकाके युवक यह सुनकर चकित होंगे कि जापानमें लड़केलड़कियोंका जो विवाह होता है उसमें वरकन्याका निर्वाचन उनके अपने मनसे नहीं होता। विवाहका मुख्य उद्देश्य जापानमें यह नहीं है कि प्रेम या कामके वश स्त्रीपुरुषका संयोग हो, प्रत्युत यह है कि आगे वंश चले और घर बना रहे। यौवनकी धधकती हुई आग बुझानेकी अपेक्षा पुत्रोत्पादन अथवा वंशविस्तारको ही प्रायः अधिक महत्त्व दिया जाता था और अब भी दिया जाता है। 'ताईओ' का धर्मशास्त्र[२] बतलाता है कि यदि स्त्री वन्ध्या हो अथवा उसके पुत्र न हो तो उसका पति उसे त्याग सकता है। इसीसे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि जापानमें गृहस्थाश्रम और वंशविस्तारका, समाजशृंखलाकी अखंडताका कितना बड़ा महत्त्व है। इसप्रकार विवाह समाजका एक ऋण है न कि स्त्री और पुरुषका प्रेमसम्बन्ध अर्थात् जापानियोंका सबसे बड़ा गुण 'अनन्य प्रेम' नहीं प्रत्युत प्राचीन यूनानके समान 'स्वदेशसेवाव्रत' है।

अमरीका जैसे देशमें जहाँ कि नानाजातियां एकत्रित हुई हैं, जहाँ इतने स्थानिक प्रभेद हैं और जहाँ व्यक्तिगत

---

१. गृह या घरका महत्त्व जापानमें बहुत बड़ा है। घरको वे एक सनातन संस्था मानते हैं।

२. ताईओका ग्रन्थ ही जापानका प्रथम लिखित धर्मशास्त्र ग्रन्थ है। यह संवत् ७५८ में लिखा गया। इसके उपरान्त और भी कई ग्रन्थ धर्मशास्त्रके बने पर आधार उन सबका यही रहा और इसके वचन अबतक आदरणीय माने जाते हैं।

'अहंभाव' की प्रधानता है वहाँ किसी बहुत बड़े महत्त्वके प्रश्नपर भी सबका एकमत, एकहृदय हो जाना बड़ाही कठिन काम है। अतलान्त सागरकी अमरीकाकी नौसेना प्रशान्त महासागरमें भेजनेकेलिये छ करोड़ रुपयोंकी आवश्यकता पड़नेपर राष्ट्रपति रूज़वेल्टको अधिक ड्रेडनाट[१] जहाजोंको बनानेके पक्षमें सम्मतिसङ्ग्रह करनेके अर्थ कड़ी नीतिका अवलम्बन करना पड़ा था। यह उसी संयुक्तराज्यके लिये आवश्यक हो सकता है जहां यदि कोई राष्ट्रीय कार्य्य करना हो तो सबसे पहले लोगोंको यह समझाना पड़ता है कि इसमें आपका भी स्वार्थ है, क्योंकि वहाँ तो लोग पहले अपना विचार करते हैं, अपना स्वार्थ देख लेते हैं और स्वार्थकी रक्षा करते हुए तब देशकार्य्यमें सम्मति देते हैं। 'मातृभूमि' की भक्तिका विचार उनके अन्तःकरणमें नहीं आता जिससे कि अपने आपको भूलकर देशकार्य्यमें आत्मसमर्पण कर सकें।

पर जापानी लोग, व्यक्तिगत भिन्नता होते हुए भी, एक जातिके अङ्ग हैं और उनका एक ही अन्तःकरण है। पीढ़ी दर पीढ़ी वे एक ही स्थानमें उन्हीं पड़ोसियोंके साथ रहते आये हैं, एक ही भाषा बोलते आते हैं, एक ही साहित्यको पढ़ते आते हैं, उन्हीं देवताओंकी पूजा करते आते हैं और उन्हीं धार्मिक संस्कारोंका पालन करते आते हैं, इसकारण उनके विचार और भाव भी एक ही हैं। जिस देशमें उनका जन्म हुआ, जहाँ उनके बापदादोंकी समाधियाँ हैं, जहाँ उनके इतिहासके स्मृतिचिह्न हैं, वह देश उनके हृदयमें भक्तिके गहरे भाव अवश्यही उत्पन्न करेगा। यह

---

१. बड़े बड़े युद्धपोत ड्रेडनाट (निर्भय)के नामसे प्रसिद्ध हैं।

भक्तिभाव समस्त देशवासियोंकी नस नसमें भरा है और उन्हें स्नेहशृङ्खलामें बांधकर एक कर देता है। इसी भावको कभी कभी 'जापानियोंकी देशभक्ति' कहते हैं। इसकी प्रेरणाशक्ति उतनीही अधिक होती है जितनी कि अखण्डताकी मात्रा इसमें अधिक हो।

जापानी राष्ट्रके विचारोंकी एकताको भलीभाँति समझ लेना जापानी अन्तःकरणहीका काम है। चीनका बड़ा भारी राजनीतिज्ञ 'ली-हङ्ग-चङ्ग' और रूसके बड़े बड़े नीति-निपुण पुरुष भी जापानियोंके अन्तःकरणको न समझ सके और अपने देशोंको लड़ाकर व्यर्थही अपकीर्त्तिके भागी हुए। चीन-जापानयुद्धसे पहले जापानसरकार और प्रतिनिधिसभाके बीच जो मतवैषम्य हुआ था उसीसे ली-हङ्ग-चङ्ग जापानका वास्तविक स्वरूप समझनेमें गलती कर गये। उसी प्रकार जापानी समाचारपत्रों और सर्वसाधारण जापानियोंकी शान्तवृत्तिसे रूसी राजपुरुष भी जापानकी वास्तविक दशा समझनेमें धोखा खा गये। जापानियोंके राष्ट्रीय अस्तित्वपर यदि आपत्ति आती है तो उसे समझनेमें जापानियोंको कुछ भी देर नहीं लगती क्योंकि देशही तो उनकी 'आत्मा' है। किसी विदेशीय राष्ट्रके विरुद्ध उन्हें बारबार सावधानीकी सूचना नहीं देनी पड़ती और न द्वेषमय आन्दोलनही करना पड़ता है। केवल प्रजातन्त्र राज्यपद्धति, दीवानी और फौजदारी कानूनका सुधार, अनिवार्य्य सेनावृत्ति, आधुनिक शास्त्रीय शिक्षा इत्यादिने ही जापानको एशियाकी सबसे उन्नतिशील शक्ति बना दिया है, यह समझना बड़ी भारी भूल है।

द्वितीय परिच्छेद

जापान और उसके राजनीतिक संस्कार

(उत्तरार्द्ध)

संसार जापानको एक शक्तिशाली राष्ट्र मानने लग गया इसका कारण यह है कि जापानियोंने अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको अखण्ड रखनेकी प्रेरणासे प्रेरित होकर अपनी सारी शक्तियोंको एक लक्ष्यपर केन्द्रीभूत किया और व्यक्तिगत स्वार्थोंको राष्ट्रकी सेवामें समर्पित कर दिया। व्यक्तिका सम्पूर्ण आत्मविस्मरण राज्यकी स्वैरशासननीतिका द्योतक होता है। स्वैरशासननीति अथवा यूरोपनिवासी जिसे पूर्वियोंकी प्रजादमनमूलक नीति कहते हैं उसे पुस्तकी विद्याहोंके अनन्यभक्त अच्छा न समझेंगे और कहेंगे कि यह बालयुगका एक अवशेष है अथवा असभ्यताका अवशिष्टांश है जैसे तार्किक लोग ईसाके कब्रसे पुनः ऊपर निकल आनेकी बातका उपहास किया करते हैं।

पर संसारमें शुष्क तार्किकोंकी अपेक्षा सहृदय श्रद्धाशील प्राणियोंकी संख्या ही अधिक है, और जो आधुनिक प्रजासत्ता जनताकी योग्यतासे उसकी संख्यापरही अधिक ज़ोर देती है उसने भी कुछ नरकका स्वर्ग नहीं बना दिया है। यही नहीं किन्तु उसने राज्यकार्यपर रागद्वेष भरे प्राणियोंके अस्थायी भावोंका और भी अधिक प्रभाव डाला है।

व्यक्तिमात्रका प्राधान्य माननेवालोंको चाहे यह कितनी-ही मूर्खतासी मालूम हो पर जापानमें तो अब भी राजा ईश्वरतुल्य माना जाता है, और जापानकी शासन-नीतिमें इसका वैसाही महत्त्व है जैसा कि कुछ धर्मसंप्रदायोंमें चमत्कारों और दन्तकथाओंका है। अतएव जापानकी राजनीति ठीक ठीक समझनेके लिये हमें यह देखना होगा कि जापानके राष्ट्रकार्यपर 'मिकादो-तत्त्व' का (राजभक्तिका) क्या प्रभाव है।

'राजा ईश्वरतुल्य है' इसी मूल सिद्धान्तपर जापानियोंकी राजनीतिरूपी अट्टालिका उठायी गयी थी और उसी-पर अबतक वह स्थित है। जापानके इतिहासमें पहले पहल जो राष्ट्रीय उद्योग आरम्भ हुआ वह धर्मयुक्त राजनीतिक उद्योग था। सूर्यदेवताकी उपासना करना और जापान-सम्राट्को प्रधान पुरोहित मानना शासनकार्यका एक मुख्य भाग था। वस्तुतः उपासनाके लिये जो जापानी शब्द है 'मत्सुरिगोतो' उसका भी अर्थ जापानी भाषामें 'शासन' ही है। जापानके पुराने राजधर्म 'शिन्तो' के विषयमें लिखते हुए डाक्टर अस्टन कहते हैं, "इस मतमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमें अन्य सम्प्रदायोंकी अपेक्षा बहुत ही कम भेद माना जाता है। मिकादो राजा भी थे और साथ साथ धर्माध्यक्ष भी।" इस प्रकार जापानियोंका मूल राजनीतिक संस्कार अध्यापक बर्जेस्के उस सिद्धान्तको पक्का करता है जिसे अध्यापक महाशय सार्वजनिक बतलाते हैं, अर्थात् "कोई भी पक्षपात-रहित राजेतिहासलेखक इस बातको अस्वीकार न करेगा कि राजशासनका प्राचीनतम रूप देवराज्य था अर्थात् 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' यही भाव बद्धमूल था। इसके साथ

ही वह यह भी कहेगा कि राज्यके क्रमविकासको बड़ी बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा है जिन कठिनाइयोंसे छुड़ाकर धर्महीकी शक्तिने उसे पूर्ण विकसित किया है।...विशुद्ध राजनीतिक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे यह बात बहुत ठीक मालूम होती है। राज्यका तात्त्विक मूलही पवित्रता अर्थात् श्रद्धा और आज्ञाकारिता है। इस सिद्धान्तपर जबतक प्रजाका चरित्र संगठित नहीं किया जाता तबतक धर्मशास्त्र या कानूनका राज्य चल ही नहीं सकता।"

तथापि अनेक पाश्चात्य राष्ट्रोंने पोपराज्यका स्वरूप बहुत कालसे छोड़ दिया है। कहीं एकाध जगह उसकी छायामात्र दिखायी देती है। प्लेटोके समयके पूर्व भी राज्यके कई स्वरूप वर्तमान थे। जापानकी यह एक विशेषता है कि वह दृढ़ता और धार्मिकताके साथ अपनी परम्परागत राज्यपद्धतिको चलाये जाता है और अपने पच्चीस शताब्दियोंके जीवनमें नाना प्रकारके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उलटफेर होनेपर भी उसने उस परम्पराको कहींसे भी भङ्ग नहीं किया। शासनपद्धतिमें समय समयपर बहुतसे परिवर्तन हुए पर उसका मूल सिद्धान्त कभी भी परिवर्तित न हुआ। राजनीतिक इतिहासकी यह एक विशेष बात है। यह भाव जापानियोंके हृदयको ऐसा आकर्षित कर लेता है कि कहनेकी बात नहीं। यह सिद्धान्त कितनाही साधारण और बालभावपूर्ण हो, पर यह प्रत्येक जापानीके हृदय और मनपर खुदा हुआ है और उनमें प्रेम, भक्ति और श्रद्धाका स्रोत प्रवाहितकर देनेमें समर्थ होता है।

जापानियोंके हृदयमें यह श्रद्धापूर्ण विश्वास है कि जापानराज मिकादो अपने दैवी पूर्वपरम्परागत अधिकार-

से जापानके अद्वितीय अधिकारी, शासक और मालिक हैं। वास्तवमें, यह उनका 'धर्म' है। डाक्टर ग्रिफिस कहते हैं, "राजभक्तिही जापानियोंकी व्यक्तिगत सचाई और सार्वजनिक योगक्षेमकी नींव है।" जापानियोंके हर एक काममें यह बात स्पष्ट प्रकट होती है। जापानियोंकी नैतिक—(चरित्र) शिक्षाके सम्बन्धमें लिखते हुए सरदार किकूची कहते हैं, "व्यक्तिमात्र-को इस बातकेलिये प्रस्तुत रहना चाहिये कि वह घरके लिये आत्मार्पण करे और देशाधिपतिके लिये अथवा आजकलके भाषाव्यवहारमें सम्राट् और साम्राज्यके लिये अपनेको और अपने घरको भी अर्पण कर दे। यही आदर्शभूत सिद्धान्त है जिसपर आज भी हम अपने सन्तानोंको शिक्षा देनेकी चेष्टा करते हैं।" जापानकी कला, नाटक और साहित्यका मुख्य विषय राजभक्तिका आदर्श ही होता है, न कि युवायुवतीका वह प्रेम जो कि पाश्चात्य कला, नाटक और साहित्यका मुख्य अङ्ग है। जापानियोंके मनमें यह मिकादो-भक्तिका भाव ऐसी दृढ़तासे बैठा हुआ है कि इसे कोई बात दूर नहीं कर सकी है। जापानियोंकी नस नसमें यह भाव भरा हुआ है।

विदेशोंके नाना मतसम्प्रदाय, तत्त्वज्ञान, नीतिसिद्धान्त और राजनीतिके मूलतत्त्व जापानमें उसकी सभ्यताके आरम्भकालसे ही आते गये और उनका बहुत प्रभाव भी पड़ा होगा पर जापानसम्राट्के प्रति लोगोंकी जो पूर्वपरम्परागत श्रद्धा चली आती है उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। कनफूशियसधर्म जापानमें फैल गया था पर उसके सम्प्रदायमें राजभक्तिकी कर्तव्यपूर्ण अधीनता और दीक्षा नहीं थी। बौद्धसम्प्रदायको धर्मसम्प्रदाय बननेके

लिये शिन्तो देवताओंको मानना पड़ा; जब ईसाई धर्म आया तो आरम्भमें बड़ी शीघ्रतासे वह फैलने लगा पर ज्योंहीं महत्त्वाकांक्षी ईसाई पादरियोंने जापानियोंको यह पढ़ाना चाहा कि संसारमें एक ईसाधर्म ही सच्चा है और दूसरा कोई धर्म नहीं, जब उन्होंने जापानियोंको यह बतलाना आरम्भ किया कि तुम्हारे धर्म और नियम सब भ्रष्ट हैं, और जब वे राज्यकी दैवी शक्तिको भी तुच्छ बतलाने लगे त्योंही ईसाई धर्म वहाँसे निकाल बाहर किया गया। पादरी विलियम सेसिल महाशय बहुत ठीक कहते हैं कि जापानमें यदि ईसाई धर्मका प्रचार होगा तो उस ईसाई धर्मकी शकल सूरत बिलकुलही बदल जायगी। उन्नीसवीं शताब्दीके मध्याह्नसे पाश्चात्य जगत्‌के प्रायः सभी सिद्धान्तोंने,—यथा, प्रकृतिके नियम, मनुष्यके अधिकार, व्यक्तिस्वातन्त्र्य, उपयोगितातत्त्व, समाजसत्तावाद, सर्वसाधारणसत्तावाद, प्रतिनिधिसत्तावाद, सङ्गठनात्मक राज्यप्रणाली आदि सभी मतसम्प्रदायोंने जापानपर अपना प्रभाव जमाना आरम्भ किया और उसके राजनीतिक विचारोंपर बहुत कुछ प्रभाव डाला भी, यहाँतक कि बहुत थोड़े समयमें राज्यपद्धति बहुत कुछ उलटपलट गयी; पर तौभी सम्राट्‌के दैवी अधिकार और प्रजाकी राजभक्तिके संस्कारसे नये विचारोंका कुछ भी मेल नहीं हुआ।

पर यह स्पष्ट ही है कि आप हाब्स नामक अंग्रेज दार्शनिकके समान कोई भी किसी राजाके एकतंत्रेण राज्य करनेकी पद्धतिको आदर्श नहीं बना सकता; क्योंकि मनुष्यमात्र अल्पज्ञ और प्रमादयुक्त है और किसी भी मनुष्यके एकतंत्राधिकारके अधीन सबके प्राण और धनके रहनेमें बड़े भारी

सङ्कटकी सम्भावना है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जापानसम्राट्के एकमेवाद्वितीय अधिकारने कभी पाश्चात्य इतिहासके अत्याचारका रूप धारण नहीं किया। अध्यापक नीतोबो महाशय दृढ़ताके साथ कहते हैं, "हमारे यहाँ ऐसे अत्याचारी राजा कभी नहीं हुए जैसे कि पाश्चात्य देशोंमें; और हमारे इतिहासपर ऐसा कलङ्क भी कभी नहीं लगा जैसाकि पाश्चात्य इतिहासपर प्रथम चार्ल्स या सोलहवें लुईकी मृत्युका धब्बा लगा है।"

जापानी लोग अपने हृदय और अन्तःकरणसे मिकादोको अपने परिवारका मुख्य पुरुष मानते और अपनेको उसके परिवारका अङ्ग समझते थे; और राजा प्रजाका यह परस्पर भाव सदा बना रहता था। चाहे सम्राट्का प्रत्यक्ष शासन हो या राजसभा अथवा ज़मींदारवर्गके द्वारा शासन होता हो, सरकार प्रजाजनोंको अपने परिवारजन समझकर कुलपति-के नाते उनका पालन पोषण करना अपना मुख्यधर्म समझती थी। प्रिन्स शोतोकूके व्यवस्थापत्रमें लिखा है, "राजाके कर्मचारी भी प्रजा ही हैं; और कोई कारण नहीं है कि वे अन्य प्रजाजनोंपर जो कि उसी राजाकी प्रजा हैं, अधिक और अनुचित बोझ डालें।"

यदि पुत्र पिताका गुलाम कहा जा सकता है तो हम कहेंगे, जापानी सदासे अपने राजाके गुलाम हैं, और यदि राजनीतिक स्वाधीनता लोकसत्ताके बिना न हो सकती हो जैसा कि कुछ वस्तुनिरपेक्ष राजनीतिसूत्रोंका प्रत्यक्ष और सम्यग्शासनका स्वप्न देखनेवालोंका सिद्धान्त है तो हम कहेंगे कि जापानियोंको राजनीतिक स्वाधीनता कभी नसीब नहीं हुई!

पर इसके साथही यह भी समझ लेना चाहिये कि जापानी चाहे राजनीतिक दृष्टिसे दासत्वमें रहे हों पर अर्थकी दृष्टिसे वे कभी दास या परमुखापेक्षी नहीं रहे। यह भी एक समझनेकी बात है कि जिस जापानके प्रत्येक परिवारमें 'न पितुः परदैवतम्' पिताकी ऐसी महिमा है वहाँ बालकोंपर होने वाली निर्दयताको रोकनेवाली सभा (A Society for the prevention of Cruelty to Children) बनानेकी अबतक कोई आवश्यकता नहीं हुई है और पाश्चात्य संसारमें जहाँ कि पिता अपने पुत्रसे अपनी आज्ञाका पालन नहीं करा सकता और बेटा बापसे बराबरीका हक चाहता है वहाँ ऐसी संस्थाका होना एक महत्कार्य समझा जाता है। यदि अध्यापक रास महाशयका यह कहना ठीक है कि, "समाजको सुसम्बद्ध रखनेवाला गुण आज्ञापालन ही है" तो जापानकी श्रृंखलाबद्ध राजनीतिक प्रगतिका विचार करते हुए, जापानियोंमें राजाके अनन्याधिकार व प्रजापुत्रवात्सल्यकी जो कल्पनाएँ हैं उनका भी विचार किया जाना चाहिये। जापानसम्राट् बिलकुल निःसङ्कोच होकर यह कह सकते हैं कि, "जापान, जापान मैं हूँ।" इसलिये नहीं कि वे अपनी प्रजासे चाहे जो काम करा ले सकते हैं प्रत्युत प्रजा ही अन्तःकरणसे उन्हें इतना मानती है। वस्तुतः वे जापान-साम्राज्यके केन्द्र हैं और स्वयं साम्राज्यस्वरूप हैं। जिस प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'वादी संसारमें सर्वत्र एक सर्वशक्तिमान् परमात्माको ही देख पाते हैं उसी प्रकार जापानी अपने जापानके भूमण्डलमें सम्राट्को ही प्रभु मानते हैं। उन्हींसे सब वस्तुओंका आविर्भाव होता है और उन्हींमें सबका लय भी होता है; जापानकी भूमिपर एक भी पदार्थ ऐसा नहीं जो उनके अधीन न हो। साम्राज्यके कर्त्ताधर्त्ता

विधाता वे ही हैं, दुःख हरनेवाले, कृपा करनेवाले, न्याय करनेवाले और नियम बनानेवाले वे ही हैं—वे जापानी राष्ट्रकी एकताके चिह्नस्वरूप हैं। उनको राजसिंहासनपर बैठानेके लिये जगद्गुरु या धर्माचार्यकी आवश्यकता नहीं पड़ती। साम्राज्यकी सब ऐहिक और पारमार्थिक बातोंमें उन्हींकी बात चलती है; और जापानियोंकी सामाजिक तथा शासनात्मक नीतिका उद्भव उन्हींसे होता है।

जापान सम्राट्की इस कूटस्थ सत्ताको देखकर विदेशियोंको बड़ा ही आश्चर्य होगा। परन्तु जापानमें इसका विरोध करनेवाला कोई कालेन्सो,[१] हक्सले[२] या नीत्शे[३] नहीं पैदा हुआ। आप यह कह सकते हैं कि

---

१. कालेन्सो (जान विलियम)—(जन्म संवत् १८७१, मृत्यु संवत् १९४३) कालेन्सो बड़े भारी गणितज्ञ थे। उनका बनाया हुआ बीजगणित व अङ्कगणित प्रसिद्ध है। ये प्राचीनपरम्पराके विरोधी थे। इन्होंने बाइबिलकी आलोचना करके उसकी धज्जियां उड़ादी हैं।

२. टामस हेनरी हक्सले (जन्म संवत् १८८२, मृत्यु संवत् १९५२)—'मनुष्यकी उत्पत्तिका पता' लगानेवाले चार्ल्स डारविनके मित्र और सुप्रसिद्ध प्राणिविद्या-विशारद। डारविनने मनुष्यकी उत्पत्ति वानरसे बतलायी है और इन्होंने उस पक्षका अकाट्य युक्तियोंसे समर्थन किया है। हक्सलेके शास्त्रीय सिद्धान्तोंके कारण ईसाई धर्मकी जड़ हिल गयी और पादरी इन्हें गालियां देने लगे पर सत्यधर्मके प्रतिपादनमें ये भयको जानते ही न थे।

३. फ्रेडरिक नीत्शे—एक अत्यन्त प्रसिद्ध आधुनिक जर्मन तत्त्ववेत्ता। जन्म संवत् १९०१ में और मृत्यु संवत् १९५७ में। यह अपने जीवनारम्भमें उपनिषदोंके भक्त जर्मन पण्डित शोपेनहारका शिष्य था। यह बड़ा मेधावी व तेजस्वी तत्त्ववेत्ता था। इसने ईसाई धर्मशास्त्रका बेदरदीसे खण्डन किया है और अपने समकालीन तत्त्ववेत्ताओंकी भी बड़ी कड़ी आलोचना की है। यह जातिभेदको मानता था और वर्णाश्रमधर्मके सिद्धान्तपर समाज-सङ्गठन कराना चाहता

जापानी लोग बड़ेही तत्त्वज्ञानशून्य होते हैं! पर यह विश्वास रखिये कि कोई भी समझदार जापानी आपको ऐसा नहीं मिलेगा जो उस भावकी निन्दा करे कि जो उसकी मातृभूमि-सम्बन्धिनी अत्यन्त आह्लादकारिणी कल्पनाओंसे भरा हुआ है, जो भाव उस शान्ति और सुख-समृद्धिके साथ चला आता है जिस शान्ति और सुख-समृद्धिमें उसके पूर्वज रहे और वह स्वयं भी है, और जिस भावको वह अपने राष्ट्रकी एकता, अखण्डता, शक्तिमत्ता और गुरुताका मूल समझता है, चाहे किसी तत्वज्ञानीके लिये उस भावमें कुछ भी तत्त्व न हो।

इसके साथ ही, जापानके राजनीतिक इतिहासके गुणपरिणामकी एक अत्यन्त चित्तवेधक बातका वर्णन अभी बाकी है। जापानसम्राट तत्त्वतः जापानके सर्वस्व होनेपर भी बहुत कालसे अब वे स्वैरशासक नहीं हैं।

बहुत प्राचीन कालसे हो यह रिवाज था कि शासन-सम्बन्धी भिन्नभिन्न कार्य करनेके लिये सम्राट् कुछ विज्ञ पुरुषोंको नियत किया करते थे। विक्रमको सातवीं शताब्दीके मध्यकालमें प्रिन्स शोतोकूने जो व्यवस्थापत्र लिखा था उसमें लिखा है, "शासनसम्बन्धी कार्य करनेवालोंको उनकी योग्यतानुसार कार्य देना चाहिये। जब बुद्धिमान् पुरुष शासनकार्यका भार

था। इसके कुछ विचार बहुतही विचित्र और विचारणीय हैं। यह देशदेशान्तरको जीतकर उन्हें दासत्वमें रखना बुरा नहीं समझता। दीनदुखियोंपर दया करना यह अनुचित समझता है; क्योंकि इसका कहना है कि इससे दुनियामें दीनता बढ़ती है। बल, पराक्रम, पुरुषार्थ, युद्ध, विजय आदिकी सारताके साथ साथ इसने संसारकी असारताका भी उपदेश दिया है। यूरपमें इसके अनेक भक्त हैं।

उठाते हैं तब लोग प्रसन्न होकर शासनकी प्रशंसा करते हैं; पर जब मूर्खोंका दरबार होता है तो देशपर नाना प्रकारके सङ्कट आते हैं। जब योग्य पुरुष शासक होते हैं तब राज्यका प्रबन्ध ठीक होता है, सङ्कटसे समाजकी रक्षा होती है और देश सुखी और समृद्ध होता है।" इस प्रकार समय पाकर इन निर्वाचित अधिकारियों अथवा अमात्योंके हाथ शासनकी सब सत्ता आ गयी। जापानसम्राट् वस्तुतः इंग्लैंडके मर्यादाबद्ध राजाके समान राज्यके नाममात्रावशिष्ट मुख्य सत्ताधारी रहे। इंग्लिस्तानके राजा और इन सम्राटोंमें भेद यह था कि सम्राट् जब चाहते शासनके सब सूत्र अपने हाथमें ले सकते थे क्योंकि उनकी सत्ताको मर्यादित करनेवाला कोई भी कानून या शास्त्र नहीं था; परन्तु इस प्रकारसे राजसत्ता अपने हाथमें ले लेनेवाले सम्राट् बहुत ही कम हुए। जापानसम्राट् प्रायः अपनी राजसभाके अन्तःपुरमें ही रहा करते थे और बाहर बहुत ही कम प्रकट होते थे।

प्रत्यक्ष शासनकार्यसे सम्राट्का वियोग होनेके कारण शासनपद्धतिमें समय समयपर उचित परिवर्तन हो सकता था यद्यपि हमारे "सम्राट्के एकतन्त्राधिकार" की अलंघ्य मर्यादा सदा ही बनी रहती थी।

राजसिंहासनके समान जब अमात्यपद भी वंशपरम्पराधिकारगत हो गया तो उनके अधीनस्थ कर्मचारियोंके पद भी साथ साथ वंशपरम्परागत हो गये। तब सम्राट्के समान अमात्य परम्परया नाममात्रके अमात्य रह गये और राजसत्ताके सब सूत्र उनके अधीनस्थ कर्मचारियोंके हाथमें चले गये। जापानके राजनीतिक इतिहासकी यह एक आश्चर्यजनक बात है कि

जापानियोंको वास्तविक सत्ता और विषयभोग उतना नहीं भाता था जितना कि बड़े बड़े पद, पदवियाँ और प्रतिष्ठा।

जैसे आजकल एक दलसे दूसरे दलके हाथमें राजसत्ता चली जाती है वैसे ही जापानमें वारंवार एकके हाथसे दूसरे-के हाथमें राजसत्ता चली जाती थी। खृस्तीय मध्य युगमें इसीने जापानी जागीरदारोंकी सत्ताका मार्ग निष्कण्टक किया।

वंशपरम्परासे बहुत समयतक शासनसम्बन्धी उच्चपदों-पर रहनेके कारण जब दरबारके सरदार लोग नितान्त अक-र्मण्य और विलासी हो गये तब १२ वीं शताब्दीके अन्तिम कालसे सैनिकवर्गने सिर उठाना आरम्भ किया और राज्यके सब सूत्र अपने हाथमें लेकर सम्राट्की अनुमतिसे सैनिकवर्ग या लश्करी जागीरदारोंका शासनाधिकार संस्थापित कर दिया, अर्थात् सैनिकवर्गके शासनका स्थापन होना क्या था, दरबारियोंके हाथसे निकलकर राजसत्ताका सैनिकवर्गके हाथमें आ जाना—शासनका एक परिवर्तनमात्र—था। शा-सकवर्ग बदल गया जिससे शासनका रूप उतना परिवर्तित हुआ, पर शासनचक्रमें वास्तविक परिवर्तन कुछ भी न हुआ—शोगून[1] महाराजका सम्राट्से वैसाही सम्बन्ध रहता था जैसा कि क्वाम्बाकू[2] महाराजके समयमें था। दाइमियो

---

१ सैनिकवर्गके हाथमें जब शासनसत्ता आ गयी तब इस वर्गका मुखिया अर्थात् राज्यका मुख्य सूत्रधार शोगून कहलाता था।

२ क्वाम्बाकू जापानके प्रधान मंत्रीको कहते थे। जापानमें बहुत काल-तक यह रिवाज था कि फूजीवारा नामक कुल-विशेषसे ही प्रधान मंत्री चुने जाते थे। इसलिये यह पद और नाम एक प्रकारसे खान्दानी हो गया था।

अर्थात् लश्करी जागीरदार वास्तवमें अपने अपने प्रदेशके सैनिकशासक थे, इंग्लिस्तानके लश्करी जागीरदारोंके समान अंधेर-नगरीके चौपट राजा नहीं थे—उन्हें अपनी शासनगत भूमिके भोगाधिकारमें हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं था। और, शोगून महाराज या दाइमियो लोगोंने कभी मनमानी कार्यवाही भी नहीं की। उनके शासनाधिकार उनके मन्त्रियों और परामर्शियोंको सौंपे रहते थे जिन्हें ये लोग परस्परसम्बद्ध उत्तरदायित्वके नामपर निबाहा करते थे।[१]

ज़मींदारशासनपद्धतिमें स्थानिक स्वराज्य भी बहुत कुछ

१ जापानियोंके इतिहाससे इस बातकी शिक्षा मिलती है कि उस राष्ट्रकी प्रकृतिमें ही प्रातिनिधिकताका तत्त्व छिपा हुआ है। इस बातको बहुत काल व्यतीत हो गया कि जापानी सम्राट्ने अपना स्वैरशासन परित्याग कर दिया और उस अद्वितीय अधिकारका भी कभी उपयोग न किया जिसमें मुख्य मुख्य प्रजाजनोंको राय लेनेका भी कोई काम नहीं था। साम्राज्यके बड़े बड़े पद कुछ वशोंके परम्परागत अधिकृत स्थान हो गये और समय पाकर यह वंशगत अधिकार वंशसमूह या बिरादरी विशेषके हाथमें आ गया अर्थात् शासनसत्ताके सूत्र कुछ लोगोंके ही हाथमें नहीं थे प्रत्युत कई समुदायोंके हाथमें थे। इसी क्रमसे,कालके प्रभावसे ताल्लुकेदारोंके हाथमें सब सत्ता आ गयी। इन ताल्लुकेदारोंके अधिपति शोगून कहलाते थे। इन ताल्लुकेदारोंके शासनकालमें भी एक तंत्रसे राज्य करनेकी पद्धतिका कुछ भी नाम निशान नहीं मिलता। जैसे सब सत्ताके नाममात्रके मालिक शोगून थे और उनकी यह सत्ता वास्तवमें उनके मन्त्रियों और परामर्शियोंमें बट गयी थी उसी प्रकार प्रत्येक प्रदेशके शासकका अधिकार भी उसके अधीनस्थ कर्मचारियोंमें बटा हुआ था।

—कप्तान ब्रिंक्ले कृत 'चीन और जापान'
चतुर्थ भाग, पृष्ठ २१६, २२०-

था अर्थात् यों तो यह एक परस्परविरोधी बात मालूम होगी पर सच पूछिये तो शोगूनकी शासनसत्ता बिलकुल बट गयी थी। इन बातोंको यदि ध्यानमें रखें तो संवत् १६२४ की पुनः स्थापनासे जो बड़े बड़े सुधार और परिवर्तन एकाएक दृष्टिगोचर होने लगे उनका रहस्य बहुत जल्दी समझमें आजायगा।

यह सुनकर पाठकोंको आश्चर्य होगा परन्तु यह सच है कि इस विचित्र अल्पजनसत्तात्मक शासनपद्धतिमें कुछ ऐसा लचीलापन था कि इसने दो परस्परविरोधी राजनीतिक संस्थाओंको अर्थात् स्वैरतम और प्रजातन्त्र दोनोंको एक कर लिया था। इधर तो नाममात्रके एकमात्र सत्ताधारी सम्राट्को कार्यक्षेत्रसे हटा कर इसने शासनसत्ताको राजसभाके सरदारों और ताल्लुकेदारोंके हाथ सौंप दिया अर्थात् सर्वसाधारणतक यह सभा क्रमसे पहुँच गयी, और उधर सम्राट्की गुरुगम्भीर महिमाको भी यथाविधि सुरक्षित रक्खा।

जिन सरदारों और ताल्लुकेदारोंके सिरपर उनके कार्यकी देखभाल करनेवाली कोई दैवी शक्ति नहीं थी उनके हाथमें जब साम्राज्यके शासनसूत्र आगये तो उनकी स्वेच्छाचारकी प्रवृत्ति रोकने और शासनकार्यपर लोकमतका प्रभाव डालनेवाली तीन बातें हुईं। एक तो यह कि, इनकी चाहे कितनी ही प्रतिष्ठा या प्रभाव हो ये तत्त्वतः सम्राट्के सामने उत्तरदायी हैं, और सम्राट् नाममात्रके क्यों न हो, वस्तुतः सत्ताधीश हैं और उन्हें यह अधिकार है कि वे जिसको चाहें रखें, चाहें जिसे निकाल दें। दूसरी बात यह कि इनमें आपसमें ही कुछ ऐसी ईर्ष्या रहा करती थी कि आपसके इस द्वेषसे

उनका स्वैरशासन नियंत्रित हो जाता था; तीसरी बात यह कि यदि ये कुछ प्रमाद कर जाते या दुर्बलता प्रकट करते तो सर्वसाधारणमें इनकी निन्दा होती थी। ये जो तीन प्रतिबन्ध थे और इनके साथ ही प्रजासम्बन्धी वात्सल्यभाव और कर्तव्यजागृति इनमें होती थी इससे शासकोंकी स्वेच्छाचारिताका बहुत कुछ प्रतिकार हो जाता था और उनका शासन आडम्बरमें तो उतना नहीं पर वास्तवमें प्रजातंत्र-मूलक होता था—अर्थात् वह शासन सर्वसाधारणकी ध्वनिका प्रतिध्वनि या बिम्बका प्रतिबिम्ब होता था।

इसके साथ ही सम्राट्की प्रत्यक्ष शासनसत्ता छिन जानेसे जो हानि सम्राट्की हुई हो वह उनकी उस प्रतिष्ठाके सामने बहुत ही कम है जो प्रतिष्ठा कि उन्हें इस शासनपद्धतिसे प्राप्त हुई है।

प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्रसे हट जानेके कारण सम्राट् सर्वसाधारणकी निन्दा और भर्त्सनासे बचगये। सरकार कुछ भी भूल या प्रमाद करे उसका दोष मन्त्रियोंके सिर मढ़ा जाता है और यह एक मानी हुई बात हो गयी है कि, 'सम्राट् अपनी प्रजाके प्रति कोई अन्याय कर ही नहीं सकता।' इस प्रकार उनका पवित्रीकरण हुआ; उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी, और जापानियोंके मनमें उनके प्रति ऐसी भक्ति और श्रद्धा जमी कि वे 'एक अलौलिक पवित्रात्मा' समझे जाने लगे।

संसारके इतिहासकी आलोचना करनेसे पता लगता है कि राजा और प्रजा, या शासक और शासितमें जो लड़ाई झगड़े हुए हैं उनका कारण प्रायः करसंग्रह ही है। यह एक आर्थिक प्रश्न है—जीविकानिर्वाह और आत्मरक्षाका प्रश्न है और यही मनुष्योंको उद्दीपित कर उनसे राजनीतिक सिद्धान्तों

और तत्त्वोंका आविष्कार कराता है और ये तत्त्व और सिद्धान्त ऐसे होते हैं कि जिनसे अपने और अपने साथियोंका दावा मज़बूत हो और विरोधियोंका कमज़ोर हो जाय। 'जनवाणी ही जनार्दनकी वाणी है' यह सूत्र भी एक अत्याचारी और सत्यानाशी राजसत्तापर वार करनेवाले शस्त्रका काम देनेके लिये निकाला गया था। इंग्लिस्तानमें मैग्नाचार्टा,[1] पिटीशन आव् राइट्स[2] और बिल आव् राइट्स[3] आदि कर-

---

१. संवत् १२७२ में इंग्लिस्तानके सब सरदारोंने मिलकर किङ्ग जानसे एक सनद लिखा ली जो स्वाधीनताकी सनद समझी जाती है जिसे मैग्ना चार्टा कहते हैं। इस सनदके अनुसार (१) कौन्सिलकी सलाहके बिना प्रजापर कर लगाना बन्द हुआ, (२) प्रत्येक मनुष्यको यथासमय न्याय दिलानेका प्रबन्ध हुआ, (३) यह भी तै हुआ कि बिना कानून, बिना विचार कोई आदमी कैद न किया जायगा। इन प्रधान शर्तोंके अतिरिक्त और भी कई छोटी मोटी शर्तें इसमें थीं। इस सनदसे इंग्लिस्तानके राजाको सत्ता बहुत कुछ मर्यादित हुई।

२. संवत् १६८५ में इंग्लिस्तानके राजा प्रथम चार्ल्सके समयमें जब प्रजापर मनमाने कर लगाये जाने लगे, लोग पकड़ कर बन्द किये जाने लगे, सेनाका उपयोग खानगी कामोंमें किया जाने लगा और साधारण नागरिकोंपर भी फौजी कानूनका अमल जारी हुआ तब पार्लमेण्टने इन सब बातोंकी शिकायतका एक पत्र राजाको दिया। उसीको 'पिटीशन आव् राइट्स' या 'अधिकार-रक्षाका प्रार्थना' कहते हैं। राजाने इन सब शिकायतोंको दूर करनेकी प्रतिज्ञा की तब पार्लमेण्टका काम आगे चला।

३. इंग्लिस्तानकी राजगद्दीपर विलियम और मेरीको बैठानेके पहिले उनसे (संवत् १७४५ में) प्रजाने अपने अधिकारोंके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव स्वीकृत कराया। इस प्रस्तावमें यह शर्त थी कि जबतक पार्लमेंट मंजूर न करे तबतक प्रजापर कोई कर न लगाया जाय। ऐसी और भी कई शर्तें थीं। इसी प्रस्तावको 'बिल आव् राइट्स' या 'प्रजाधिकारका प्रस्ताव' कहते हैं। विलियम-मेरी-

सम्बन्धी झगड़ोंहीके फल हैं। वह धनका प्रश्न था–निधि और प्रतिनिधिका प्रश्न था जिसने अमरीकाके संयुक्त राज्योंमें स्वाधीनताकी घोषणा करायी। जिस फ्रेंच राज्यक्रान्तिका यह उद्देश्य था कि देशमें "स्वाधीनता, समता और विश्व-बन्धुता' के सूक्ष्म सिद्धान्तपर देशका प्रत्यक्ष शासन हो उसका भी मूल फ्रांसके सर्वसाधारणका अन्नकष्ट ही था।

प्राचीन जापानमें कभी मैग्नाचार्टा या बिल आव् राइट्स अथवा और कोई राजनीतिक घोषणापत्र निकालकर 'मनुष्योंके अधिकार, स्वाधीनता, समता और न्यायतत्त्व' की दुहाई नहीं देनी पड़ी। प्राचीन जापानकी करसम्बधी कार्यपद्धति ही ऐसी थी कि इन सबकी वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं हुई। डाक्टर सिमन्स लिखते हैं, "बहुतसे देशोंमें कर एक बोझ समझा जाता है, सर्वसाधारणकी कष्टोपार्जित सम्पत्तिकी लूट समझी जाती है; पर जापानके लोग तोकूगावा[१] शासनमें इसे कुछ दूसरीही दृष्टिसे देखते थे।"

जापानके किसानोंको कर कोई बोझ न मालूम होता था प्रत्युत वे इसे राजभक्तिपूर्ण कर्तव्य समझते थे और इसमें उन्हें एक प्रकारका अभिमान बोध होता था। करदान क्या था, एक प्रकारकी भेंट थी जैसाकि 'मित्सुगी मोनो' शब्दसे सूचित होता है। सालमें एक बार सरकारी खलिहानोंमें किसान लोग अपना अपना धान जमा करने आते थे और

के सिंहासनासीन होनेपर यह प्रस्ताव पार्लमेण्टसे पास हुआ और राज-दम्पतिकी सम्मति पाकर कानून बन गया।

१ विक्रमी १७वीं शताब्दीसे लेकर १९२४ के 'पुनरुत्थान' तक ढाई तीन सौ वर्ष जापानकी शासनसत्ता तोकूगावा नामक खान्दानमें परम्परासे चली आती थी।

वहाँ उनके धानकी परीक्षा होती थी। यह अनुमान करना कि इस अवसरपर उनको किसी प्रकारका दुःख होता होगा बिलकुल भूल है। किसानोंके मुखमण्डल खिले हुए दिखायी देते थे और सब अपना अपना धान लेकर परस्पर अहमहमिकाके साथ परीक्षार्थ उपस्थित होते थे—एक प्रकारका मेला लग जाता था, बल्कि वह अवसर मेलेसे भी कुछ अधिक आनन्ददायक होता था।

ऐसी अवस्था थी कि जिसके कारण जापानियोंको अपनी सरकारपर पूरा भरोसा करनेका अभ्यास पड़ गया था। उनकी आर्थिक अवस्था इतनी विपद्ग्रस्त कभी नहीं हुई कि उन्हें यह कहना पड़ता कि 'राज्य सर्वसाधारणका है, सर्वसाधारणद्वारा होना चाहिये और सर्वसाधारणके लिये होना चाहिये।' उनकी यह एक मानी हुई बात थी कि, सरकारही सब कुछ है, इसलिये राज्यकी भलाई बुराई सोचकर उसे देशहितका सब काम उठाना चाहिये और लोगोंको उसकी आज्ञाका पूरा पालन करना चाहिये। यह भाव अब भी जाने बेजाने सर्वसाधारण जापानियोंके मनपर अधिकार किये हुए है। अर्थात् जापानी जाति एक सुनियन्त्रित सेनाके समान है, पर जापानी व्यक्ति (व्यक्तिशः) छितरे हुए सिपाहियोंसे और अधिक कुछ नहीं हैं। जापानी राष्ट्रकी सबसे बड़ी मज़बूती और सबसे बड़ी कमजोरी है तो यही है।

सरकारपर लोगोंके अत्यधिक विश्वास और अवलम्बनसे या महाशय शिमादाके शब्दोंमें सरकारहीकी सर्वशक्तिमत्तासे देशकी प्रगतिमें कुछ सहायता भी होती है और कुछ बाधा भी पड़ती है।

जापानमें कभी कोई भयङ्कर राज्यक्रान्ति नहीं हुई इसका

बहुत कुछ यश जापानियोंको इसी मनोवृत्तिको है। जापानके लोग कुछ कुछ फरांसीसियोंके समान भावुक होते हैं और उनके कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं कि जिनकी प्रेरणासे जापानी उन्मत्त हो जाते हैं जैसा कि संवत् १९३० से १९४६ तकके राजनीतिक आन्दोलनके क्रान्तिकारी अवसरपर देखा गया है, पर राजनीतिके मामलोंमें वे इतने आपेसे बाहर नहीं हो जाते जितनेकी फरांसीसी। सरकारी अफ़सरोंके वे चाहे कितने ही विरोधी क्यों न हो वे सरकारकी अवज्ञा नहीं करते विशेषकर इसलिये कि वह सत्ता सम्राट्‌के नामसे चलती है। और किसी राष्ट्रीय आपत्तिके समय तो वे सचाईके साथ सरकारकी आज्ञाका पालन करते हैं और सरकारके बिलकुल अधीन हो जाते हैं। यही कारण है कि जापानकी अर्वाचीन प्रगति सर्वसाधारणके कार्यसमुच्चयमें—देशके प्रत्येक उद्योगमें विशेषरूपसे प्रकाशमान हो रही है।

यहाँतक तो सहायताकी बात हुई, अब देखिये, बाधा क्या पड़ती है। बड़ी भारी बाधा यह है कि इससे प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासनका यथेष्ट विकाश नहीं होने पाता। जापानके सर्वसाधारण अब भी सरकारको देवतुल्य समझते हैं और सरकारी कर्मचारियोंको श्रेष्ठ मानते हैं, वे अब भी इस बातका अनुभव नहीं कर सकते कि वह सर्वसाधारणकी ही शासनसत्ता है। यही कारण है कि सरकार या सरकारी महकमोंके कार्योंकी स्पष्ट और निर्भीक आलोचना करना (जो कि प्रातिनिधिकशासनका एक प्रधान लक्षण है) अच्छा नहीं समझते। इसका यह फल होता है कि राजकर्मचारी स्वभावतः और बेजाने लोगोंपर हुकुम चलाते हैं और अफसरी करते हैं। महाशय शिमादा बतलाते हैं कि

"प्रतिनिधि-सभा" के प्रायः सभी सभासद कोई काम हो तो प्रायः यह कह देते हैं, "यह काम लोगोंसे न होगा, सरकार ही करेगी तब होगा" या "नगरवासियों या उनकी संस्थाओंसे यह काम होना असम्भव है ; सरकार उनकी मदद करेगी तब हो सकता है"। ऐसी अवस्था होनेके कारण प्रतिनिधि–सभामें आत्मविश्वास नहीं होता न वह कभी कोई महत्त्वका राज्यकार्य अपने हाथमें लेनेका साहस ही करती है। सच बात तो यह है कि यह प्रतिनिधिसभा एक ऐसी सरकारपर अपना सब दारमदार छोड़ देती है कि, जिससे इस सभासे कोई वास्ता नहीं।

पर जापानियोंकी व्यक्तिगत स्वतःकार्यप्रवृत्तिके अभावके कारण देशकी राजनीतिक प्रगतिमें जो बाधाएँ पड़ती हैं वे इस संसारव्यापी प्रतिद्वंद्विताके जमानेमें व्यवसाय-वाणिज्यके क्षेत्रमें बहुतही अखरती हैं।

जापानके इतिहासका सूक्ष्म निरीक्षण करनेवालोंको जापानके युद्धसम्बन्धी और राजनीतिक पराक्रमोंको देखकर उतना आश्चर्य न होगा जितना कि उसकी सामाजिकता देखकर। वास्तवमें यह नृपतिप्रधान राज्य बड़ा ही सामाजिक या साम्यवादी है। व्यवसाय-वाणिज्यमें सरकारको सब काम उठाने और चलाने पड़ते हैं। सरकारको सर्वसाधारणके सामने जिम्मेदार न होकर भी व्यवसायमें उसीको अगुआ होकर सब काम देखना पड़ता है। डाकघर, टेलीफून, तार आदि सब काम सरकार ही करती है ; गैस, बिजली और पानीका प्रबन्ध सरकार या म्युनिसिपलिटीके हाथमें होता है। रेलगाड़ियाँ और कारखाने भी सरकारी हो गये हैं ; तमाकू, नमक, और कपूरका रोज़गार भी सरकारके हो

हाथमें है। ऐसे बङ्क, जहाज़के कारखाने या जहाज़ चलानेवाली कंपनियाँ बहुत ही कम हैं जिन्हें बिना सरकारी मददके लोग चला लेते हैं। जापानियोंकी यह बड़ी पुरानी आदत है कि जबतक सरकार किसी कामको नहीं उठाती या किसी काममें खुद होकर मदद नहीं देती तबतक जापानी हाथपर हाथ रखकर बैठे रहो रह जायँगे। बेरन (अब वाइकाउण्ट) कानीको लिखते हैं, "साम्राज्यकी व्यवस्था या सङ्घटना (CONSTITUTION) प्रकाशित हो गयी और विधिविधान व कानून भी बहुत कुछ ठीक बन गये और अब हमारे साम्राज्यका पूर्ण अस्थिपञ्जर तैयार हो गया है। पर रक्त और मांसकी (अर्थात् आर्थिक सम्पन्नताकी) अभी बहुत कमी है। युद्धोपकरण और शासनसम्बन्धी विधिनिषेधोंका यथेष्ट विकाश होनेपर भी यह बात दृष्टिसे नहीं बच सकती कि हमारे देशकी आर्थिक दशा बहुतही खराब है।"

पाश्चात्य देशोंके अहंवादी या व्यक्तिस्वातंत्र्यवादी लोग अपनी इच्छाके अनुसार जो चाहें कर सकते हैं, जहाँ चाहें जा सकते हैं, परिवारसम्बन्धी कोई कर्त्तव्य उन्हें रोक नहीं सकता, घर-गृहस्थीका कोई ख़याल उन्हें एक जगह ठहरा नहीं सकता; वे जहाँ मौका देखते हैं, जाते हैं और उद्योग करके यथेष्ट अर्थोपार्जन करते हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानमें, एक देशसे दूसरे देशमें चले जाना, वहाँ कोई कारखाना खोल देना या उस स्थानको उपनिवेश बना देना उनके लिये साधारण बात है। इतना जब वे कर लेते हैं तब यदि आवश्यकता पड़ती है तो, कारबारको और बढ़ानेके लिये सरकारसे मदद चाहते हैं। वे सरकारका मुँह देखते बैठे नहीं रहते। सरकारसे मदद मिले तब काम करें यह उनका उसूल नहीं है; वे काम ही इस ढंगसे

करते हैं कि सरकारको विवश होकर मदद देनी ही पड़ती है। सच पूछिये तो यदि किसी पाश्चात्य देशकी सरकारने रेल, तार, टेलीफून या पानी आदिका प्रवन्ध अपने हाथमें ले लिया है तो इसलिये लिया है कि कुछ ही व्यक्तियोंके हाथमें सब देशका धन न चला जाय और आर्थिक विषमताके कष्ट न उत्पन्न हों।

पर जापानमें यह बात नहीं है। जापानके राजनीतिज्ञोंके सामने यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि अमुक व्यक्ति या अमुक कारखाना देशका धन सब खींच रहा है तो इसका क्या उपाय हो। इस समय सरकारके हाथमें जितने कारखाने हैं वे सब प्रायः सरकारके ही आरम्भ किये हुए हैं। और अन्यान्य कारखाने भी जो सरकारने खोले, वे आमदनी वढ़ानेके लिये ही खोले हुए हैं।

जापानके परिवारकल्प समाजका जीवन ही ऐसा रहा है कि जिससे लोगोंमें परस्पर गहरी सहानुभूति हो और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य समाजमें न प्रवेश कर सके। वस्तुतः जापानी समाज-की रचना मनुष्योंके परस्परसम्बन्धपर उठी हुई है न कि व्यक्तगत स्वार्थसिद्धिपर। इस प्रकार जापानियोंमें दिमाग उतना नहीं है जितना कि दिल और जापानी उतने बड़े तार्किक नहीं हैं जितने कि सहजज्ञानी, और धनदौलतकी उतनी कदर वे नहीं करते जितनी कि अपने नाम और मानमर्यादाकी। अर्थात् जापानियोंमें उस हिसाबीपन और समझकी बहुत कमी है कि जिसके बिना रुपया कमानेका काम हो नहीं सकता।

अब यहाँ यह भी देख लेना चाहिये कि पश्चात्य देश-वासी जापानी सभ्यताको क्या समझते हैं और कुछ जापानी

वर्तमान 'पाश्चात्य सभ्यता' को किस दृष्टिसे देखते हैं। सन् १९०९ ई० के मार्च महीनेकी १६वीं तारीखके 'टाइम्स' पत्रमें फ्रान्सिसविलियम फ़ाक्स, सर पर्सी विलियम बण्टिङ्ग और डाक्टर जे. बी. पेटन, इन तीन महाशयोंने मिलकर 'चीनके लिये पाश्चात्य शिक्षा' नामक एक लेख लिखा है। उसमें वे लिखते हैं, "यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि पाश्चात्य विद्या और आचारविचारको शीघ्रताके साथ अपनालेनेकी आवश्यकताको चीन समझने लगा है। वह जापानके दृष्टान्तको कुछ कुछ देख रहा है; पर साथही पश्चिमकी ओर भी अपनी दृष्टि डाल रहा है; और यही तो अवसर है जब हमें अपनी खृस्तीय-धर्ममूलक सभ्यताका प्रचार कर उसको सहायता करनी चाहिये।" और एक जापानी सज्जनने, जो कि इंग्लिस्तान और फ्रान्समें कुछ वर्ष रह चुके थे, मुझसे कहा था कि, "यदि जापानको 'सभ्यतामें' पाश्चात्य देशोंके बड़े बड़े राष्ट्रोंके समकक्ष होना है तो हम लोगोंको अब पक्के दुनियादार (Materialistic) बनना चाहिये और सांसारिक बातोंमें विशेष ध्यान देना चाहिये।" पाश्चात्य देशोंमें देखते हैं कि युवक जब उद्यानमें चहलकदमी करते हैं तो उनका ध्यान उद्यानके कुसुमकुञ्जोंपर उतना नहीं जाता जितना कि सड़कपर चलनेवाली मोटरोंकी ओर दौड़ जाता है और उनके मुंहसे प्रायः यही सुनायी देता है कि वाह क्या बनावट है इस मोटरकी! या, ये कैसे सुन्दर वस्त्र हैं! इत्यादि। पर वेही जापानी हुए तो कहेंगे, 'कैसा सुन्दर फूल है! या 'कैसा अच्छा दृश्य है! अथवा 'सूर्यास्तका दृश्य कैसा मनोहर है!' इत्यादि।

इन कारणोंके अतिरिक्त जिनका कि हम वर्णन कर गये हैं और भी कुछ ऐसे कारण हैं जिनसे जापानकी आर्थिक उन्नति नहीं हो सकी। पुराने जापानमें वैश्य लोग समाजकी सबसे निम्न श्रेणीमें गिने जाते थे और श्रेणीके विचारसे उनके आचारविचार तो बहुतही खराब थे। विक्रमीय १९ वीं शताब्दीके अन्तमें इन्हीं व्यवसायियोंने विदेशियोंसे व्यवसाय करना आरम्भ किया था। इनसे जापानी वैश्योंको जिस अपयशका भागी होना पड़ा और विदेशी व्यवसायियों-का दिल जो उनसे हट गया उससे जापानके व्यवसाय-विस्तारके प्रथमग्रासमें ही मक्षिकापात हुआ। इसके साथही यह भी कह देना चाहिये कि उस समयके जापानी नेताओंमें अर्थविज्ञानके ज्ञानका बड़ा ही अभाव था, विशेषकर सामु-राइयोंके वंशजोंमें जिन्हें बाज़ार दरकी बाततक करनेसे मुँह मोड़नेकी शिक्षा दी गयी थी।

परिणाम इसका यह हुआ कि जापान अब इसके बिना बड़े संकटमें पड़ गया है; क्योंकि उसका राजनीतिक विस्तार जितना बड़ा है उतना अर्थसाधन उसके पास नहीं। पर अब वह बड़ी शीघ्रतासे अपनी काया पलट रहा है। अर्थ-कष्टके कारण लोग धीरे धीरे अपनी प्राचीन परम्पराको छोड़ते जा रहे हैं और व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादी बनते जा रहे हैं। पर ये लोग कहाँतक आगे बढ़ेंगे, कहाँतक राष्ट्रकी अखण्डता और व्यक्तियोंका स्वतंत्रव्यक्तित्व परस्परसङ्घर्षित होगा और कहाँतक ये दोनों साथ साथ रह सकेंगे, यह कोई नहीं बतला सकता। पर हम यह समझते हैं कि, और सब बातें ज्योंकी त्यों रहें तो जिस जातिमें जितनाही अधिक व्यक्ति-भाव या व्यक्तिस्वातन्त्र्य होगा उस जातिकी आर्थिक दशा

भी उतनी ही विषम हो जायगी, पर समूचे देशका उतनी ही अधिक आर्थिक उन्नति भी होगी; और अहंभाव या व्यक्तिभाव जितना ही अधिक होगा, राष्ट्रकी एकता भी उतनी ही दुर्बल होगी, क्योंकि देशका धन बिलकुल बेहिसाब बट जायगा, और परिणाम यह होगा कि, उसी हिसाबसे समाजका अङ्ग भङ्ग होगा।

प्रथम भाग

पुनःस्थापना तथा सङ्कटनान्दोलन

प्रथम परिच्छेद

संवत् १६२४—पुनःस्थापना

१. पुनःस्थापनाके पूर्वकी राजनीतिक अवस्था

संवत् १६२४ में जापानियोंने अन्दोलन करके सम्राट्की वह सत्ता पुनःस्थापित की जो कि परम्परागत पदस्थ राज-कर्मचारियोंकी दुर्नीतिमें पड़कर लुप्तप्राय हो चुकी थी। इस घटनाका सम्पूर्ण रहस्य समझनेके लिये आरम्भमें ही यह बतला देना उचित होगा कि उस समय अर्थात् उस घटनाके पूर्व देशकी दशा क्या थी।

जापानी इतिहास और परम्परागत कथाओंके अनुसार विक्रमीय संवत्के ६०३ वर्ष पहले सम्राट् जिम्मूने जापान-साम्राज्यकी नींव डाली थी। यह सम्राट् स्वयं शासक होनेके साथ साथ सेनाके सेनापति और अपने देशके 'जगद्गुरु' भी थे। ये ही जापान-राजवंशके मूलपुरुष हुए और अबतक इसी राजवंशकी राजगद्दी चली आती है। इस प्रकार बहुत प्राचीन कालसे जापानकी राज्यव्यवस्था राजसत्तामूलक थी।

संवत् १२१३तक सम्राट्[१] ही शासनकार्य करते थे और वही सब शासनसत्ताके केन्द्र थे। पर हाँ, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह शासनकार्य और किसीको सौंपते ही नहीं थे। प्रायः ऐसा होता था कि सम्राट् अपनी राजसभाके सभासदोंको अपने प्रतिनिधि नियत करते थे

---

१ जापानी भाषामें सम्राट्को 'तेनो' या 'मिकादो' कहते हैं।

जो बारी बारीसे राजमन्त्री होकर राजसेवा करते थे और स्वयं सम्राट् एक प्रकारसे एकान्तवास किया करते थे। राजसभाके समस्त सामरिक तथा असामरिक कर्मचारी और प्रदेश प्रदेशान्तरके शासक, राजमन्त्रीकी ही आज्ञासे कार्य करते थे; परन्तु कार्य सम्राट्के लिये होता और सम्राट्के ही नामपर होता था।

संवत् १२०३से १६१६तक जापानमें अन्तःकलहकी आग धधकती रही। इसका यह परिणाम हुआ कि सैनिकवर्ग शासकवर्गके सिरपर सवार हो गया और धीरे धीरे शासनसूत्र भी इसके हाथमें आ गये। १३ वीं शताब्दीके आरम्भमें मिनामीतो-नो-योरितोमो नामका एक सेनापति देशकी अशान्ति दूर करके स्वयं शासक बन बैठा। सम्राट्ने उसे सेई-ई-ताई शोगून अर्थात् सेनानीकी उपाधि दी। सैनिकके लिये इससे बड़ी कोई उपाधि नहीं है। पर योरितोमो पूर्वपरम्पराके विरुद्ध, क्योतोकी राजसभामें न रहा।

उसने वर्तमान योकोहामा नगरके समीप कामाकुरामें अपनी छावनी बनायी। इसे बाकूफू या 'छावनी सरकार'[१] कहते थे। उस समय यह स्थान देशके पूर्व एक कोनेमें था और यहाँ उसका बड़ा दबदबा था और उसकी यहाँ खूब चलती थी।

यद्यपि बारहवीं शताब्दीके अन्तमें सब शासनसूत्र उस तैरा

---

१ योरितोमाके शासनका नाम 'बाकूफू' या 'छावनी सरकार' यों पड़ा कि आरम्भमें वह अपना शासनसम्बन्धी कार्य अपनी फौजी छावनीमें ही बैठकर किया करता था, न कि क्योतोकी राजधानीमें। इसके उपरान्त फिर यह नाम चाहे जिस शोगूनकी सरकारको दिया जाने लगा।

नामक सैनिक घरानेके हाथमें चले आये थे जिस घरानेके अत्याचारपूर्ण शासनको योरितोमोने आगे चलकर नष्ट भ्रष्ट कर दिया, तथापि प्रदेशप्रदेशान्तरके शासक क्योतोकी राजसभासे ही नियुक्त होते थे। योरितोमोके हाथमें जब सत्ता आ गयी तो सम्राट्ने उसे शासकोंकी सहायताके लिये सामरिक कर्मचारी भी नियुक्त करनेकी आज्ञा दी। सामरिक लोग शासकवर्गसे बलिष्ठ तो थे ही, उन्होंने धीरे धीरे शासन-कार्य सब अपने हाथमें ले लिया और शासकोंको छुट्टी दे दी। इस प्रकार योरितोमोके शासनकालमें सैनिकवर्गीय शासनप्रणालीकी नींव जापानमें पड़ी।

संवत् १३६०तक ही कामाकुराकी बाकूफूसरकार रही। जब यह शासन नष्ट हो गया तब उस समयके सम्राट् गो-दायगो और उसके आज्ञाकारी सेनापति नित्ता, कुसुनोकी आदिने ऐसा प्रयत्न आरम्भ किया था कि फिर सम्राट्का प्रत्यक्ष शासन स्थापित हो और शासन-सम्बन्धी जो कुछ कार्य हो, उन्हींकी आज्ञासे हो। पर दो ही वर्ष बाद, आशीकागा तकाऊजी नामके एक बड़े महत्त्वाकांक्षी योद्धाने राज्यके सब अधिकार छीन लिये। यह वही आशीकागा तकाऊजी है जो एक समय सम्राट्का पक्ष लेकर कामाकुरासरकारसे लड़ा था और कामाकुरावालोंको जीतनेपर सम्राट् गोदायगोकेद्वारा जिसका बड़ा सम्मान हुआ था। आशीकागा यह चाहता था कि राज्यकी सत्ता उसको दे दी जाय पर ऐसा हुआ नहीं। तब इससे चिढ़कर उसने राजवंशके ही एक पुरुषको जिसका नाम तोयोहितो था और इतिहासमें जो कोमियो तेन्नोके नामसे प्रसिद्ध है, सम्राट्के नामसे खड़ा कर दिया और उसीसे अपने

लिये शोगूनकी उपाधि धारण कराके क्योतोकी राजसभामें बैठकर राजकाज करने लगा।

ऐसी अवस्थामें सम्राट् गोदायगो अपनी राजभक्त प्रजाओंके साथ क्योतोसे भागे और दक्षिण ओर कुछ दूरीपर योशिनो नामक स्थानमें राज्य करने लगे। इसे दक्षिणी राज्य और उसे उत्तरी राज्य कहते थे।

इस प्रकार जापानमें एकही समयमें दो राजदरबार और दो सम्राट् थे और दोनोंही राजवंशके थे। दक्षिणी राज्यका शासन पूर्वीय प्रान्तोंमें और उत्तरी राज्यका पश्चिमी प्रान्तोंमें होता था। पर अन्तको संवत् १४४९ में दक्षिणके सम्राट्ने शोगून आशीकागासे सन्धि करना स्वीकार कर लिया और उत्तरके सम्राट्के हक़में सम्राट्पदका दावा छोड़ दिया।

आशीकागा खान्दानमें जितने शोगून हुए सबने शासनमें कामाकुरासरकारकी ही नकल की। पर योरितोमोके समान ये क्योतो छोड़कर अन्यत्र अपनी राजधानी नहीं बना सके। ये क्योतो राजधानीमें ही रहते थे और अपना सब काम, अवैध सम्राट्के शासनकालमें भी, सम्राट्हीके नामसे किया करते थे। पर इतना सब होनेपर भी आशिकागाका शासन लाभकारी या लोकप्रिय नहीं हुआ; लोकमत सर्वथा उसके विरुद्ध था, क्योंकि इस खान्दानके मूलपुरुष आशिकागा तकाऊजीने ज़ोर और ज़बर्दस्तीसे यह शासनाधिकार सम्राट्से छीना था।

संवत् १६३० में ओदा नोबूनागाने आशीकागाके अन्तिम शोगूनको शोगूनीसे उतार दिया और इस प्रकार आशीकागाशासनका अन्त हो गया।

ओदा नोबूनागाके लिये शासनशक्ति प्राप्त करना बड़ाही दुर्घट हो गया। आशीकागाके अन्तिम शासनकालमें देशमें चारों ओर अराजकता फैल गयी थी, प्रदेशप्रदेशान्तरके सैनिक शासक अपने अपने प्रदेश या ताल्लुकेमें खुदमुख्तार या स्वाधीन हो गये थे और आशीकागाकी मुख्य सरकारके दुर्बल होनेके कारण इन लोगोंने धीरे धीरे उनको सरकार मानना ही छोड़ दिया था, और अपनी जागीरोंकी बाज़ी लगाकर और पराक्रम दिखलाते हुए अपने पड़ोसी ताल्लुकेदारोंसे लड़नेभिड़नेमें इतिकर्तव्यता समझने लगे थे। वास्तवमें, समस्त देश ओरसे छोरतक ताल्लुकेदारोंके अन्तः-कलहसे प्रज्ज्वलित हो उठा था।

बड़ी कठिनाईके बाद जब नोबूनागाको अपना शासन संस्थापित करनेमें सफलता प्राप्त हुई तब उसीके एक सेनापति आकेची मित्सुहिदीने उसके साथ दगा की। यह मित्सुहिदी स्वयंही राज्यका नायक बनना चाहता था और इसकी इस महत्त्वाकांक्षाने नोबूनागाके प्राणोंकी बलि ली।

मित्सुहिदीके हाथ सब शासनसत्ता आ गयी पर तीन दिनसे अधिक यह उसे भोग न सका; नोबूनागाके बड़ेही बुद्धिमान् सेनापतियोंमेंसे एकने, जिसका नाम हाशीबा हिदेयोशी (बादको तोयोतोमी) था और जिसे जापानका नेपोलियन कहते हैं उसे पूरे तौरसे हरा दिया। इसके कुछही काल बाद हिदेयोशीने समस्त ताल्लुकेदारोंको जीतकर देशमें शान्ति स्थापित की। संवत् १६४२ में सम्राट् ओगीमा-चीने उसे शोगूनके बदले काम्बाकूकी उपाधि दी। अबतक यह उपाधि केवल फूजीवारा खान्दानवालोंको ही दी जाती थी और वह भी मुल्की कर्मचारियोंको, फौजी कर्मचारियोंको

नहीं। यद्यपि हिदेयोशीकेही हाथमें देशके सब शासनसूत्र आगये थे और वस्तुतः वही एकमात्र शासक था, तथापि वह सम्राट्की मर्य्यादाको बहुतही मानता था। इस प्रकार वह प्रवीण सेनापति होनेके साथ ही लोकप्रिय शासक भी हुआ।

पर इस खान्दानका (तोयोतोमी वंशका) शासन बहुत समयतक न रहा, ४० वर्षमें ही उसकी समाप्ति हुई, सं० १६५५-में हिदेयोशी मरा; उसका उत्तराधिकारी बिलकुल अनुभवहीन और दुर्बल था। इसका परिणाम यह हुआ कि शक्तिमान् ताल्लुकेदार फिर आपसमें लड़ने लगे। संवत् १६५७ में सेकिगाहारामें पूर्व और पश्चिम दोनों ओरकी सेनाओंमें बड़ा भयङ्कर सामना हुआ और एक बार फिर हारजीतका फैसला हो गया। तोकूगावा इयेयासू पूर्वकी सेनाका सेनापति था। हिदेयोशीका यह अत्यन्त विश्वासपात्र मित्र था और यही उत्तराधिकारीका पालक भी नियुक्त हुआ था। इसने पश्चिमी सेनाको जोकि तोयोतोमी सरकारके विरुद्ध लड़ रही थी, पूरे तौरसे हरा दिया। तबसे तोकूगावा इयेयासूका अधिकार सब लोग मानने लगे। इसके शासनमें शान्ति स्थापित हुई। संवत् १६६० में सम्राट्ने बड़ी उदारतासे उसे सी-ई-ताई शोगूनकी (सेनानीकी) उपाधि प्रदान की जिस उपाधिको उस वंशवाले १९२४की पुनःस्थापनातक भोगते रहे।

हिदेयोशीमें जो सैनिक योग्यता थी वह इयेयासूमें न थी, पर उसमें संगठन और शासनकी योग्यता हिदेयोशीसे अधिक थी। वास्तवमें उसने हिदेयोशीके पराक्रमरूपी वृक्षके फल एकत्र कर लिये और तोकुगावा बाकुफू अर्थात् सरकार स्थापित करनेमें उसे इतनी कठिनाई न उठानी पड़ी। इस सरकारके

अधीन, देश २५० वर्षतक रहा और इस समय पूर्ण शान्ति स्थापित थी। योरितोमोके समान इयेयासू भी शासनकार्य करनेके लिये क्योतोकी राजसभामें उपस्थित न होता था प्रत्युत उसने क्योतोसे कुछ अन्तरपर येदोको (वर्तमान तोकियोका स्थान) अपनी स्थायी राजधानी बनाया।

शासनकार्यका केन्द्र सम्राट्की राजसभासे २०० वर्षसे भी अधिक कालतक पृथक् रहनेके कारण शासनसम्बन्धी साधारण बातोंमें सम्राट्का कुछ भी दखल न रहता था, यद्यपि इयेयासू और उसके वंशवाले भी मनमें इस बातको मानते थे कि सम्राट्ही हमारे और इस देशके वास्तविक विधाता हैं। कभी कभी राज्यकार्यमें वे उनकी इच्छाकी कुछ भी परवा नहीं करते थे; तथापि उनके प्रति श्रद्धा अन्तःकरणसे कभी दूर नहीं हुई। यह एक बड़े कुतूहलका विषय है कि जापानराज्यकी इस युग्मरूपताको देखकर एंजलबर्ट केम्फर नामक एक ग्रन्थकारने—जो सं० १७४६-४६ में जापानमें थे—यह समझ लिया था कि जापानमें दो सम्राट् हैं—एक पारलौकिक और दूसरे ऐहिक। अभी बहुत थोड़े वर्ष हुए हैं जबकि सर रूदरफोर्ड अलकाक जापानको देख गये हैं। जापानमें शुरूशुरू जो प्रवासी आये हैं उनमें अलकाक महाशय बड़े ही सूक्ष्मदर्शी समझे जाते हैं पर वह भी न समझ सके कि सम्राट्की स्थितिका क्या रहस्य है। सच बात तो यह है कि सम्राट्ही देशके मालिक हैं, पर उस समय (ताल्लुकेदारोंके शासनसमयमें) लोग केवल मनमें ही इस बातको जानते और मानते थे और शोगून (या ताईकून भी जिन्हें कभी कभी कहा जाता था वे) ही यथार्थमें सत्ताधारी बन बैठे थे।

जब शासनसत्ता इयेयासूके हाथमें आयी तो उस समय

देशमें कितनेही ऐसे ताल्लुकेदार या दाइमियो थे जो अपने अपने प्रदेशके अर्द्धस्वाधीन नृपति हो चुके थे। इयेयासूने बड़ी बुद्धिमानी की जो उनके स्थानीय शासनमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया। जब सेकिगाहारामें पश्चिमी सेना हार चुकी और तोयोतोमीसरकारका पतन हुआ तब उन्होंने तोकूगावा वंशका आधिपत्य स्वीकार किया और इयेयासूने भी उनसे केवल इतनाही चाहा कि वे तोकूगावा सरकारसे बागी न होनेका वचन दें, युद्धके अवसरपर सैनिकरूपसे सहायता करें और थोड़ासा वार्षिक कर दिया करें। दाइमियोंको अपने हाथमें रखनेका जो यह उपाय किया गया था कि दाइमियो अपने अपने ताल्लुकेमें नहीं प्रत्युत शोगूनकी राजधानी येदोमें आकर रहें जिसमें कि दाइमियो लोग कुछ कर न सकें और तोकूगावा सरकारका आधिपत्य बना रहे—यह उपाय तीसरे शोगून इयेमित्सुके कालतक काममें नहीं लाया गया था। उनसे इससे अधिक और कुछ लेना इयेयासूके लिये बिना युद्ध किये असम्भव था; क्योंकि कुछ दाइमियो तोयो-तोमी शासनमें उसके समकक्ष थे और कुछ तो उससे भी श्रेष्ठ थे, और इन सब बातोंके सिवा, सभी दाइमियो जिनके बाहर इयेयासू भी नहीं था, तत्त्वतः सम्राट्केही प्रजाजन थे। सेकिगाहारा-युद्धके परिणाममें इयेयासूने ताल्लुकेदारोंसे जो प्रदेश छीन लिये थे उनको अलबत्ता उसने जागीरके रूपमें अपनेही घरके लोगोंको या सहकारियोंको दे डाला और उन्हें भी ताल्लुकेदार या दाइमियो बना लिया। ये प्रदेश इस प्रकार बटे हुए थे कि जिनसे जो दामिओ प्रबल थे और जिनकी अधीनतामें अभी इयेयासूको सन्देह था उनके प्रदेश घिरे रहते थे और उनका प्रभाव और बल बढ़ने नहीं पाता

था। इयेयासूका यह मतलब रहता था कि ताल्लुकेदार आपसमें ही एक दूसरेसे बचनेकी कोशिशमेंही अपनी सब शक्ति खर्च कर डालें और उनकी शक्तिभी एक दूसरेसे न बढ़ने पावे, ऐसे प्रतिबन्ध उनके मार्गमें उपस्थित किये जायँ और इस प्रकार अपने वंशका आधिपत्य स्थायीरूपसे स्थापित हो।

ऐसे २७६ ताल्लुकेदार तोकूगावा सरकारके अधीन थे जो अपने अपने ताल्लुकेके अन्दर रियासत भोगते थे। उनके साथ साथ बहुतसे दैकवान अर्थात् नायब होते थे। ये किसी ताल्लुकेदारके अधीन नहीं थे, प्रत्युत तोकूगावा सरकारके प्रत्यक्ष शासनमें रह कर थोड़ेसे प्रदेशपर शासन करते थे। दाइमियोंकी व्यक्तिगत शक्तिको बढ़नेसे रोकनेके लियेही इनका निर्म्माण हुआ था। इस प्रकार जापानमें उस समय प्रत्येक स्थानके शासनमें अपनी अपनी डफली और अपना अपना रागकी कहावत चरितार्थ होती थी। तथापि जापानियोंकी सजातीयता, और उनके आचारविचारोंकी एकताके कारण उनमें भी एक प्रकारकी समानता दृष्टिगोचर होती थी। शासनकी दृष्टिसे, यह देश वास्तवमें बटा हुआ था और मुख्य सरकारके अस्तित्व और बलका रहस्य यही था कि ये जो छोटे छोटे अर्द्धस्वाधीन राज्य थे उनका स्वतन्त्र बल बढ़नेके मार्गमें नाना प्रकारके प्रतिबन्ध और उन सबकी शक्तियोंको परस्पर समतोल रखनेके उपाय किये जाते थे।

संवत् १९२४की पुनःस्थापनाके समय जापानमें उक्त प्रकारकी शासनपद्धति प्रचलित थी। अब यह देखना चाहिये कि पुनःस्थापना क्या थी।

देशमें कितनेही ऐसे ताल्लुकेदार या दाइमियो थे जो अपने अपने प्रदेशके अर्द्धस्वाधीन नृपति हो चुके थे। इयेयासूने बड़ी बुद्धिमानी की जो उनके स्थानीय शासनमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया। जब सेकिगाहारामें पश्चिमी सेना हार चुकी और तोयोतोमीसरकारका पतन हुआ तब उन्होंने तोकूगावा वंशका आधिपत्य स्वीकार किया और इयेयासूने भी उनसे केवल इतनाही चाहा कि वे तोकूगावा सरकारसे बाग़ी न होनेका वचन दें, युद्धके अवसरपर सैनिकरूपसे सहायता करें और थोड़ासा वार्षिक कर दिया करें। दाइमियोंको अपने हाथमें रखनेका जो यह उपाय किया गया था कि दाइमियो अपने अपने ताल्लुकेमें नहीं प्रत्युत शोगूनकी राजधानी येदोमें आकर रहें जिसमें कि दाइमियो लोग कुछ कर न सकें और तोकूगावा सरकारका आधिपत्य बना रहे—यह उपाय तीसरे शोगून इयेमित्सुके कालतक काममें नहीं लाया गया था। उनसे इससे अधिक और कुछ लेना इयेयासूके लिये बिना युद्ध किये असम्भव था ; क्योंकि कुछ दाइमियो तोयो-तोमी शासनमें उसके समकक्ष थे और कुछ तो उससे भी श्रेष्ठ थे, और इन सब बातोंके सिवा, सभी दाइमियो जिनके बाहर इयेयासु भी नहीं था, तत्वतः सम्राट्केही प्रजाजन थे। सेकिगाहारा-युद्धके परिणाममें इयेयासूने ताल्लुकेदारोंसे जो प्रदेश छीन लिये थे उनको अलबत्ता उसने जागीरके रूपमें अपनेही घरके लोगोंको या सहकारियोंको दे डाला और उन्हें भी ताल्लुकेदार या दाइमियो बना लिया। ये प्रदेश इस प्रकार बटे हुए थे कि जिनसे जो दामिश्रो प्रबल थे और जिनकी अधीनतामें अभी इयेयासूको सन्देह था उनके प्रदेश घिरे रहते थे और उनका प्रभाव और बल बढ़ने नहीं पाता

था। इयेयासूका यह मतलब रहता था कि ताल्लुकेदार आपसमें ही एक दूसरेसे बचनेकी कोशिशमेंही अपनी सब शक्ति खर्च कर डालें और उनकी शक्तिभी एक दूसरेसे न बढ़ने पावे, ऐसे प्रतिबन्ध उनके मार्गमें उपस्थित किये जायँ और इस प्रकार अपने वंशका आधिपत्य स्थायीरूपसे स्थापित हो।

ऐसे २७६ ताल्लुकेदार तोकूगावा सरकारके अधीन थे जो अपने अपने ताल्लुकेके अन्दर रियासत भोगते थे। उनके साथ साथ बहुतसे दैकवान अर्थात् नायब होते थे। ये किसी ताल्लुकेदारके अधीन नहीं थे, प्रत्युत तोकूगावा सरकारके प्रत्यक्ष शासनमें रह कर थोड़ेसे प्रदेशपर शासन करते थे। दाइमियोकी व्यक्तिगत शक्तिको बढ़नेसे रोकनेके लियेही इनका निर्म्माण हुआ था। इस प्रकार जापानमें उस समय प्रत्येक स्थानके शासनमें अपनी अपनी डफली और अपना अपना रागकी कहावत चरितार्थ होती थी। तथापि जापानियोंकी सजातीयता, और उनके आचारविचारोंकी एकताके कारण उनमें भी एक प्रकारकी समानता दृष्टिगोचर होती थी। शासनकी दृष्टिसे, यह देश वास्तवमें बटा हुआ था और मुख्य सरकारके अस्तित्व और बलका रहस्य यही था कि ये जो छोटे छोटे अर्द्धस्वाधीन राज्य थे उनका स्वतन्त्र बल बढ़नेके मार्गमें नाना प्रकारके प्रतिबन्ध और उन सबकी शक्तियोंको परस्पर समतोल रखनेके उपाय किये जाते थे।

संवत् १९२४की पुनःस्थापनाके समय जापानमें उक्त प्रकारकी शासनपद्धति प्रचलित थी। अब यह देखना चाहिये कि पुनःस्थापना क्या थी।

देशमें कितनेही ऐसे ताल्लुकेदार या दाइमियो थे जो अपने अपने प्रदेशके अर्द्धस्वाधीन नृपति हो चुके थे। इयेयासूने बड़ी बुद्धिमानी की जो उनके स्थानीय शासनमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया। जब सेकिगाहारामें पश्चिमी सेना हार चुकी और तोयोतोमीसरकारका पतन हुआ तब उन्होंने तोकूगावा वंशका आधिपत्य स्वीकार किया और इयेयासूने भी उनसे केवल इतनाही चाहा कि वे तोकूगावा सरकारसे बागी न होनेका वचन दें, युद्धके अवसरपर सैनिकरूपसे सहायता करें और थोड़ासा वार्षिक कर दिया करें। दाइमियोंको अपने हाथमें रखनेका जो यह उपाय किया गया था कि दाइमियो अपने अपने ताल्लुकेमें नहीं प्रत्युत शोगूनकी राजधानी येदोमें आकर रहें जिसमें कि दाइमियो लोग कुछ कर न सकें और तोकूगावा सरकारका आधिपत्य बना रहे—यह उपाय तीसरे शोगून इयेमित्सुके कालतक काममें नहीं लाया गया था। उनसे इससे अधिक और कुछ लेना इयेयासूके लिये बिना युद्ध किये असम्भव था; क्योंकि कुछ दाइमियो तोयोतोमी शासनमें उसके समकक्ष थे और कुछ तो उससे भी श्रेष्ठ थे, और इन सब बातोंके सिवा, सभी दाइमियो जिनके बाहर इयेयासु भी नहीं था, तत्त्वतः सम्राट्केही प्रजाजन थे। सेकिगाहारा-युद्धके परिणाममें इयेयासूने ताल्लुकेदारोंसे जो प्रदेश छीन लिये थे उनको अलबत्ता उसने जागीरके रूपमें अपनेही घरके लोगोंको या सहकारियोंको दे डाला और उन्हें भी ताल्लुकेदार या दाइमियो बना लिया। ये प्रदेश इस प्रकार बटे हुए थे कि जिनसे जो दामिओ प्रबल थे और जिनकी अधीनतामें अभी इयेयासूको सन्देह था उनके प्रदेश घिरे रहते थे और उनका प्रभाव और बल बढ़ने नहीं पाता

था। इयेयासूका यह मतलब रहता था कि ताल्लुकेदार आपसमें ही एक दूसरेसे बचनेकी कोशिशमेंही अपनी सब शक्ति खर्च कर डालें और उनकी शक्तिभी एक दूसरेसे न बढ़ने पावे, ऐसे प्रतिबन्ध उनके मार्गमें उपस्थित किये जायँ और इस प्रकार अपने वंशका आधिपत्य स्थायीरूपसे स्थापित हो।

ऐसे २७६ ताल्लुकेदार तोकूगावा सरकारके अधीन थे जो अपने अपने ताल्लुकेके अन्दर रियासत भोगते थे। उनके साथ साथ बहुतसे दैकवान अर्थात् नायब होते थे। ये किसी ताल्लुकेदारके अधीन नहीं थे, प्रत्युत तोकूगावा सरकारके प्रत्यक्ष शासनमें रह कर थोड़ेसे प्रदेशपर शासन करते थे। दाइमियोकी व्यक्तिगत शक्तिको बढ़नेसे रोकनेके लियेही इनका निर्म्माण हुआ था। इस प्रकार जापानमें उस समय प्रत्येक स्थानके शासनमें अपनी अपनी डफली और अपना अपना रागकी कहावत चरितार्थ होती थी। तथापि जापानियोंकी सजातीयता, और उनके आचारविचारोंको एकताके कारण उनमें भी एक प्रकारकी समानता दृष्टिगोचर होती थी। शासनकी दृष्टिसे, यह देश वास्तवमें बटा हुआ था और मुख्य सरकारके अस्तित्व और बलका रहस्य यही था कि ये जो छोटे छोटे अर्द्धस्वाधीन राज्य थे उनका स्वतन्त्र बल बढ़नेके मार्गमें नाना प्रकारके प्रतिबन्ध और उन सबकी शक्तियोंको परस्पर समतोल रखनेके उपाय किये जाते थे।

संवत् १९२४की पुनःस्थापनाके समय जापानमें उक्त प्रकारकी शासनपद्धति प्रचलित थी। अब यह देखना चाहिये कि पुनःस्थापना क्या थी।

२. पुनःस्थापना

पुनःस्थापनाके मुख्य कारणोंको डाक्टर इयेनागा इस तरह गिनाते हैं—विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दीमें जापानियोंने असाधारण बुद्धिशक्ति प्रकट की। तोकूगावावंश अथवा यों कहिये कि शोगूनोंके शासनमें देशको शान्ति और सब प्रकारसे सुख मिला जिसके कारण साहित्य और कला उन्नत हुई। शोगून लोग, किसी मतलबसे हो या अपनी रुचिसे ही हो, सामुराइयोंकी अशान्त प्रकृतिको बहलानेके लिये हो या विद्याके वास्तविक प्रेमसे ही हो, साहित्यके बराबर संरक्षक हुआ करते थे। दाइमियो लोग भी जब आखेट या आमोद-प्रमोदसे छुट्टी पा लेते थे तो फुरसतके समय पण्डितोंके व्याख्यान और प्रबन्ध बड़े ध्यानसे सुना करते थे। प्रत्येक दाइमियोप्रदेशको अपने यहाँके विद्वानोंकी कीर्त्ति और संख्याका अभिमान होता था। इस प्रकार देशभरमें बड़े बड़े विद्वान् उत्पन्न हो गये। उससे देशके साहित्यमें युगान्तर उपस्थित हो गया। नवीन साहित्यने अपना स्वर बदल दिया। इससे पहले अर्थात् गेन-पीसे[१] लेकर तोकूगावा काल-के पूर्वार्द्धतक क्लिष्टता, दुर्बोधता और संयत विनयशीलता ही साहित्यकी विशेषता थी। परन्तु इस युगान्तरने साहित्यमें नवीन जीवन डालकर स्वाधीनताका ओज उत्पन्न करदिया। सत्यासत्यकी आलोचना करके और निर्भीकताके साथ इतिहास लिखा जाने लगा।

"परन्तु जब प्राचीन इतिहासोंका अध्ययन होने लगा

---

१ गेनपीकाल उस समयको कहते हैं जब कि योरितोमोके द्वारा कामाकुरा बाकुफूकी स्थापना हुई है।

और प्राचीन राज्यव्यवस्थाएं दृष्टिगत होने लगीं तब शोगूनाईका वास्तविक स्वरूप भी स्पष्ट दिखायी देने लगा। ऐतिहासिकोंको यह मालूम हो गया कि शोगूनाई असलमें ताल्लुकेदारोंकी डाकेजनी है और छलकपट तथा जालफरेबसेही अबतक यह जीती है ; उन्होंने यह भी जान लिया कि जो क्योतोकी राजसभामें केवल बन्दीके समान जीवन व्यतीत कर रहे थे वे सम्राट्ही वास्तवमें समस्त अधिकार वा मान-मर्यादाके अधिकारी थे। इस बातका पता लग चुकनेपर सम्राट्के राजभक्त प्रजाजनोंके सामने स्वभावतः ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि, "अब करना क्या चाहिये ?" इसका स्वाभाविक उत्तर भी मिला—"अन्यायसे जो राज कर रहा है उसे निकाल बाहर करो और वास्तविक अधिकारीको मानो"। साम्राज्यवादियोंकी राजनीतिका यही मूलमन्त्र था। शोगूनाईके विरुद्ध पहली आवाज़ मितोके प्रिन्स कोमोनकी विद्वत्सभासे उठी थी।

"उसने सं० १७७२ में कई विद्वानोंकी सहायतासे 'दाय-निहनशी' नामक जापानका एक बड़ा भारी इतिहास तैयार किया। सं० १९०८ तक यह छपा नहीं था, पर जिज्ञासु लोग उसकी नकल कर लेते थे और इस प्रकार छपनेसे पहलेही उस ग्रन्थका बहुत प्रचार हो गया। बहुत शीघ्र 'दाय-निहनशी' एक उच्च श्रेणीका ग्रन्थ माना जाने लगा और सम्राट-सत्ताकी पुनःस्थापनामें इसने इतनी बड़ी सहायता की है कि सर अर्नेस्ट सैटोने इसके लेखकको ही उस उद्योगका जनक माना है जिसका परिणाम संवत् १९२४ का राज्यविप्लव हुआ। प्रिन्स कोमोनकी ध्वनिको प्रसिद्ध सुपण्डित राय सानयोने और भी प्रतिध्वनित किया।

यह पुरुष जैसा प्रभावशाली इतिहासकार था वैसाही प्रबुद्ध कवि और उत्साही देशभक्त भी था। उसने अपने 'निहनग्वाई शी' नामक इतिहासमें राजमन्त्री तथा शोगूनोंके उत्थान और पतनका बहुत सुन्दर वर्णन किया है और यथास्थान व्यंग्योक्ति करके, भर्त्सना करके और देशभक्तिपूर्ण व्यग्रताके साथ इन राजप्रासादके द्वारपालोंके बलपूर्वक सम्राट्-सभा-पहरणकी बात संसारके सामने स्पष्टतया रख दी है। उसने अपने "सीकी" अर्थात् जापानके राजनीतिक इतिहासमें राजवंशका आद्यन्त इतिहास लिखा और सम्राट्की शक्तिके क्रमागत ह्रासपर रुलानेवाले शब्दोंके साथ आँसू बहाये हैं। इन इतिहासकारों व विद्वानोंके परिश्रम यथासमय यथेष्ट फलीभूत हुए। उनके कुछ अनुयायियोंने उद्योग करना भी आरम्भ किया। साकूमा सोजान, योशीदा ताराजीरो, गेशा, योकोई हीशीरो, और बादको सायगो, ओकूबो, किदो तथा कई अन्य देशभक्त इस उद्योगमें सम्मिलित हुए और उन्होंने अपने गुरुजनोंके स्वप्नको सत्य कर दिखाया। ...

"सम्राट्की ओर जनमनका जो धाराप्रवाह हो रहा था उसमें शिन्तोधर्मके पुनरुत्थानकी उपधारा और आकर मिली जिससे वह प्रवाह द्विगुणित हो गया।......विद्याके उद्धारके साथ कोजिकी तथा अन्य प्राचीन साहित्यग्रन्थ बड़ी सूक्ष्म आलोचनाके साथ पढ़े जाने लगे और शिन्तोधर्म पुनराविर्भूत होने लगा। मूतूरी तथा हिराता जैसे प्रमुख पुरुषोंने उसका पक्ष लेकर उसके अभ्युदयमें बड़ी सहायता की।

"शिन्तोधर्मके अनुसार जापान एक पवित्र भूमि है। इसको देवताओंने सिरजा और हमारे सम्राट् उन्हीं देवताओंके

वंशज हैं। अतएव देवताके समान उनको मानना और पूजना चाहिये।......उस समय जैसी देशकी अवस्था थी उसमें इस सिद्धान्तने राजनीतिपर क्या प्रभाव डाला होगा यह स्पष्ट ही है। जो सम्राट् प्रत्यक्ष देवता हैं, जिनसे ही सब सत्कर्म उत्पन्न होते हैं, जो हमारे यथार्थ सत्ताधीश हैं और जो केवल हमारी श्रद्धाके एकमात्र अधिकारी हैं वे इस समय तोकूगावा शोगूनोंकी लोहश्रृङ्खलासे बाँधे जाकर क्योतोकी राजधानीके पींजरेमें बन्द हैं। सच्चे शिन्तोई इस अन्याय और अधर्मको सह नहीं सकते। शोगूनको उतारकर सम्राट्-हीको राजगद्दीपर बैठाना चाहिये।"

इस प्रकार पुनःस्थापनाके पूर्व सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तिकी कुछ शक्तियाँ धीरे धीरे, पर निश्चयरूपसे सुशिक्षितोंके मनको तैयार कर रही थीं।

पश्चात् संवत् १६१० में अमरीकन सेनापति पेरी संयुक्त-राज्यकी सरकारसे यह पत्र लेकर जापानमें आया कि अब हमारा तुम्हारा व्यवहार हुआ करे। यह जङ्गी जहाज़ोंका एक बड़ा भारी बेड़ा अपने साथ लाया था जिसको देखने और उसके अत्याग्रहसे चकित होनेपर जापानियोंमें बड़ी खलबली पड़ गयी। तोकूगावासरकारके होश उड़ गये और उसने समस्त दाइमियोंको हुक्म दिया कि समुद्र किनारेपर अपनी शक्तिभर सेना और युद्धसामग्री उपस्थित कर दो।

विक्रमीय सोलहवींसे अठारवीं शताब्दीतक ईसाई पादरियोंके उपद्रवके कारण जापानियोंको जो दुःख उठाने पड़े उसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकान्त और विदेशियोंके निवासान्तपर तोकूगावा शासकोंके मूलपुरुषने बड़ा जोर दिया और उसके वंशजोंने भी उस मतलबको कभी न

छोड़ा। यह एक साधारण विचार था कि विदेशियोंके साथ सम्पर्क रखनेसे हमारे राष्ट्रके अस्तित्वपर सङ्कट आन पड़ेगा इसलिये देशमें उनका रहना बड़ा ही अशुभ है। कुछ शान्त हालैंडनिवासी व्यापारियोंको देशिमा टापूमें रहनेकी आज्ञा दी गयी थी, सो भी उन्हें बहुत कड़े नियमोंका पालन करना पड़ता था। उन्हें छोड़कर किसी भी विदेशी मनुष्यको यह अधिकार नहीं था कि वह जापानियोंसे किसी प्रकार भी सम्बन्ध रखे। जापानियोंको भी बाहर जाना मना था। यदि कोई जापानी कहीं जानेका प्रयत्न करता और इस प्रयत्नका पता लगता तो उसे बड़ी भारी सजा दी जाती थी। बड़े बड़े जहाज़ बनाना भी बिलकुल मना था। तोकूगावा सरकारका आरम्भसे यह खास मतलब रहता था कि स्वदेशमें कोई विदेशी घुसने न पावे और इस उद्देश्यके पालनमें ज़रा भी त्रुटि न होने पाती थी।

सेनापति पेरी जंगी जहाज़ोंका बेड़ा लेकर पहुँचा। यह सामान जापानियोंने कभी देखा भी न था। दो सौ वर्षकी शान्तिमयी निद्रा तथा अखण्ड एकान्तवासने सरकारको बड़े चक्करमें डाल दिया था। शोगूनको कुछ न सूझा कि क्या करें क्या न करें, उसने राजकर्मचारियोंको परामर्श करनेके लिये बुला भेजा, अमरीकाके पत्रका तात्पर्य दाइमियोंको कहलवा दिया और क्योतोकी सम्राट्-सभाको लिखा कि अपनी राय दे। अबतक शोगून देशका सब कार्य अपने अधिकारपर किया करते थे और सम्राट्सभापर भी हुक्म चलाते थे। पर अब बड़ी कठिन समस्याका सामना करना पड़ा और उन्होंने दाइमियों और सम्राट्की सम्मति माँगकर अपनी दुर्बलता व्यक्त की। दाइमियोंमेंसे बहुतोंने और स्वयं सम्राट्ने भी यही सम्मति दी कि

विदेशियोंको और विदेशी जहाज़ोंको अपने पास फटकने न दो और शुरूसे जो सबने अपने रहनेका ढङ्ग इख़्तियार किया है उसीपर डटे रहो। उन्होंने विदेशियोंके साथ किसी तरहकी रियायत करनेका घोर विरोध किया। इस सम्मतिके देने-वालोंमें कोमोन मित्सुकुनी वंशके ही दाइमियो प्रमुख थे। तोकूगावा वंशकी जो तीन मुख्य शाखाएँ हुईं उन्हींमेंसे एक शाखाके ये भी थे; परन्तु इस अवस्थामें भी इन्होंने सम्राट्-का पक्ष लेकर सम्राट्की मान्यता बढ़ानेपर जोर दिया था। इन्होंने कहा, "असभ्योंकी यह चाल है कि वे व्यापार करनेके निमित्त किसी देशमें घुस जाते हैं.फिर वहाँ अपना 'धर्म' फैलाते हैं और फिर वहाँके लोगोंमें लड़ाई झगड़े लगा देते हैं। इसलिये दो सौ वर्ष पहले हमारे पुरषाओंने जो अनुभव प्राप्त किया है उसको अपने सामने रखो; चीनके अफीम-युद्धकी[१] शिक्षाका तिरस्कार मत करो।" इसके साथ ही कुछ लोग ऐसे भी थे जो सरकारकी अन्तरङ्ग सभाके कर्म्मचारी तथा उच्च व्यापा-

---

१. जापानके समान चीन भी पहले विदेश-सम्पर्कका पूर्ण विरोधी था। चीनके सुप्रसिद्ध बादशाह कीन-लङ्गकी ख्याति सुनकर संवत् १८५० में इंगलिस्तानसे लार्ड मैकार्टने चीनके साथ व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करनेकी आशा लेकर चीन-सम्राट्के दरबारमें आये थे। परन्तु उन्हें निराश होकर ही लौटना पड़ा। आगे चलकर गृहकलहके कारण जब चीन बहुत दुर्बल हो चुका तब यूरपवालोंको धीरे धीरे व्यापार करनेके अधिकार मिलने लगे। अंग्रेजोंका व्यापार-सम्बन्ध स्थापित हुआ। परन्तु अंग्रेजोंका व्यापार विशेष करके अफ़ीमका था। चीनी इससे चण्डू पीना सीख गये और यह व्यसन दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा। चीनसरकार बहुत कालतक चुप रही परन्तु जब चीनको चण्डूखाना ही बन जाते हुए देखा तब उसने यह व्यापारही बन्द कर देनेकी ठान ली। संवत् १८९४में कैण्टनमें रहनेवाले अंग्रेज दूतको हुक्म हुआ कि अफीमके जहाजोंको लौटा दो और यह हानिका-

रियोंसे डच भाषा सीखकर पाश्चात्य सभ्यताकी कुछ कल्पनाएँ पाये हुए थे जिन्होंने कि विदेशसम्बन्ध पुनः स्थापित करनेकी सम्मति दी थी। देशिमामें रहनेवाले डच लोगोंके द्वारा सरकारके बड़े बड़े कर्म्मचारियोंको पाश्चात्य देशोंकी अवस्था मालूम हो जाया करती थी। अब तो सेनापति पेरीका प्रत्यक्ष सामना ही हुआ। उन्होंने यह सोचा कि अमरीकाकी बात यदि हम नहीं मानते तो उससे युद्ध करना पड़ेगा जिससे देश मिट्टीमें मिल जायगा। उनका कथन यह था, "यदि हम अमरीकनोंको निकाल देनेकी चेष्टा करेंगे तो हमारे साथ उनकी शत्रुता आरम्भ हो जायगी और हमको लड़ना पड़ेगा। यदि इस फेरमें हम पड़ गये तो यह ऐसा वैसा शत्रु नहीं है जिससे जल्द छुटकारा हो जाय। वे लोग इस बातकी चिन्ता न करेंगे कि कबतक उन्हें लड़ना होगा; वे सहस्रों रणपोत लेकर आ पहुँचेंगे, हमारे तटको घेर लेंगे, हमारी नावोंको गिरफ़ार कर लेंगे, हमारे बन्दरोंके मार्ग बन्द कर देंगे और अपने तटकी रक्षाकी हमारी सारी आशापर पानी फिर जायगा।" इस प्रकार देशमें दो दल हो गये

रक व्यापार वन्द कर दो। उसने नहीं माना और व्यापार बना रहा। संवत् १८६६ में चीनी वायसराय महाशय लिनने चीनमहाराजकी आज्ञासे कैण्टनमें उस वक्त जितनी अफीम अंग्रेजोंके गोदामोंमें थी सब छीन ली और उसे नष्ट कर दिया। इस नष्ट की हुई अफीमका मूल्य लगभग ३ करोड़ रुपया बतलाया जाता है। चीनसरकारने जब यह नीति स्वीकार की तब अफीमके व्यापारियोंने चोरी चोरी अपना व्यापार जारी रखा। इसपर चीन-सरकारने अंग्रेजोंसे व्यापार-सम्बन्ध ही तोड़ दिया। यही इस चीन-अफीम-युद्धका कारण हुआ। चीनियोंकी हार हुई, और उन्हें ६ करोड़ ६० लाख रुपया युद्धदण्ड स्वीकार करना पड़ा और हांङ्काङ् अंग्रेजोंके हवाले करना पड़ा।

थे—जोइतो अर्थात् विदेशी 'असभ्योंको' निकाल देनेवाला दल, और काइकोकुतो अर्थात् उनके लिये मुक्तद्वारनीतिका पक्षपाती दल।

संवत् १६११ में तोकुगावा सरकारने जोइतोके घोर विरोध और चिल्लानेकी कोई परवाह न करके साहसके साथ संयुक्त राज्य, इंग्लिस्तान और रूससे भी सन्धि की। यह एकदम आमूल परिवर्तन था—पुरानी राजनीतिक परम्पराका आमूल विपरिणाम था। ऐसा विरुद्ध आचरण करके भी वह सरकार बच जाय, उसपर कोई सङ्कट न आवे, यह तो असम्भव था। सचमुच ही इसी गलतीने तोकुगावा सरकारका पतन शीघ्रतर कर दिया।

यहाँसे आगे अब सरकारको दो चिन्ताएँ रहीं—एक तो अन्दरके झगड़े और दूसरे, विदेशियोंके बखेड़े।

यह तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि इतिहासकारों, शिंतोइयों व प्राचीन साहित्यके विद्वानोंमें यह भाव बड़े ही वेगसे प्रबल हो उठा था कि सम्राट् यथार्थमें सत्ताधीश हों। स्वभावतः ही इस विचारके लोग विदेश-सम्पर्क-पक्षके विरुद्ध थे। जब उन्होंने देखा कि तोकुगावा सरकारने बिना सम्राट्की अनुमतिके विदेशोंसे सन्धि कर ली तब उन्होंने उसपर यह अभियोग लगाया कि इसने सम्राट्का द्रोह किया है। प्रायः दाइमियों और सामुराइयोंको पश्चिम अथवा पश्चिमी सभ्यताकी कुछ भी खबर नहीं थी। वे इन 'लाल दाढ़ीवाले जंगलियोंके' बारेमें[१] उसी अनुभवको जानते थे जो कि २००

१ जैसे यूनानी और रोमन लोग प्राचीन समयमें स्वकीयेतर जातिमात्रको बर्बर-'जंगली' कहा करते थे वैसे ही जापानमें भी विदेशियोंके लिये यही शब्द प्रयुक्त होता था।

वर्ष पूर्व इनके पूर्व पुरुषोंको ईसाई पादरियोंकी सहायतासे प्राप्त हुआ था। इसलिये शोगूनकी इस नयी कार्यवाहीका कुछ भी मतलब उनकी समझमें न आया और उन्होंने उसका बड़ा तीव्र प्रतिवाद किया। ठीक इसके विपरीत डच पण्डित[१] विदेश-सम्पर्ककी पुनःस्थापनाके बड़े भारी पक्षपाती थे। परन्तु वे यह खूब समझते थे कि प्रचलित शासनपद्धतिसे अर्थात् शासनके बटवारेकी हालतमें राष्ट्रका सङ्गठन सुदृढ़ नहीं हो सकता, इसलिये उन्होंने भी सम्राट्के प्रत्यक्ष और केन्द्रीभूत शासनका पक्ष ग्रहण किया।

इन साम्राज्यवादियोंके अतिरिक्त सात्सुमा, चोशिऊ, तोसा, हिज़ेन आदि स्थानोंके प्रबल पराक्रमी दाइमियों लोग भी तोकुगावा सरकारपर बहुत बिगड़ उठे थे। तोकुगावा शोगूनोंसे इनकी बड़ी पुरानी अदावत थी। उनके पूर्व पुरुष तोयोतोमीशासनमें तोकुगावाशासनकी नींव देनेवाले इयेयासूसे मानमर्यादा, बलपराक्रम, पदप्रतिष्ठा आदि सभी बातोंमें बड़े थे। तोयोतोमीके पतनके उपरान्त अर्थात् इयेयासूके षड्यन्त्रसे तोयोतोमीशासनका नाम मिटनेपर इन्होंने कालकी गति देखकर तोकुगावाका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था पर यथार्थमें हृदयसे ये कभी तोकुगावाशासनके अधीन न हुए। इनकी रियासतें राजधानीसे बहुत दूर थीं और राज करनेवाले शोगूनोंसे इनका सम्बन्ध भी कुछ ऐसा ही चला आता था जिसके कारण शोगून उन्हें कभी अपनी हुकूमतमें नहीं ला सके।

जब इन लोगोंने देखा कि तोकुगावा सरकारकी दुर्बलता

१ जिन जापानियोंने डच व्यापारियोंके सहवाससे डचभाषा सीखकर पाश्चात्य सभ्यताका पाठ पढ़ा था उन्हें डच पण्डित कहा जाता था।

प्रकट हुई और वैदेशिक नीतिसे उसके अनेक शत्रु हो गये हैं तब उन्होंने अपनी शत्रुता भी बड़े ज़ोरके साथ आरम्भ कर दी। कभी वे जोइतो अर्थात् विदेश-सम्पर्क-विरोधियोंका पक्ष ग्रहण करते और कभी साम्राज्यवादियोंका साथ देते, और प्रत्येक अच्छे या बुरे अवसर व उपायका उपयोग करके शोगूनाईको मिटानेपर कमर कसे हुए थे। इसी मतलबसे सात्सुमा व चोशिउके दाइमियोंने सम्राट्की राजसभाको इस बातके लिये उभारा कि यह तोकुगावाके शासनमें हस्तक्षेप करे, और स्वयं ऐसा आचरण आरम्भ किया मानो तोकुगावा सरकार कोई चीज़ ही नहीं है।

विदेश-सम्पर्क-विरोधी दलों और आततायियोंका साथ देकर ये लोग वारंवार विदेशियोंको तंग करते और विदेशी जहाज़ोंपर आक्रमण करते थे। इससे सन्धिबद्ध राष्ट्रों और तोकुगावासरकारके बीच, अभी सम्बन्ध स्थापित हुआ ही था कि इतनेहीमें, नये नये झगड़े पैदा होने लगे। पाश्चात्य कूट-नीतिसे कभी काम तो पड़ा ही न था। यह पहला ही मौका था। इससे सरकार ऐसे चक्करमें पड़ गयी कि कहनेकी बात नहीं। एक ओरसे विदेशीय शक्तियोंने तोकुगावा सरकारकी भीतरी विपत्तियोंको न समझते हुए सरकारपर बड़ा दबाव डाला, हरजानेकी बड़ी बड़ी रकमें माँगीं और ऊपरसे सन्धिगत अधिकारोंकी रक्षा करनेके लिये सख़्त ताकीद दी। दूसरी ओरसे विदेशीय राष्ट्रोंकी उद्दण्ड नीतिने विदेश-सम्पर्क-विरोधियोंको और भी भड़का दिया जिससे सरकारके नाकों दम आ गया।

जब मैत्री और व्यापारकी सन्धिके अनुसार कार्य होने लगा तब यह भी जबर्दस्ती होने लगी कि जापानी चलनसार

सिक्कोंके भावसे ही विदेशी सिक्के भी जापानमें चला करें। जापानी सिक्कोंमें ५ हिस्सा सोना और एक हिस्सा चांदी थी-और विदेशी सिक्कोंमें १५ हिस्सा सोना और एक हिस्सा चांदी थी। जब यह जबर्दस्ती आरम्भ हुई तब यह भय होने लगा कि अब देशसे सब सुवर्ण निकल जायगा। सरकारने इस आर्थिक सङ्कटका प्रतिकार करनेके लिये ऐसे हिसाबसे चांदीका नया सिक्का तैय्यार कराया जिससे लेनदेनमें नुकसान न हो। पर सरकारके सिक्का ढलवानेकी देर थी कि सन्धिबद्ध राष्ट्र एक साथ बिगड़ उठे और कहने लगे कि यह तो सन्धिका मर्यादा भङ्ग की जा रही है। इसी प्रकार, और भी कई छोटी बड़ी कठिनाइयोंका सामना तोकुगावासरकारको करना पड़ा और विदेश-सम्पर्कके प्रारम्भके १०।१२ वर्ष बड़ी बेचैनीके साथ बीते। यहाँतक कि शोगूनकी आँखें खुल गयीं और उन्होंने विदेश-सम्पर्कका नतीजा अपनी आँखों देख लिया।

इस प्रकार ऐसे कठिन समयमें तोकुगावा सरकार चारों ओरसे संकटोंसे घिर गयी—बाहरसे विदेशी शक्तियोंने दबा रखा था, अन्दरसे विदेश-सम्पर्क-विरोधियोंके उपद्रव, सम्राट्-सभाके हस्तक्षेप, दाइमियोंके परस्पर मतभेद और कार्य-विरोध, विभाजित शासनकी पद्धति तथा पश्चिमी दाइमियोंकी शत्रुताने नाकों दम कर दिया था, यहाँतक कि ऐसी कठिन समस्याओं व विपत्तियोंका सामना करनेमें सरकार असमर्थ हो गयी।

संवत् १९२४ में अपने पदका इस्तीफ़ा देते हुए शोगूनने सम्राट्-सभाको यह पत्र लिखा—

"जिन जिन परिवर्तनोंसे हो कर साम्राज्य आज इस अवस्थाको प्राप्त हुआ है उन्हें एक बार पीछे फिर कर देखने-

से पता लगता है कि सम्राट्की सत्ता क्षीण हो चुकनेपर मंत्रीके हाथमें सब सत्ता आ गयी और होगेन और हैजीके युद्धोंसे शासनसत्ता सैनिकवर्गके हाथमें आयी। मेरे पूर्व पुरुषपर सम्राट्का जैसा विश्वास और दयाभाव था उससे पहले वह किसीको भी प्राप्त नहीं हुआ था। दो सौ वर्षसे भी अधिक काल बीत गया कि उन्हींके वंशज आजतक एक-के बाद एक आकर शासनकार्य निबाह रहे हैं। इस समय उसी कार्यको मैं भी कर रहा हूँ पर सर्वत्र ही अशान्तिके चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। बड़ी लज्जाके साथ मैं इस बातको स्वीकार करता हूँ कि यह सब मेरी ही अयोग्यता और असमर्थताका दोष है। इसके साथ ही अब हमारा विदेशोंके साथ सम्बन्ध दिन दिन बढ़ता ही जा रहा है जिससे हमारी विदेशनीतिका कार्य तबतक सन्तोषजनक न हो सकेगा जबतक कि उसे एक ऐसे केन्द्रसे गति न मिले जहाँ कि देशकी समस्त शक्तियाँ केन्द्रीभूत हों। इसलिये हमारा यह विश्वास है कि यदि वर्तमान राज्यपद्धतिको बदलकर सम्राट्-सभाके हाथोंमें ही सब शासनसत्ता आ जाय और साम्राज्यके सब कार्य 'राष्ट्रकी बहुधा प्रतीत निष्पक्ष सम्मति'-से सम्राट्-सभाही किया करे और हम सब देशकी रक्षाके लिये सब भेदभाव भूलकर एक हो जायँ तो यह निश्चय है कि हमारा राष्ट्र भी संसारके अन्य राष्ट्रोंके समकक्ष हो जायगा।

"यही हमारी आन्तरिक इच्छा है और देशके प्रति अपना कर्त्तव्य सोचकर इसे हम प्रकट करते हैं। पर इस सम्बन्धमें यदि सम्राट्-सभाका कुछ दूसरा ही विचार हो तो हमारी प्रार्थना है कि वह उस विचारको स्पष्टही प्रकट करनेकी कृपा करे।"

तोकुगावासरकारके अन्तिम दिनोंकी कुछ और बातें उस बातचीतसे मालूम हो सकती हैं जो शोगूनसे बृटिश राजदूत सर हैरी पार्क्स और फरांसिसी राजदूत महाशय लियन राचिसके मिलनेपर इस अवसरपर हुई हैं। संयुक्त राज्यके राजनीतिक पत्रव्यवहारसे यह बात पीछे प्रकट हुई कि शोगूनने कहा था—

"विगत वसन्तमें ही मैं इस बातको समझ चुका था कि जबतक सम्राट् और मेरे बीच शासनकार्य बटा हुआ है तबतक देशका शासन ठीक तरहसे नहीं हो सकता। देशके दो केन्द्र हो गये थे जहाँसे परस्पर-विरोधी आज्ञाएँ घोषित होती थीं। उदाहरणके तौरपर मैंने इसकी चर्चा की कि विदेशियोंके लिये हिओगो और ओसाका ये दो स्थान[1]

---

१. विदेशियोंके लिये जापानके जो नगर व्यापारार्थ खुले रखे गये थे उन्हे "सन्धि-नगर" कहा जाता था। पहले तो केवल नागा बन्दर ही चीनियों और डचोंके लिये खुला था और इन डच और चीनी व्यापारियोंको जापानियोंसे दबकर रहना पड़ता था। बादको संवत् १९१०में अमरीकासे कमाण्डर पेरी आया, जापानियोंसे व्यापार करनेकेलिये बन्दर माँगकर लौट गया और फिर १९११ में आकर उसने अमरीकाकी ओरसे जापानके साथ ऐसी सन्धि की जिससे अमरीकाके लिये शिमोदा और हाकादितो ये दो स्थान सन्धि-नगर हो गये। तब और और देशवालेभी आने लगे और अपने सन्धि नगर कायम करने लगे। अंग्रेजोंके लिये नागासाकी और हाकादितो खुला। इसके बाद अमरीकावालोंने भी नागासाकीमें प्रवेश लाभ किया। इसी प्रकार रूसी और डच लोगोंने भी स्थान पाये। एक एक करके १६ राज्योंके साथ जापानको व्यापार-सन्धि करनी पड़ी और अपना गृहद्वार खोल देना पड़ा। इस सन्धिमें जापानके हक़में बहुत ही बुरी शर्तें थीं जिनका जिक्र यथास्थान किया जायगा। जापानी यह सब देखकर शोगूनपर बिगड़ उठे थे; क्योंकि इसीने यह मौका लगाया था।

खुले रखनेके बारेमें मेरे विचारसे तो सन्धिकी शर्तोंपर पूरा अमल करना हर हालतमें वाजिब था परन्तु इस बात-के लिये सम्राट्की सम्मति बहुत रो पीटकर मिली सो भी उनकी इच्छासे नहीं। इसलिये मैंने देशके हितके लिये सम्राट्को सूचना दे दी कि मैं शासनकार्यसे अलग होता हूँ इस ख़्यालसे कि आगे किस प्रकार और किसके द्वारा शासन हो यह तै करनेके लिये दाइमियोंकीसभा निमन्त्रित की जायगी। ऐसा करनेमें मैंने अपने स्वार्थ और परम्परागत सत्ताको देशहितपर न्योछावर कर दिया।

"इस देशमें एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है कि जिसे इस बातका सन्देह हो कि जापानके सम्राट् कौन हैं। सम्राट्ही सम्राट् हैं। मैं अपने शासनारम्भसेही भावी शासनसत्ताके सम्बन्धमें राष्ट्रकी इच्छा जाननेका प्रयत्न करता था। यदि राष्ट्र यही निर्णय करे कि मैं अलग हो जाऊँ तो अपने देशकी भलाईके विचारसे मैं उसकी इच्छाका पालन करनेको तैयार हूँ।

"मेरा और कुछ भी मतलब नहीं है, जो कुछ है सो यही कि, अपने देश और देशभाइयोंके प्रति सच्चे प्रेमके कारण पूर्वपरम्परासे जो शासनसत्ता मुझे प्राप्त हुई थी उससे मैं पृथक् हुआ, और यह कह सुनकर कि मैं साम्राज्यके समस्त अमीर उमरावोंको निष्पक्ष भावसे इस प्रश्नकी चर्चा करनेके लिये निमन्त्रित करूँगा और बहुमतको स्वीकार कर राष्ट्रीय व्यवस्थाके सुधारका निश्चय करूँगा—यह कह सुनकर मैंने सम्राट्-सभापर सब बातें छोड़ दीं।"

संवत् १६२४ में शोगूनका त्यागपत्र स्वीकृत हुआ और इयेयासू द्वारा संस्थापित तोकुगावासरकारके ढाई सौ वर्ष

शासनकालके उपरान्त तथा योरीतोमो द्वारा सैनिकवर्गके आधिपत्यकी नींव पड़ी उसके साढ़े छः सौ वर्ष बाद फिर साम्राज्यका शासन स्वयं सम्राट् के हाथमें आ गया।

परन्तु इस पुनरभ्युदयके उषःकालके समय देशमें बड़ा गड़बड़ मच रहा था। एक समालोचक लिखता है, "बाकुफू (तोकुगावासरकार) उठा दी गयी और सम्राट्सत्ता की पुनः स्थापना हुई; परन्तु इस पुनःस्थापित सरकारका देशके भावी उद्योगके सम्बन्धमें कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था, विदेशोंके प्रश्नके सम्बन्धमें कुछ भी योजना सोची नहीं गयी थी और यही प्रश्न केयीके[1] आरम्भहीसे साम्राज्यके लिये सबसे महत्त्वका प्रश्न हो रहा था। अब भी साम्राज्यवादियों तथा शोगूनविरोधियोंकी धुनकी ज्वाला उनके धधकते हुए हृदयोंको अन्दरही अन्दर भस्म कर रही थी पर उनमें एक भी मनुष्य इस योग्य न निकला जो साम्राज्यको अखण्डशः एक करने तथा देशकी स्वाधीनताको स्थिर रखनेवाली कोई योजना उपस्थित करता। शोगूनके त्यागपत्रमें लिखा था कि, "यदि 'राष्ट्रकी बहुधा प्रतीत निष्पक्ष सम्मतिके' अनुसार सम्राट्-सभा द्वारा राज्यका शासन हो और हम सब अन्तःकरणसे एक हो कर देशकी रक्षा करें तो यह निश्चय है कि साम्राज्य संसारके राष्ट्रोंकी पंक्तिमें बैठने योग्य हो सकेगा।" परन्तु शोक! इन्हीं शब्दोंसे प्रकट हो रहा है कि उस समय राज्यमें कैसा अन्धेर मच रहा था।

---

१. केयी संवत्सरका नाम है। केयी संवत्के छठे वर्षमें अमरीकन सेनापति पेरी जापानमें आया था।

परन्तु इस अन्धकारके होते हुए भी पुनःस्थापनाका महत्त्व प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणपर स्पष्टतया अङ्कित था। शोगूनके त्यागपत्रसे तथा उन्होंने जो बातें कुछ विदेशी प्रतिनिधियोंसे कहीं हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस राजनीतिक अवस्थान्तरका कारण क्या हुआ। यह मालूम होता है कि जोइतो, काइकोकुतो, साम्राज्यवादी, सैनिकसत्ता-विरोधी और स्वयं सैनिकवर्गके प्रायः प्रत्येक व्यक्तिको राष्ट्रीय एकीकरणकी अत्यावश्यकता प्रतीत हो चुकी थी परन्तु इस-की पूर्तिके साधनोंके सम्बन्धमें बड़ा ही मतभेद था ; क्यों-कि उनके स्वार्थ, विचार और स्वभाव भिन्न भिन्न थे। परन्तु मतभेदको भूलकर राष्ट्रीय एकीकरणको सब लोगोंने अपनी अपनी दृष्टिका केन्द्र बनाया था। यह सच है कि शास-नसुधारसम्बन्धी कोई कार्यक्रम निश्चित कर सामने रखना उस घबराहटके समय किसीसे भी न बन पड़ा—पर वे हृदयसे इस बातको चाहते थे कि किसी न किसी तरह राष्ट्र एक हो जाय और उसपर सम्राट्का प्रत्यक्ष शासन हो।

शासनसङ्गठनकी पद्धति वे अपनेही देशके इतिहासमें ढूँढने लगे और वह शासनपद्धति उन्होंने स्वीकार की जो कि ताल्लुकेदारोंके शासनके पूर्व देशमें प्रचलित थी और जिस शासनमें राष्ट्र एकजीव था। वह शासन सम्राट्का प्रत्यक्षशासन था। उसीके अनुसार नयी शासनपद्धति यथातथा निर्माण की गयी। शासक-मण्डलके मुख्य स्वयं सम्राट् बनाये गये जो कि उस समय १५ वर्षके एक बालक थे। उन्हें मन्त्रणा देनेके लिये एक मन्त्रिमण्डल बना जिसमें एक प्रधान मन्त्री (जो कि राजवंशमेंसे चुन लिये गये थे), एक सहायकप्रधान मन्त्री और सात अन्य मन्त्री अर्थात्

धर्ममन्त्री,[१] स्वराष्ट्रसचिव, परराष्ट्रसचिव, अर्थमंत्री, सेनासचिव, न्यायमन्त्री तथा कानूनसचिव नियुक्त किये गये। इस मन्त्रिमण्डलकी सहायताके लिये भी १८ परामर्शदाताओंकी एक सभा बनायी गयी जिसका दर्जा मन्त्रिमण्डलसे नीचा होनेपर भी उसमें हर तरहके सुधार-पक्षपातियोंका समावेश हुआ था और उस समयके सभी कर्तव्यपरायण तथा प्रभावशाली लोकनेता उसमें सम्मिलित थे।

इस प्रकार नये शासकमण्डल या सरकारने शासनकार्य करना आरम्भ किया। पर यह बात यहाँ ध्यानमें रखनी चाहिये कि उस समय सरकारकी आयका कोई स्थायी तथा विशेष साधन नहीं था; सम्राट्की भूमिसे जो आय होती थी वही थी। अब भी देशमें अर्धस्वाधीन ताल्लुकेदारोंकी बची बचायी रियासतें चल रही थीं। इसलिये गिजिओ (मन्त्रिमण्डल)[२] तथा सानयो अर्थात् परामर्शदात्री सभाने मिलकर यह विचार किया कि, "यद्यपि राजवंशके हाथमें अब शासनसत्ता आगयी है तथापि शासनव्ययके लिये उसके पास आयका कोई साधन नहीं है और इसलिये तोकुगावा तथा अन्य ताल्लुकेदार घरानोंसे रुपया वसूल करना चाहिये।" और यही विचार स्थिर हुआ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जिस सरकारने तोकुगावाके अधिकार छीनकर शोगूनपदको नष्ट कर दिया

१ यह एक ध्यानमें रखने योग्य बात है कि सप्तप्रधानोंमें प्रधान स्थान धर्ममन्त्रीको दिया गया है।

२ गिजिओ अर्थात् मन्त्रिमण्डलका यह कार्य था कि राज्यकी सब बातोंपर वे विचार कर सोसाई या प्रधान मन्त्रीको सलाह दें और सानयोका यह काम था कि वह मन्त्रियोंकी सहायता--सहकारिता किया करें।

और जो अन्य ताल्लुकेदारवंशोंकी भी यही गति करनेवाली थी उस सरकारके ख़जानेमें तोकुगावा या अन्य लोग क्यों रुपया भरें ? इन सब लोगोंने मिलकर शस्त्रके बलसे नये शासकमण्डल और उसके केन्द्र राजसभाको ही क्यों नहीं दबा दिया ? यदि वे चाहते तो उनके लिये ऐसा करना उस समय कुछ भी कठिन न था। यह एक बड़ीही विचित्र बात है कि शोगून और दाइमियो लोग अपने प्रचुर धन और अस्त्र-शस्त्रसे जो काम नहीं कर सके वह काम नयी सरकारने कर डाला जिसके पास न धन था, न फौज थी और न जंगी जहाज ही थे। स्वयं शोगून केकीने विदेशोंके प्रतिनिधियोंसे कहा था कि, सम्राट्की सार्वभौम सत्तामें किसीको सन्देह नहीं है। यदि सम्राट्के प्रति यह श्रद्धा न होती तो इस शान्तिके साथ यह महान् राजनीतिक परिवर्तन भी कदापि न होने पाता और न नयी सरकार वह काम कर पाती जिसे शोगून और दाइमियो करनेमें असमर्थ हुए; इतना ही नहीं प्रत्युत यदि सम्राट्की पुनःस्थापनाके पक्षपाती नेताओंने यह न जाना होता कि जापानको परचक्रका भय है और उस परचक्रमें जापानकी स्वाधीनता हरण होनेवाली है और यदि जापानी लोग एकही विचार, एक ही आचार और एक ही परम्पराके एकजातीय लोग न होते तो ऐसा आमूल सुधार, राष्ट्रके पुनःस्थापनके रूपमें ऐसा एकीकरण इतने थोड़े समयमें ऐसी शान्तिके साथ होना कदापि सम्भव न होता।

अब हमें यह देखना चाहिये कि पुनः स्थापनाके उपरान्त कैसे कैसे एक एक महत्त्वके सुधार जापानमें होने लगे।

नये शासकमण्डलके सुधारवादी नेताओंने सम्राट्-संभा-

में बैठकर अपना कार्य आरम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने दरबारकी पुरानी और भद्दी रीतियोंको उठा दिया। दरबार तथा वंशपरम्परासे प्राप्त एकान्तवास तथा अकर्म्मण्यताको इन्होंने दूर कर दिया; वे नयी बातें, नये विचार और नये काम सोचने लगे और छोटे बड़ेका ख़्याल न कर हर श्रेणीके योग्य तथा विद्वान् पुरुषोंको बुलाकर उनसे परामर्श लेने लगे। पुरानी लकीरके फ़कीर जापान-दरबारके लिये यह बिलकुल एक नयी बात थी। अबतक प्राचीन परम्परा और रीतिनीतिसे जापानका राजदरबार इस तरह बँधा हुआ था जैसे अस्थिसे मांस। इस आकस्मिक और आमूल परिवर्तनको देखकर जापानी लोग आश्चर्यचकित हो गये और इस पुनःस्थापनाको वे 'इशिन' अर्थात् 'चमत्कार' कहने लगे।

इसके उपरान्त सरकारने विदेशसम्बन्धके प्रश्नपर दृष्टि डाली। इस प्रश्नका बहुत शीघ्र हल हो जाना बहुत ही आवश्यक था। अबतक सम्राट्-सभाका व्यवहार विदेशसम्पर्कके सर्वथा विरुद्ध रहता आया था। वास्तवमें जोइतो अर्थात् सम्पर्कविरोधियोंने तोकुगावासरकारको मेट देनेकी चेष्टा इसी आशासे की थी कि जब सम्राट् अधिकारारूढ़ होंगे तो समस्त राष्ट्रके संयुक्त उद्योगसे ये विदेशी 'वहशी' निकाल बाहर किये जायँगे। अबतक विदेशसम्पर्कविरोधकी आग कहीं कहीं धधक रही थी और लोग बड़ी उत्सुकतासे यह देख रहे थे कि देखें, अब सरकार विदेशियोंसे क्या व्यवहार करती है।

एचिज़न, तोसा, चोशिउ, सत्सुमा, हिज़न और आकीके बड़े बड़े दाइमियोंने विदेशसम्पर्कनीतिके सम्बन्धमें सरकारके पास एक मेमोरियल (आवेदनपत्र) भेजा। उस पत्रमें

लिखा था कि "इस समय सरकारके सामने जो जो काम महत्त्वके हैं उनमें हमारी रायमें सबसे महत्त्वका काम यह है कि सरकार विदेशसम्पर्कके सम्बन्धमें अपनी नीति स्पष्टतया प्रकट कर दे।...अबतक साम्राज्य अन्य देशोंसे अलग रहा है और उसे संसारकी गतिका कुछ भी परिचय नहीं है। हम लोगोंका केवल यही उद्देश्य रहा कि किसी झंझटमें न पड़ना पड़े। परन्तु इस तरह हम लोग दिन दिन अवनत होते जा रहे हैं और यह भय होता है कि यदि हमारी यही गति रही तो एक दिन हमें विदेशी शासनके जुएमें अपनी गर्दन देनी पड़ेगी। हमारी प्रार्थना है कि सम्राट्-सभाके कर्तव्यपरायण पुरुष आँखें खोलकर इस विषयपर विचार करें और अपने मातहत लोगोंसे अनन्यमन होकर मिलें जिसमें कि विदेशियोंमें जो जो गुण हों उनके ग्रहणसे हमारी त्रुटियाँ दूर हों और हमारा राज्य युग युग बना रहे।"

अन्तमें दरबारने एक अनुष्ठानपत्र निकाला और यह प्रकट किया कि हम लोग जो चाहते थे वह तोकुगावा-सरकारकी गलतीके कारण कुछ भी न हो सका। अब तो दशाही बिलकुल बदल गयी है और अब सिवाय इसके कि विदेशी राष्ट्रोंसे हम मैत्री और शान्तिकी सन्धि करें, और कोई उपाय नहीं रहा और इसलिये क्या छोटे और क्या बड़े समस्त जापानियोंको चाहिये कि विदेशियोंको जो अधिकार दिये गये हैं उनकी मर्यादा स्वीकार करें। इसी समय सम्राट्ने विदेशोंसे अपने हार्दिक मैत्रीभावका उन्हें विश्वास दिलानेके लिये तथा लोगोंपर सरकारकी विदेशसम्पर्कसम्बन्धी निश्चित नीति प्रकट करनेके लिये विदेशोंके प्रतिनिधियोंसे दरबारमें भेंट की। यह घटना संवत् १९२५ में हुई और जापान-

साम्राज्यकी उस प्राचीन राजधानीमें बड़ी भारी खलबली पड़ गयी। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि इस घटनासे जापानियोंके मनपर क्या प्रभाव पड़ा। इस समाचारके चारो ओर फैलतेही कि 'लाल दाढ़ीवाले वहशियोंसे' आज हमारे सम्राट्ने दरबारमें भेंट की है, समस्त विदेशसम्पर्क-विरोधियोंने अपनी सारी आशाओंको परित्याग कर दिया। इस प्रकार जिस समस्याकी पूर्ति करनेमें तोकुगावासरकारके नाकों दम आ गया था उस समस्याकी सदाके लिये पूर्ति हो गयी।

सुधारवादी नेताओंने इसके उपरान्त दूसरा काम यह किया कि राजधानीको पुरानी राजधानी क्योतोसे हटाकर शोगूनकी राजधानी येदो (आधुनिक तोकिओ) में स्थापित किया। ऐसा करनेमें मतलब यह था कि क्योतोमें परम्परासे जो बुराइयाँ प्रचलित हो गयी थीं उनसे दरबारका छुटकारा हो और अबतक लोगोंका जो यह एक आम ख्याल था कि हमारे देशमें दो राजधानियाँ हैं, एक क्योतोमें जो नाम मात्रकी राजधानी है और दूसरी येदोमें जहांसे वास्तविक शासन होता है, यह ख्याल बिलकुलही जाता रहे। इस प्रबन्धका भी कुछ विरोध हुआ। दरबारके कुछ लोग और प्राचीन राजधानीके नागरिक इसके प्रतिकूल थे। फिर भी, जो निश्चय हो चुका था उसे कार्यमें परिणत करनेमें कुछ भी बिलम्ब न लगा।

राजधानी बदलनेके कुछ ही पूर्व एक बड़ी भारी घटना हो गयी। इस घटनापर लोगोंका उतना ध्यान नहीं गया जितना कि नयी सरकारके अन्य नये सुधारोंपर, पर उसका जो परिणाम हुआ है उससे उसे आधुनिक जापानके इतिहास-

की एक अत्यन्त महत्त्वकी घटना समझना चाहिये। सम्राट्ने शपथ लेकर उस सिद्धान्तपञ्चकको घोषित किया जिसपर कि नवप्रस्थापित सरकारने शासनकार्य करना निश्चय किया था। सम्राट्की यही घोषणा बादको 'सिद्धान्तपञ्चकका शपथ-पत्र' के नामसे प्रसिद्ध हुई। इस शपथपत्रने जापानके इतिहासमें वही काम किया है, जो इंग्लैंडके इतिहासमें मैग्ना-चार्टाने। घोषणाका सारांश यह है—

१. विस्तृतप्रदेशसे निर्वाचित सदस्योंकी एक सभा स्थापित की जायगी और राष्ट्रकी सब बातें पक्षपातरहित बहसके अनन्तर निश्चित होंगी।

२. राष्ट्रकी शासनसम्बन्धी सब बातें शासक और शासित दोनोंके सहकारी उद्योगसे की जायँगी।

३. सब लोगोंको—राजकर्मचारी, सैनिक तथा अन्य सभीको—विधिसङ्गत इच्छाओंके पूर्ण होनेकी आशा दिलाकर उन्हें सुस्त और असन्तुष्ट होनेसे रोकना होगा।

४. वे पुराने रिवाज जो बिलकुल वाहियात (भ्रष्ट) हैं, छोड़ दिये जायँगे और सब काम न्याय और सचाईसे किये जायँगे।

५. ज्ञान और पाण्डित्य संसारभरसे ग्रहण करना होगा, और इस प्रकारसे साम्राज्यकी नींव को सुदृढ़ करना होगा।

सिद्धान्तपञ्चकके प्रथम सिद्धान्तके अनुसार संवत् १६२६में कोगिशो नामकी सभा स्थापित की गयी। इस सभामें प्रायः देशके ताल्लुकेदार लोग थे। इस सभाका उद्देश्य यह था कि राष्ट्रके विचार और शासनकर्त्ता लोगोंकी सम्मति मालूम हो। इस सभाके अधिवेशनमें कई महत्त्व-

के सुधार सूचित किये गये। यथा भूमिकर और कर्ज पर ब्याजकी निश्चित दर को दूर करना, अन्त्यज जातिविशेषको[1] 'एता' कहनेकी मनाहो, और प्राणदण्डको नियमित कर देने-वाले एक कानूनका बनाया जाना इत्यादि ये सब प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्वके थे और इनसे जापानके सामाजिक आचारविचार-में बड़ा भारी परिवर्तन अवश्यम्भावी था। उदाहरणार्थ, दो तलवारें बाँधकर चलना, सामुराइयोंका एक विशेष अधिकार था। किसान, कारीगर या सौदागर से उनकी पार्थक्य इसी अधिकार से प्रतीत होती थी। सामुराइयोंकी ही यह एक विशेष मर्यादा थी।[2] इस प्रथा को उठाने,

---

१ एता या 'अन्त्यज' का झगड़ा अभी तै नहीं हुआ है। कुछ लोगोंका कहना है कि ये लोग जापानमें ताल्लुकेदार-शासनपद्धतिकी नींव डालनेवाले योरीतोमोके दासापुत्र हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि १६ वीं शताब्दीके अन्तमें जापानके नेपोलियन हिदेयोशीने कोरियामें एक सेना भेजी थी वह सेना कोरियासे जिन कैदियोंको पकड़कर ले आयी उन्हींकी सन्तान ये एता लोग हैं। और कुछ लोग यह भी कहते हैं कि बौद्धधर्मके प्रचारसे प्राणिवध एक महापाप समझा जाने लगा, अतएव जो लोग पशुवधादि व्यापार करते थे उनकी यह एक अलग जाति ही बन गयी। एता लोग ऐसे ही काम याने पशुवध करना, चमड़ा कमाना, जूते बनाना, कब्र खोदना, मुर्दे गाड़ना ऐसे काम किया करते थे।

२ ताल्लुकेदारोंके शासनकालमें तलवारकी यह मर्यादा थी कि वह सामुराइयोंकी प्रत्यक्ष आत्मा ही समझी जाती थी। सामुराइयोंको दो तलवारें बाँधनेका अधिकार था। एक तलवार बड़ी और एक उससे छोटी होती थी। बड़ी तलवार इसलिये कि उससे वह शत्रुका संहार करे। छोटी तलवारका यह मतलब था कि यदि उसके गौरवपर किसी प्रकारका कलङ्क लगा और किसी उपायसे वह मिट न सका तो इस कृपाणसे वह अपना जीवन समाप्त कर दे।

और अन्त्यज जातिका कलङ्कित नाम एता उड़ानेके प्रस्तावोंका तात्पर्य यह था कि समाजसे श्रेणिविशेषकी प्रधानताका लोप और समाजकी वर्णव्यवस्थाका नाश हो जाय। कोगिशोमें इन विषयोंकी चर्चा तो हुई परन्तु आश्चर्य इस बातका है कि इस चर्चासे सभासदोंको दिलचस्पी न हुई क्योंकि एक तो लोग इस चर्चाके योग्य नहीं थे और दूसरे कालकी गतिको कौन रोक सकता है इस तरह सभा हुई न हुई सब बराबर हुआ और संवत् १९२७ में सभा स्थगित की गयी और अन्तमें संवत् १९३० में सभा ही उठादीगयी। पर सभामें जिन जिन सुधारोंकी चर्चा हुई थी, सरकारने आगे चलकर वे सब सुधार कार्यमें परिणत कर दिये।

इधर सरकार शासनसम्बन्धी नाना प्रकारके सुधार करनेमें लगी हुई थी और उधर ईशान (पूर्वोत्तर) प्रान्तोंमें बड़ा असन्तोष और गड़बड़ मच रहा था। पूर्वके कुछ दाइमियोंने तो पुनःस्थापनाका महत्त्वही नहीं समझा, क्योंकि वे साफ़ साफ़ यह देख रहे थे कि कुछ दरबारी और पश्चिमके कुछ दाइमियो मिलकर सब राजकाज चला रहे हैं। पूर्वी दाइमियोंने विशेषतः कुवाना और एइज़ूके दाइमियोंने यह समझा कि सत्सुमा, चोशिऊ, आकी, हिज़न व इचीज़नके दाइमियोंने बालक सम्राट्को पट्टी पढ़ा दी है और स्वयं राज्यका उपभोग कर रहे हैं। यह सोचकर उन्होंने पदच्युत शोगून केकीको अपना अधिकार पुनः प्राप्त करनेके लिये उभारना आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि सम्राट् और तोकुगावा खान्दानके बीच लड़ाई छिड़ गयी। सम्राट्की ओरसे पश्चिमी दाइमियोंके उपनायक अर्थात् सामुराई लोग थे और तोकुगावाकी ओरसे उसके अनन्य साथी लोग थे। भयङ्कर

रक्तपात आरम्भ हुआ और पश्चिमी तथा पूर्वी दाइमियोंके बीच जो पुरानी अदावत थी वह भी इस मौकेपर भड़क उठी। परन्तु बहुत थोड़ेही समयमें पूर्वीय सेनाओंको बारबार हार-कर सम्राट्की शरण लेनी पड़ी।

संवत् १९२६ के मध्यभागमें देशमें ओरसे छोरतक शान्ति स्थापित हो गयी। नवीन सरकारका दबदबा बैठ गया। पर कुछ ही समय बाद एक और सङ्कट उपस्थित हुआ जिसे सुधारवादी नेताओंको हर हालतमें दूरही कर देना चाहिये था क्योंकि ऐसा किये बिना उनका उद्देश्यही सफल न होता। वह सङ्कट यह था कि सरकारको अब ताल्लुकेदारी ही उठा देनी थी क्योंकि इसके बिना राष्ट्रीय एकीकरण असम्भव था। सम्राट्की पुनःस्थापनाका मतलब ही यही था यद्यपि आरम्भमें यह बात किसीको सूझी नहीं थी। परन्तु अब उन्होंने स्पष्ट ही देख लिया कि जबतक एक एक दाइमियो अपनी अपनी रियासतको भोग रहा है और मनमाना खर्च और कानून चला रहा है तबतक केन्द्रस्थ सरकारकी सुदृढ़ स्थापना नहीं हो सकती। पर उन सैकड़ों दाइमियोंसे उनके उन नृपतुल्य अधिकारोंको, इनकी उस मानमर्यादाको और उनके उन अधिकृत प्रदेशोंको जिन्हें वे कई शताब्दियोंसे भोगते आये हैं, अब छीन लेना कोई आसान काम नहीं था। इसके लिये यूरपने सैकड़ों वर्ष रक्तकी नदियाँ बहायी हैं। जापानमें यह काम कैसे हुआ यह एक देखने योग्य बात होगी।

उस समय जोर जबर्दस्तीसे सरकार इस कामको कदापि न कर सकती थी, क्योंकि उसके पास न कोई सङ्घटित सेना थी और न द्रव्य ही था। जो कुछ आय थी वह ताल्लुकेदारोंसे ही होती थी। सरकारका जो कुछ बल था वह यही था कि

कतिपय सामुराई उसके सच्चे भक्त थे। येही सुधारके नेता थे और प्रायः पश्चिमी प्रतापशाली दाइमियोंके आश्रित लोग थे। सर्वसाधारण सम्राट्की सार्वभौम सत्ताको अन्तःकरणसे मानते थे। सम्राट्वंशके प्रति उनकी स्नेहमयी श्रद्धा थी और उन्हें इस बातकी भी प्रतीति हो चुकी थी कि यदि हमारे देशमें एकता स्थापित न होगी तो विदेशी राजाओंसे बचना हमारे लिये असम्भव हो जायगा। परन्तु सैन्यशक्ति तथा अन्य उपकरण और साधन अभीतक दाइमियो लोगोंकेही हाथमें थे और सरकारको जो काम करना था वह तो इन्हींके स्वार्थोंपर कुठाराघात करनेवाला था। सरकारने किस खूबीसे इस उभय सङ्कटको दूर करके अपना काम किया है, यह भी इस शासनक्रान्तिनाटकका एक बड़ाही मनोहर दृश्य है।

किदो नामक एक पुरुषने यह सूचना दी कि पहले यह उद्योग किया जाय कि दाइमियो लोग राष्ट्रकल्याणके हेतु खुशीसे अपनी जागीरें सरकारको दे दें। यह सूचना ओकूबो, साइगो तथा अन्य लोगोंको भी स्वीकृत हुई। किदो, ओकूबो और साइगो नवीन सरकारके प्रधान पुरुष थे और इसके साथ ही किदो चोशिउका एक प्रधान उपनायक भी था और बाकी दो सत्सुमावंशके प्रमाण पुरुष थे। सबसे पहले उन्होंने सत्सुमा, चोशिउ, तोसा और हिज़नके प्रबल पराक्रमी पश्चिमी दाइमियोंको राज़ी कर लिया और इन दाइमियोंने सबके सामने अपनी अपनी जागीरें देशकल्याणके हेतु सम्राट्को अर्पण कर दीं। इसके साथ उन्होंने सरकारके पास एक आवेदनपत्र भेजा जिसमें निम्नलिखित बातें थीं—"साम्राज्य स्थापनकालसे देशकी शासननीतिका यह एक अटल सिद्धान्त रहा है कि हमारे प्रथम सम्राट्के वंशज ही हमारे ऊप

सदा राज्य और शासन करते रहें। साम्राज्यमें एक भी भूमि-खण्ड ऐसा नहीं है जो सम्राट्का न हो और एक भी अधि-वासी ऐसा नहीं है जो सम्राट्की प्रजा न हो, यद्यपि बीचमें सम्राट्सत्ताके क्षीण हो जानेसे सैनिकवर्गने सिर उठाया था और भूमिपर अधिकार करके उसने उसे अपने धनुषबाणके पारितोषिकस्वरूप आपसमें बाँट लिया था। पर अब जब कि सम्राट्की सत्ता पुनः स्थापित हो चुकी है, हम लोग उस भूमिको अपने अधिकारमें कैसे रख सकते हैं जो भूमि कि सम्राट्की है और हम लोग उन लोगोंका शासन भी कैसे कर सकते हैं जो कि सम्राट्की प्रजा हैं। इसलिये हम लोग अपनी समस्त सैन्यस्वत्वाधिकृत भूमि श्रद्धाके साथ सम्राट्के चरणोंमें अर्पण करते हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि सब कानून, सैन्यसम्बन्धी सब नियम, दीवानी और फौजदारी कायदे, तथा छोटेसे छोटे आज्ञापत्र भी सम्राट्के दरबारसे ही निर्णीत और घोषित हों जिससे कि समस्त देश एक ही सुशासनके अधीन रहे। इसी उपायसे हमारा देश भी संसार-के अन्य शक्तिशाली देशोंके समकक्ष होगा।"

इस उच्चविचारप्रचुर आवेदनपत्रने जापानियोंके देश-भक्तिपूर्ण हृदयपर वह काम किया जो कि शस्त्रास्त्रसे सुस-ज्जित सैनिकगणके भयानक प्रदर्शनसे कदापि न होता। इन चार स्वार्थत्यागी दाइमियोंका उदाहरण वायुवेगसे देशमें फैल गया और एक एक करके सब दाइमियोंने उनका अनुकरण किया। २७६ दाइमियोंमेंसे केवल १७ बाकी रह गये। इससे मालूम होता है कि दाइमियोंने अपनी इच्छा और रजामन्दी से ही अपनी वंशपरम्परागत भूमि पूरोतौरसे सरकारके हवाले की। किसीने यह नहीं कहा कि सरकारने जबर्दस्ती की। यही

बात यदि अमरीकामें होती और संयुक्तराष्ट्रकी सरकार अमरीकाके ट्रान्स-काण्टिनेण्ट-रेलवेके मालिक मि० हारीमान या मि० हिलसे कहती कि अपनी रेलवे हमें दे दो और उसका उचित मूल्य ले लो तो वहाँके स्वातंत्र्यवादी लोग सरकारके इस कार्यको जब्ती और जबर्दस्ती कहनेमें कोई कसर न करते। अस्तु। जापानमें यह सब कुछ एक ऐसे अवसरपर हुआ है जब उसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। इससे जापानी स्वभावकी विशेषता प्रकट हो जाती है।

यह अनन्य देशभक्ति तो थी ही पर इसके साथ ही एक और बात भी थी जिसके कारण इस दुःसाध्य कार्यमें सफलता प्राप्त हो सकी। बहुतसे ताल्लुकेदारवंशोंका यह हाल था कि उनका सब कामकाज उनके उपनायक या कारिन्दे लोग ही देखा करते थे और प्रायः येही कारिन्दे सुधारवादी नेता थे। इसलिये जब ये लोग अपने मालिकसे किसी कार्यके करनेका प्रस्ताव करते तो मालिक उसका विरोध नहीं करते थे।

जब दाइमियों लोगोंने अपनी अपनी जागीरें सरकारको अर्पण कर दीं तो ये ही लोग उन जागीरोंपर शासक नियुक्त किये गये और उनकी जागीरोंसे जो पहले उन्हें आमदनी मिला करती थी उसका दसवाँ हिस्सा उन्हें वेतनरूपसे दिया जाने लगा और उनके जो उपनायक या कारिन्दे थे उन्हें भी एक निश्चित वेतनके साथ अफसरीकी जगहोंपर तैनात कर दिया गया। पर जो सुधारवादी नेता देशके सम्पूर्ण एकीकरणका प्रयत्न कर रहे थे उन्हें यह प्रबन्ध भी शीघ्र ही असन्तोषजनक प्रतीत होने लगा। अब यह देख पड़ने लगा कि जबतक भूतपूर्व दाइमियों और उनके कारिन्दे लोगही उनकी जागीरोंपर तैनात हैं तबतक ताल्लुकेदार-

शासनपद्धतिकी सब बुराइयाँ दूर नहीं हो सकतीं। इसलिये सरकारने अब इन ताल्लुकेदारोंको ही शासनकार्यसे हटा देनेका मनसूबा बाँधा। यह मनसूबा पूरा करनेके लिये भी सरकारने सामका अवलम्बन किया।

इवाकुरा, किदो और ओकुबो जोकि राजकार्यमें पूर्ण पटु थे, पश्चिमके भूतपूर्व दाइमियोंसे बातचीत करने और ताल्लुकेदार-शासनपद्धति बिलकुलही उठा देनेकी बातपर उन्हें राज़ी करनेकेलिये भेजे गये। दाइमियोंने कुछ भी आपत्ति नहीं की और सरकारकी नीतिको शिरोधार्य माना। संवत् १९२८ में जापानके महाराजाधिराजकी ओरसे एक घोषणापत्र निकला जिसमें यह घोषित हुआ कि आजसे दाइमियोगिरीका अन्त हुआ और अबतक जो दाइमियो जागीरोंपर सरकारकी ओरसे शासन करते थे वे भी अब इस शासनभारसे मुक्त किये जाते हैं। साथही यह भी घोषित हुआ कि अब इसके बाद स्वयं मुख्य सरकारही शासकोंको नियुक्त करेगी अथवा दूर करेगी। इस प्रकार तोकुगावा शासनके पतन होनेके बाद ४ ही वर्षमें पुनःस्थापनाका कार्य अर्थात् एक ही सरकारके अधीन समस्त राष्ट्रका एकीकरण पूर्णरूपसे फलीभूत हुआ।

द्वितीय परिच्छेद

राष्ट्रसङ्घटनसम्बन्धी उद्योगकी प्रथम अवस्था।

प्रथम परिच्छेदमें यह दिखलाया गया है कि सं० १९२४ की पुनः स्थापनाके पूर्व जापानकी राजनीतिक अवस्था क्या थी और इस प्रकार राज्यतंत्रमें ऐसी क्रान्ति होनेके क्या क्या कारण हुए और अन्तमें उनका क्या परिणाम हुआ। इस परिच्छेदमें यह दिखलाया जायगा कि साम्राज्यको सङ्घटित स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ, किस प्रकार राष्ट्रसङ्घटनका उद्योग हुआ—अर्थात् प्रातिनिधिक राज्यसंस्थाओंके विचार जो वास्तवमें मूलतः पश्चिममें ही मिलते हैं जापानियोंमें कहाँसे उत्पन्न हुए, इनविचारों और कल्पनाओंका उन्होंने अपने देशके राजकारणमें कैसे और क्या उपयोग किया, और कैसे उन्होंने प्रातिनिधिक सँस्थाएँ स्थापित कीं।

जापानमें प्रातिनिधिक राज्यसङ्घटनका उद्योग अन्य देशों की देखादेखी राजाको पदच्युत करने अथवा "निधि और प्रतिनिधि" का प्रश्न हल करनेके लिये नहीं आरम्भ हुआ। किन्तु सम्राट्की पुनःस्थापनाके संस्कारका ही यह अवश्यम्भावी परिणाम था। यह एक ऐसा संस्कार था जो देशमें यूरपकी नकल उतारनेकी बुद्धिसे ही उत्पन्न हुआ था, चाहे इस बातको संस्कारक लोग शुरूहीसे जानते हों या न जानते हों। जापान राष्ट्रकी छिन्न भिन्न अवस्था, पाश्चात्य राष्ट्रोंकी तुलनामें जापानियोंकी अवनत दशा और जापान भूमिके महत्व व गौरवको कायम रखनेकी उनकी सदिच्छा, इन्हीं बातोंने तो जापानियोंको पाश्चात्योंका अविलम्ब अनुकरण

करनेके लिये उद्दीपित किया था। जापानियोंके दिलमें यह आशा थी कि पाश्चात्योंका अनुकरण करनेसे जापानकी दशा सुधर जायगी और यूरप व अमरीकाके देशोंके समान यह भी व्यापार व कलाकौशलमें निपुण और समृद्ध होगा। संवत् १९५४ में प्रतिनिधि-सभाके एक अधिवेशनमें काउण्ट ओकुमाने (जो उस समय वैदेशिक सचिव या मन्त्री थे) कहा था, "जब हम इस बातका अनुसन्धान करते हैं कि मेजी[१] कालकी वैदेशिक नीतिमें क्या क्या खास बातें थीं तो यह पता लगता है कि पुनःस्थापनापर सम्राट्के प्रचारित आज्ञापत्रमें लिखे अनुसार उस समय अन्य देशोंके समकक्ष होनेकी उत्कण्ठा ही सबसे प्रबल थी और पुनःस्थापनाके उपरान्त जितने राष्ट्रीय परिवर्तन हुए हैं उनके मूलमें यही उत्कण्ठा काम करती हुई देख पड़ती है। लोग इस बातको समझ गये थे कि अन्य शक्तिशाली देशोंकी बराबरी लाभ करनेके लिये हम लोगोंको समयके अनुसार अपनी विद्या और शिक्षा, तथा राष्ट्रीय संस्थाओंमें परिवर्तन करना होगा। इसी कारण ताल्लुकेदारोंके स्थानमें हाकिम नियत किये गये, चलनसार सिक्कोंका संस्कार हुआ, अनिवर्य सैन्यसेवाका कानून बना, बहुतसे पुराने कानून अदल बदल हुए और नये बनाये गये, स्थानिक सभाएँ स्थापित हुईं, और सर्वसाधारणको स्थानिक स्वराज्य दिया गया

१ वर्तमान जापान-सम्राट्के पिता स्वर्गीय सम्राट् मुत्सुहितो 'मेजी' या 'मिजी' कहलाते थे। इस शब्दका अर्थ है, "प्रकाश—पूर्ण—शान्ति"। मुत्सुहितो वास्तवमें बड़े शान्त, सुविज्ञ और प्रजापालक राजा थे। इन्हींके समयमें सम्राट्-सत्ता पुनःस्थापित हुई, जापानी पार्लमेंट बनी और जापानका नाम दिग्दिगन्तमें फैला। इसीलिये इनके शासन कालको 'मेजी-काल' कहते हैं। इन सम्राट्की मृत्यु १९७० में हुई।

जिसके ही कारण अन्तमें जाकर साम्राज्यसङ्घटनका रूप भी बहुत कुछ परिवर्तित हुआ। इसी राष्ट्रीय नीतिने अथवा जिसे 'देशका संसारके लिये उपयुक्त होना और आगे पैर बढ़ाना' कहते हैं उसीने या यों कहिये कि अन्य शक्तिशाली राष्ट्रोंकी बराबरी करनेकी उत्कण्ठाने ही जापानको इस योग्य बनाया है कि संसारमें उसकी इतनी इज़्जत है।"

फिर भी, जापानकी प्रातिनिधिक राज्यपद्धतिका इतिहास लिखनेवाले बहुतसे देशी वा विदेशी लेखकोंने पुनः-स्थापनाके प्रतिज्ञापत्रकी पहली प्रतिज्ञाको ही प्रातिनिधिक राज्यपद्धतिके क्रमका उपक्रम मान लिया है और इसीपर बड़ा ज़ोर दिया है, मानो यही प्रतिज्ञा इस प्रातिनिधिक राज्य-पद्धतिके उद्योगकी जड़ है। यह सच है कि सं० १९३१ में जब रेडिकल अर्थात् आमूलसुधारवादी राजनीतिज्ञोंने प्रातिनिधिक राज्यपद्धतिका आन्दोलन बड़े ज़ोर शोरसे उठाया तो उस समय उन्होंने प्रतिज्ञापत्रकी प्रथम प्रतिज्ञाका अर्थ—जो वास्तवमें बहुत ही अस्पष्ट है—इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया था कि जिससे यह प्रकट हो कि सम्राट्-सत्ता-की स्थापनाके समय सम्राट् प्रातिनिधिक राज्यप्रवर्तन चाहते थे, और इसी बातपर उन्होंने सर्व साधारणकी सभा तुरंत स्थापित करानेकी ज़िद पकड़ी। प्रतिज्ञापत्रका ऐसा उपयोग करनेसे उनके आन्दोलनका ज़ोर बढ़ा क्योंकि 'सम्राट्की प्रतिज्ञा' के नामपर सर्वसाधारणको अपने अनुकूल बना लेना उनके लिये बहुतही सुगम हुआ। इसका विरोध करना किसीके लिये भी संभव नहीं था और सरकारके लिये भी प्रातिनिधिक राज्यसङ्घटनके कार्यसे पीछे हटना कठिन हो गया अर्थात् तुरन्तही उसका परिवर्तन करना पड़ा। परन्तु यह

माननेके लिये कई कारण हैं कि प्रतिज्ञापत्रकी प्रथम प्रतिज्ञाही प्रातिनिधिक राज्यसङ्घटनकी आधारयष्टिका नहीं थी।[१]

'क्वाइगी' शब्दका अर्थ है, कौन्सिल, सभा या कान्फरेन्स। इसका भाषान्तर प्रायः ऐसे अवसरोंपर 'मन्त्रणासभा' किया गया है। परन्तु यह कह देना आवश्यक है कि 'मन्त्रणा' शब्द भाषान्तरकारोंने केवल अपने मनसे लगा दिया है। 'कोरोन' शब्दका अर्थ 'पक्षपातरहित सम्मति' या 'पक्षपातरहित वादविवाद' हो सकता है, पर उसका भी 'सर्वसाधारणकी सम्मति' यह अर्थ नहीं हो सकता। जापानी भाषामें 'सर्वसाधारणकी सम्मति' के लिये एक दूसरा शब्द 'योरोन' मौजूद है। पर भाषान्तरकारोंने 'कोरोन' को ही 'सर्वसाधारणकी सम्मति' समझलिया इसमें उनका यही मतलब रहा होगा कि संवत् १९४६के कांस्टिट्यूशन या प्रातिनिधिक राज्यपद्धतिके आन्दोलनको प्रतिज्ञापत्रसे भी यथेष्ट पुष्टिमिले।

यह तो प्रतिज्ञापत्रकी इबारतकी बात हुई। अब उसके कारण भी देखिये। डाक्टर इयेनागा कहते हैं कि जापानका समस्त जनसमुदाय विदेशियोंके सम्पर्कसे एकाएक क्षुब्ध हो उठा और इसीसे प्रातिनिधिक राज्यपद्धतिकी बात जनसमुदायसे ही उठी। पर डाक्टर साहब यह नहीं बतलाते कि इस आन्दोलनमें प्रतिज्ञापत्रकी उस प्रथम प्रतिज्ञाने क्या काम किया है। कप्तान ब्रिङ्कलेका यह कहना है कि वह प्रतिज्ञा इसलिये घोषित हुई थी कि सात्सुमा या चोशिऊके दाइमियो लोग फिर कहीं शोगून न बनजायँ। पर यह कहते हुए कप्तान

---

१. मूल प्रतिज्ञा इस प्रकार है—हिरोकू काइगी वोओकोशी बाङ्की कोरोन नी केस्सू बेशी।

कि उनसे उनकी हार्दिकता पूर्णरूपेण प्रमाणित हो जाती है। उन्होंने विदेशियोंके सन्धिगत अधिकारोंको मान लिया, दरबारकी कई परम्परागत कुरीतियोंको उठा दिया, जातपाँतका कोई अड़ंगा बिना लगाये हर जातिके योग्य, बुद्धिमान्, विद्वान् व समर्थ पुरुषोंको दरबारमें आसन दिया, पुरानी राजधानी बदल कर नयी कायम की, और दाइमियों तथा उनके प्रतिनिधियोंकी परामर्शसभा कोगिशो प्रस्थापित की। ये सब काम प्रतिज्ञापञ्चकके पालनस्वरूप ही हुए थे।

और एक बात। सम्राट्ने जब प्रतिज्ञा या शपथ की तब प्रातिनिधिक धर्मसभा निम्मार्ण करनेकी उन्होंकी इच्छा थी यह समझ लेना भी भूल है। सम्राट् उस समय १६ वर्षके एक बालक मात्र थे और क्योतोके राजमहलमें ही उनके दिन बीतते थे अर्थात् प्रतिज्ञा उन्होंने अपने मनसे नहीं की, उन्होंने उसका मतलब भी न समझा होगा, केवल 'पुनः-स्थापना' के बुद्धिमान् व चतुर नेताओंकी रायपर ही उन्होंने काम किया था।

उस समय उन नेताओंके मनमें भी यह बात नहीं आयी थी कि सर्वसाधारणके प्रतिनिधियोंकी कोई सभा निम्मार्ण करनी होगी। "एक बहुसंख्यक सभा या कौन्सिल" से उनका मतलब समस्त दाइमियों और उनके प्रतिनिधियोंकी सभासे था। भूतपूर्व शोगून केकीने ही अपने त्यागपत्रमें राज्यकी प्रधान बातों और शासनकी भविष्य नीति निश्चित करनेके हेतु दाइमियोंकी एक कौन्सिल स्थापित करनेकी सूचना दी थी। इसलिये पुनःस्थापनाके नेताओंके लिये यह आवश्यक हुआ कि वे सम्राट्से उक्त प्रतिज्ञा घोषित करनेके

लिये प्रार्थना करें और जनतापर यह बात प्रकट कर दें कि "एक बहुसंख्यक सभा स्थापित की जायगी और राज्यकी सब बातोंपर पक्षपातरहित विचार हो चुकनेपर अथवा राष्ट्रकी सम्मतिके अनुसार कार्य किया जायगा"। 'हिरोकू' शब्दका अर्थ है 'बहुसंख्यक' और इससे नेताओंका यही अभिप्राय था कि वे पूर्वीय दाइमियो लोग जो पुनःस्थापनाके वास्तविक अभिप्रायपर सन्देह करते थे वे भी समझलें कि नवीन शासनमें वे भी सम्मिलित किये जायँगे। वस्तुतः प्रतिज्ञानुसार संवत् १९२६ में जो कोगीशो स्थापित हुई, १९२७ में स्थगित हुई और जो सदस्योंकी रुचि ही उसके काममें न होनेके कारण १९२९ में उठा दी गयी वह दाइमियों और उनके प्रतिनिधियोंकी ही सभा थी। पर यह धर्मपरिषद् याने कानून बनानेवाली सभा नहीं थी, केवल परामर्श देनेवाली सभा थी। इसका कार्य केवल यही था कि राज्यकी प्रधान प्रधान बातोंपर अपनी सम्मति प्रकट करे जिससे सरकारको यह मालूम हो जाय कि सर्वसाधारणकी राय क्या है। १२वीं शताब्दीके इंग्लिस्तानमें नार्मन राजाओंकी परामर्शसभा भी इस कोगीशोसे अधिक प्रभावशाली थी। कोगीशोमें आकर बैठना दाइमियों या उनके प्रतिनिधियोंकी दृष्टिमें कोई बड़ा भारी सम्मान नहीं था, बल्कि वे लोग इससे अपना जी चुराते थे। इसके सदस्योंको कोगीशोसे धन भी नहीं मिलता था। जो कुछ हो, जब कोगीशो स्थगित की गयी तब और जब बिलकुल उठा दी गयी तब भी किसीने कोई आपत्ति नहीं की।

जब देशके शासकवर्ग दाइमियों और सामुराइयोंकी यह हालत थी तब कौन कह सकता है कि प्रतिज्ञात 'बहुसंख्यक

सभामें ' सर्वसाधारणका भी अन्तर्भाव होता था यद्यपि
भी मान लिया कि प्रतिज्ञा प्रकट करनेवालेकी इच्छा थी
' वादविवाद करनेवाली एक व्यवस्थापक सभा ' हो। र
प्रबन्धमें लोग भी भाग लेते हैं, इसकी तो कोई कल्पना
जापानको नहीं थी। हाँ, स्थानीय शासकमण्डलमें मुर
माची योरिआई अर्थात् ग्राम या नगरपञ्चायतें हुआ व
थीं और वे अभी यत्रतत्र वर्तमान भी हैं, पर उनकी गति
उससे आगे नहीं बढ़ी। पुनःस्थापनावाले नेता आरम्भ
जातिभेदको समूल नष्ट करना चाहते थे, यह बात तो
सन्धानसे मालूम हो जाती है, पर इस बातका कोई प्र
नहीं मिलता कि वे राज्यशासनमें भी लोगोंको मताधि
देना चाहते थे।

संवत् १९३० में पहले पहल पुनःस्थापनावाले ?
नेताओंमें प्रातिनिधिक राज्यसङ्घटनकी चर्चा छिड़ी ?
उस समय किदोने जो जापानके एक प्रधान स्वतन्त्र
पुरुष थे और जो हाल में ही युरपकी प्रातिनिधिक सं
ओंको देखकर तथा उनके दर्शनोंसे प्रभावान्वित ह
जापान लौट आये थे—उन्होंने अपने साथियोंके नाम एव
प्रकाशित किया और उसमें प्रातिनिधिक राज्यपद्धतिका
क्रम करनेके लिये सूचित किया। यहींसे वास्तवमें प्र
राजनीतिज्ञ जापानियोंके मनमें प्रातिनिधिक संस्थाओंके
चारोंका आगमन आरम्भ हुआ। परन्तु अभी ये वि
प्राथमिक अवस्थामें बीजरूपही थे। स्वयं किदोने भी न
पद्धतिके प्रवर्तनकी कोई तजवीज नहीं बनायी और प्रति
सभाकी स्थापना करनेके सम्बन्धमें भी वे चुप रहे। इ
तो उन्होंने अवश्य ही कह दिया था कि राज्यके प्रबन्धसे ल

के ही हिताहितका सम्बन्ध है और इसलिये शासकोंकी मर्ज़ी-पर ही सब बातोंका निर्णय होना ठीक नहीं।

इस प्रकार यह निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि प्रातिनिधिक राज्यसङ्घटनका आन्दोलन सम्राट्के प्रतिज्ञापत्रसे आरम्भ नहीं हुआ है। और यह कहना कि सम्राट्के प्रतिज्ञापत्रसे ही प्रातिनिधिक राज्यपद्धतिके आन्दोलनकी उत्पत्ति हुई, बिलकुल झूठ और भ्रमपूर्ण है। इंग्लिस्तानमें माग्नाचार्टा ने ही हाउस आफ कामन्सकी स्थापना की, यह कहना जितना झूठ और जितना सच है उससे अधिक झूठ और कम सच यह है कि प्रतिज्ञापत्रसे ही प्रतिनिधितन्त्र राज्यप्रणालीका आन्दोलन जापानमें आरम्भ हुआ। वस्तुतः **प्रतिज्ञापत्रका यथार्थ महत्व तो इस बातमें है कि सर्वसाधारणकी सहकारितासे राष्ट्रका सङ्घटन करने और पाश्चात्य सभ्यता ग्रहण कर देशकी स्वाधीनता अखण्ड रखने तथा विदेशियोंकी धाकसे उसे स्वतंत्र करनेके लिये देशके नेताओंने दृढ़ निश्चयके साथ जो उद्योग आरम्भ किया उसका यह पूर्व स्वरूप था।** प्रतिज्ञापत्रकी दूसरी, चौथी, और पाँचवीं प्रतिज्ञासे तो यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है कि उस सम्राट्-पत्रके बनानेवालोंकी वस्तुतः यही इच्छा थी। दूसरी प्रतिज्ञा यही है कि राज्यकी शासनसम्बन्धी सब बातें शासक व शासित दोनोंके परस्पर सहकारी उद्योगसे की जायँगी। चौथी प्रतिज्ञा है कि वे पुराने रिवाज जो बिलकुल वाहियात हैं एकदम छोड़ दिये जायँगे और सब काम न्याय और सच्चाईसे किये जायँगे। पाँचवीं प्रतिज्ञा यह है कि ज्ञान और पाण्डित्य,

संसारभरमें घूम फिर कर ग्रहण कियाजायगा, और इस प्रकार साम्राज्यकी नींव सुदृढ़ की जायगी। यह निर्विवाद है कि नयी सरकार, प्रतिज्ञापत्रके घोषित होनेके साथहीसे, इन सिद्धान्तोंका पूर्ण पालन करती थी।

जापानी लोग अपनी शान्तिमयी, दीर्घ निद्रासे अभी ही तो जाग उठे थे और ऐसी मीठी नींदके बाद एकाएक संसारका विशाल चित्रपट सामने आजानेसे और उसमें पाश्चात्य सभ्यताकी ऐहिक सुखसमृद्धि और प्रगति देखनेसे उनकी आँखें चकाचौंध हो गयीं। उन्हें जो अपनी ही सभ्यताका बड़ा भारी घमंड था और विदेशियोंके प्रति जो तीव्र तिरस्कार था वह सब जाता रहा। जब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई तो उतनेही ज़ोरसे उनमें प्रतिक्रान्ति होने लगी। विदेशी मनुष्यों और विदेशी वस्तुओंसे कहाँ तो इतनी घृणा थी पर अब उन्हींकी पूजा आरम्भ हो गयी। इसके साथ ही उनमें देशभक्तिका चैतन्य भी था और इसी संयुक्त चित्तवृत्तिके कारण वे अपने उद्योगोंसे संसारको चकित करने लगे। उन्होंने तुरंत ही प्रत्येक पाश्चात्य वस्तुको ग्रहण करना या उसकी नकल करना आरम्भ कर दिया क्योंकि वे यह समझते थे कि अगर हम ऐसा न करेंगे तो हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। वे यह नहीं सोचते थे या उन्हें यह सोचनेका समय ही न था कि अमुक वस्तु उनकी रहन सहनके लिये उपयोगी है या नहीं अथवा अमुक वस्तुका असली स्वरूप क्या है। काउण्ट (अब मार्क्विस) इनोयी महाशय जो मेजीकालके एक बड़े पुरुषार्थी व प्रभावशाली नेता हो गये हैं, उस समय देशको एकदम यूरपके साँचेमें ढाल देनेका पक्ष उठाये हुए थे। उनके विषयमें काउण्ट काकूबा लिखते हैं कि "उनका केवल यही विचार

नहीं था कि राष्ट्रकी सब संस्थाएँ, विद्या और शिक्षा आदि सब युरोपीय ढङ्गका हो जाय बल्कि वे यह चाहते थे कि जितने पुराने रीतिरिवाज हैं सबको एक साथ ही तिलाञ्जलि दे दी जाय, अर्थात् भोजनमें भातके बदले रोटी खानी चाहिये, लम्बी आस्तीनवाले अङ्गरखोंके बदले कोट पतलून पहनना चाहिये और धानके खेतोंमें धान न बोकर उन्हें भेड़ोंके लिये चरागाह बना देना चाहिये।[१] " अध्यापक राइन भी कहते हैं कि संवत् १९३१ में मैंने अपने एक परिचित वृद्ध सामुराईसे इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया कि न्यूयार्कका एक जर्मन हज्जाम यहाँ आकर इतनी तरक्की करले कि फारमोसाकी मुहीमी फ़ौजका सर्जनजनरल बन जाय और उसे ५०० डालर (१५०० रुपये) मासिक वेतन मिले। यह सुनकर सामुराईने कहा कि, " नीली आँख और लाल बाल-

१. 'योकोहामा निक्कन शिम्बून' नामक तत्कालीन समाचारपत्रने जापानियोंकी परिवर्त्तित चित्तवृत्तिका एक अवसरपर बड़ा मज़ेदार और व्यङ्गपूर्ण वर्णन किया है। लार्ड चेम्बरलेन (अर्थात् जापानदरबारके एक प्रधान पुरुष) ओहारा जब योकोहामासे तोकिओ लौटे, उस समयका यह वर्णन है। जापानियोंमें यह रिवाज था कि जब दरबारके कोई हाकिम सड़कसे गुज़रते तो घरोंके दरवाज़े बन्द कर दिये जाते थे और खिड़कियोंपर परदे लटका दिये जाते जिसमें ऐसा न हो कि झरोखेमेंसे कोई झांके और हुज़ूरका अपमान हो। अस्तु, सम्पादकने लार्ड चैम्बरलेनकी सवारीका यों वर्णन किया है, " लार्ड चैम्बरलेन कल योकोहामासे ओहारा लौटे। मार्गमें उनके सम्मानार्थ घरोंके दरवाज़े बन्द थे, सवारीके सामने सब लोग घुटनोंके बल झुककर खड़े हुए थे। और हमारे विदेशी भाई क्या करते थे? वे घोड़ोंपर सवार थे और उद्दण्ड भावसे लार्ड चैम्बरलैनकी ओर दृष्टि डाल रहे थे। परन्तु आश्चर्य है, इसपर किसीने चूँ तक नहीं किया। कुछ ही वर्षोंमें इतना आकाश-पातालका अन्तर ! सचमुच ही, जापानी बड़ी शीघ्रतासे सभ्यताकी ओर जा रहे हैं ! "

वालोंकी इतनी इज़्ज़त हमारे देशमें कभी नहीं थी जैसी कि आजकल है।"

पाश्चात्य देशोंकी सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओंमें और शोगूनशासनकालकी जापानी संस्थाओंमें कितना बड़ा अन्तर था यह बहुतसे नेता अपनी आंखोंसे देख चुके थे। ताल्लुकेदारोंका अधिकारीवर्गगत राज्य, उस राज्यके सामाजिक प्रतिबन्ध व पृथक्करण, स्वाधीनताके मार्गमें उसकी दुर्गम बाधाएँ, उसके विशेष प्रियपात्रोंकी सुखसमृद्धि, उसके दरबारी कायदोंका सिलसिला, उसकी शान और ठाठबाट इत्यादि—एक ओर तो उन्होंने यह सब देखा था और दूसरी ओर २०वीं विक्रमीय शताब्दीके आरम्भमें यूरप व अमरीकाके राज्यसङ्घटन सम्बन्धी सुधार व प्रजासत्तात्मक राज्यकी चढ़ी हुई कलाका प्रकाश भी देखा था। वहाँसे वे बेन्थम[१] व मिलके[२] अनुयायियोंसे, स्वयं स्पेन्सरसे[३] तथा

---

१. विक्रमीय सवत् १८०६ के लगभग इंग्लिस्तानमें बेन्थमका जन्म हुआ। इसने उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर बड़ा नाम पाया। इसे एकान्तवास बहुत प्रिय था। राजनीति और धर्मशास्त्र इसके प्रिय और प्रधान विषय थे इसका 'उपयोगिता-तत्व' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। कानून, नीतिशासन शासकवर्ग आदिके सम्बन्धमें इसने बड़े प्रभावशाली ग्रन्थ लिखे हैं। संवत् १८८९ में इसकी मृत्यु हुई।

२. जान स्टुअर्ट मिलने संवत् १८६३ में जन्म लिया। यह तत्ववेत्ता था। इस ने कई ग्रन्थ लिखे हैं जिनमेंसे मुख्य मुख्य ये हैं—अर्थशास्त्रके अनिश्चित प्रश्नोंपर निबन्ध, तर्कशास्त्रपद्धति, अर्थशास्त्र, स्वाधीनता, पार्लमेंटके सुधार-सम्बन्धी विचार, प्रातिनिधिक राज्यप्रणाली, स्त्रियोंकी परतन्त्रता और हैमिल्टनके तत्वशास्त्रकी परीक्षा तथा उपयोगितातत्व। मिलका सुधारवाद बड़ा प्रखर था। उसकी उक्तियों और युक्तियों को काटना सहज काम नहीं था। अबतो जिन सुधारोंके करनेका सरल्प किया है किया वे प्रायः सब हो

रूसोके[४] शिष्योंसे उदार राजनीतिके तत्व, व्यक्तिस्वातंत्र्य और समाजसत्तावादके बड़े बड़े सिद्धान्त अभी सुनकर आये थे। इसके अतिरिक्त, कुछको छोड़कर बाकी सभी नौजवान थे, और अपनी योग्यता, चरित्र व जानकारीके बलसे ये छोटे जातिके सामुराई लोग सरकारके दरबारमें बहुत आगे बढ़ गये थे। उदार सिद्धान्तों और कल्पनाओंकी ओर उनका झुकना स्वाभाविक था।

अब तो स्त्रियोंकी स्वाधीनताका प्रयत्न सफल होगया है। इंगलिस्तान की पार्लमेंटमें स्त्रियां वोट या मत दे सकती हैं। मिल स्त्रियोंकी स्वाधीनताका बड़ा भारी पक्षपाती था। इसकी बुद्धि प्रखर और प्रकृति शान्त थी। बचपनहीसे इसे विचार और अनुसन्धान करनेका अभ्यास था। जेम्स मिलने ('ब्रटिश हिन्दुस्थानका इतिहास' के लेखक) ने अपने पुत्रकेबारे में कहा था कि (जान-स्टुअर्ट) मिल " बालक तो कभी था ही नहीं। " संवत् १९३० में मिलका देहावसान हुआ।

३. इंगलिस्तानके डार्बी नामक शहरमें संवत् १८७७ में हर्बर्ट स्पेन्सरका जन्म हुआ। छोटी ही उम्रमें उसे विज्ञानका चसका लग गया था। वह दूर दूरतक घूमने निकल जाया करता था और तरह तरहके कीड़े मकोड़े और पौधे लाकर घरपर जमा करता था। स्पेन्सरके कई वर्ष कीटपतङ्गों व पौधोंमें होनेवाले रूपान्तर देखनेमें ही बीत गये। इसके उपरान्त उसने गणितशास्त्र, यन्त्रशास्त्र और चित्रविद्याका भी अच्छा अभ्यास कर लिया। १७ वर्षकी उम्रमें रेलवेके कारखानेमें यह इन्जीनियर हुआ। यह काम उसने आठ वर्ष तक किया। यह सब करते हुए वह समाजशास्त्र व राजनीतिशास्त्रका भी परीक्षण करता रहा। संवत् १८९९ में इसने 'राज्यका वास्तविक अधिकार' नामक लेखमालिका शुरू की। इसीके बाद वह 'इकानामिस्ट' पत्रका सहकारी सम्पादक हुआ। उसकी विचारपरम्परा और तर्कपद्धति देखकर बड़े बड़े विद्वान् आश्चर्य करने लगे। डारविनने अपनी 'प्राणियोंकी उत्पत्ति (ओरिजिन आफ स्पीशीज़) नामक पुस्तकमें जो सिद्धान्त बांधे हैं उन्हें स्पेन्सरने पहिलेहीसे

जब स्वाधीनता, समता और एकता (विश्वबन्धुत्व) और मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकारोंका सिद्धांत उनके सम्मुख उपस्थित हुआ तब तो उनकी बुद्धि ही चकरा गयी। इन नवीन विचारोंका उनके मनपर कैसा परिणाम हुआ और कैसे वे उन सिद्धांतोंको शीघ्रतासे कार्यमें परिणत करने लगे यह भी एक बड़े कौतुकका विषय है। एता अर्थात् अन्त्यज

निश्चित कर लिया था और डारविनने इस बातको स्वीकार भी किया है। डारविनकी पुस्तकके निकलनेके कुछ वर्ष बाद स्पेन्सरका "मानसशास्त्रके मूलतत्व" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थने स्पेन्सरका नाम दिग्दिगन्तरमें फैला दिया। संवत् १९१७ में उसने संयोगात्मक तत्वज्ञानपद्धति (सिस्टेम आफ सिंथेटिक फिलासफी) नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। इस ग्रन्थको सम्पूर्ण करनेमें छत्तीस वर्ष लगे। इस ग्रन्थमें उत्क्रान्तितत्वके आधारपर संसारके समस्त दृश्यादृश्यकी उत्पत्ति लगायी गयी है। इस ग्रन्थसे ही स्पेन्सरका नाम अमर हो गया। इस ग्रन्थके अतिरिक्त 'समाजशास्त्रका अनुसन्धान', 'शिक्षा', आदि कई उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। 'शिक्षा' का तो बहुत ही प्रचार हुआ है। यूरप और एशियाकी अनेक भाषाओंमें इसका अनुवाद हुआ है। इसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है। स्पेन्सर सचमुच ही अलौकिक पुरुष था। जन्मभर उसने निस्पृहताके साथ केवल लोकोपकारके लिये ग्रन्थरचना की। ग्रन्थरचनासे उसे धन नहीं मिला, बल्कि वारंवार घाटा ही उठाना पड़ा! पर वह धनके लिये लिखता ही कब था? उसको इस कार्यमें बहुत घाटा होता देख लोगोंने उसे धनकी सहायता देनी चाही। हज़ारों रुपये उसके पास आये पर उसने स्वीकार नहीं किया। ८४ वर्षकी उम्रमें, संवत् १९६० में इसने मर्त्यलोककी यात्रा समाप्त की। मृत्युके पूर्व उसने लिख रखा था कि मरनेपर मेरा शरीर जलाया जाय, गाड़ा न जाय। तदनुसार उसके शवकी दहनक्रिया उनके एक भारतीय शिष्य द्वारा की गयी। हर्बर्ट स्पेन्सर जापानियोंका बड़ा मित्र था। जापानी उसे गुरुवत् मानते थे। स्पेन्सरकी मृत्युके बाद, जापाको लिखी हुई उसकी एक चिट्ठी प्रकाशित हुई है। उसमें

जातियोंके बंधन तोड़ डालनेके लिये, सब जातियोंमें परस्पर विवाह खोल देनेके लिये, शोगून शासनपद्धति उठा देनेके लिये, सामुराइयोंका दो शस्त्र धारण करने का प्राणाधिक अधिकारको हटा देनेके लिये. हाराकिरो अर्थात् आत्महत्या तथा सादय प्राप्त करनेके सम्बन्धके अत्याचारकी

उसने जापानियोंको उपदेश दिया है कि "यदि तुम अपना भला चाहते हो तो यूरपवालोंसे दूर ही रहो और यूरपकी स्त्रियोंसे विवाह करके अपनी जातीयताको बरबाद न करो। नहीं तो किसी दिन तुम अपना स्वात्व खो बैठोगे।"

४. जीन जैक्स रूसो संवत् १७६६ में पैदा हुआ। यह एक घड़ीसाज़का लड़का था। बचपनसे ही दुनियासे नाराज़ हो गया था। इसने अपने 'कनफेशन्स' नामक ग्रन्थमें अपना यह सिद्धान्त प्रकट किया है कि संसारमें जो कुछ दुःखदारिद्र्य है और दुराचार है उसका कारण सभ्यताकी वृद्धि है। रूसोका कहना था कि मनुष्य सुखी और सन्तुष्ट अपनी नैसर्गिक अवस्थामें ही रह सकता है अर्थात् जब कि सभ्यता, शिक्षा और रीतिनीतिकी शृंखलाओंसे वह मुक्त होता है। अतएव अशिक्षित और अनजान जंगली मनुष्य सुखी और सन्तुष्ट होता है। सभ्यताकी मात्रा ज्यों ज्यों बढ़ती है त्यों त्यों वासनाएँ बढ़ती जाती हैं जो कभी पूरी नहीं होतीं अर्थात् सभ्यता असन्तोषकी जड़ है। रूसोका यही मूल सिद्धान्त है। धर्मसम्प्रदायोंका भी यह विरोधी था, और दो पुस्तकें लिखकर इसने यह विरोध प्रकट किया जिससे इसे निर्वासनका दण्ड मिला था। 'सोशल कण्ट्राट्' नामक ग्रन्थमें रूसोने लिखा है कि, सब मनुष्य बराबर हैं इसलिये राज्यप्रणाली भी प्रजासत्तात्मक होनी चाहिये। रूसोके ग्रन्थ हृदयको स्पर्श करनेवाले हैं क्योंकि हृदयसे ही वे निकले हुए हैं। जहां जहां काले पानीकी सजा पाकर रूसो गया, लोगोंने उसे देवता मान कर उसके उपदेश सुने। संवत् १८३५ में रूसोका देहावसान हुआ।

प्रथा मेट देनेके लिये, ईसाई धर्मके विरुद्ध सरकारी आज्ञा रद्द[1] करने और सरकारी कचहरियोंमें रविवारकी छुट्टीका दिन नियत करनेकेलिये कैसी फुरतीसे एकके बाद एक सब कानून बन गये। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि यह सब नवीन सिद्धान्तोंकी शिक्षाका परिणाम था।

१९३१ और १९४६ इन दो संवत्सरोंके मध्यकालमें जापानमें उदारमतके प्रचारकी हद हो गयी। व्यक्तिस्वातंत्र्य, अधिकाधिकसुखवाद, समाजस्वातंत्र्य तथा ऐसे ही सिद्धांतोंके अपरिपक्व विचार सर्वत्र फैल रहे थे। ताकायामा कहते हैं कि "पुनःस्थापनासे लेकर संवत् १९४६ तक जापानमें पश्चिमोपन,

---

१. विक्रमीय संवत् १६०० के लगभग कुछ डचयात्री भूलते भटकते जापानमें आ पहुंचे। उनसे ही यूरपवालोंको जापानका हाल मालूम हुआ। तबसे यूरपके पादरी जापानमें जाने लगे। आरम्भमें जापानपर इनका प्रभाव खूब पड़ा। पर जब इन्होंने अनधिकारचर्चा शुरू की और अपने व्यवहारोंसे जापानियोंके मनमें यह सन्देह उत्पन्न कर दिया कि ये लोग जापानकी स्वाधीनता छीननेका जाल बिछा रहे हैं तब जापानियोंने इनका आना एक दम बन्द कर दिया। संवत् १८९५ में ईसाइयोंके विरुद्ध यह आज्ञापत्र निकला—

"ईसाई धर्मका प्रचार रोकनेके लिये यह आवश्यक है कि सरकारको ईसाइयोंका पूरा पूरा पता मिले। पता देनेवालोंको इस प्रकार इनाम दिया जायगा—

बड़े पादरीका पता देनेवालेको ५००)
छोटे " " " ३००)
किसी ईसाईको दिखलानेका ३००)" इत्यादि

अन्तमें यह भी लिखा था कि "जो कोई किसी ईसाईको छिपा रखेगा और यह भेद खुल जायगा तो गांवके नंबरदार तथा छिपानेवालेके पांच रिश्तेदारों या मित्रोंको दण्ड दिया जायगा।"

और यूरोपीय विचारोंका ही स्रोत बह रहा था; विदेशी वस्तुओंकी नकल करना और विदेशियोंकी पूजा करना यही चाल हो रही थी"। पाठशालाओंमें, सभामण्डपोंमें, समाजोंमें और समाचारपत्रोंमें 'उदारमत' की ही चर्चा थी और इस तरह उसकी शिक्षा दी जा रही थी मानो वह कोई दैवी सन्देश था। कुछ लोकनेता तो बड़े उत्साहसे समाजसम्बन्धी ऐसे ऐसे सिद्धांतोंका प्रतिपादन करने लगे थे जो वास्तवमें जापानी समाजकी प्रकृतिके लिये पथ्यकर नहीं थे। ग्रंथोंमें, पुस्तकोंमें और जहाँ तहाँ बस उदारमतोंका बड़े जोर शोरसे प्रतिपादन हो रहा था। उस समयके एक बड़े भारी लोकशिक्षक महाशय फुकुज़ावाने 'गाकूमों नो सुसुमी' नामकी एक पुस्तक लिखी जिसका खूब प्रचार हुआ। इस पुस्तकमें एक जगह आप लिखते हैं कि "प्रकृतिने सब मनुष्योंको एकसा बनाया है। और जन्मसे कोई किसीसे छोटा या बड़ा नहीं होता...इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्यको निर्म्माण करनेमें प्रकृतिका यह उद्देश्य और इच्छा है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताके अनुसार संसारकी प्रत्येक वस्तुका बे रोकटोक उपयोग करनेका पूरा अवसर पावे, जिसमें वह सुख, स्वातंत्र्य और स्वच्छन्दताके साथ रहे और किसीके अधिकारोंमें हस्तक्षेप न करे। सरकारका यह काम है कि वह कानूनके बलसे भलेकी रक्षा करे और बुरेको दबा दे। यह काम करनेके लिये रुपया चाहिये पर उसके पास न रुपया है और न अन्न ही, इसलिये लोग यह समझ कर कि सरकार अपना काम ठीक तरहसे कर रही है वार्षिक कर देते हैं।" काउण्ट इनागाकद्वारा स्थापित रिस्शिशा नामक पाठशालाके पंचांगमें यह बात लिखी हैं, कि

"हम तीन करोड़ जापानी भाइयोंको कुछ अधिकार प्राप्त हैं और वे सबके बराबर हैं। उन्हींमें अपने जीवन और स्वातंत्र्यका आनन्द लेने तथा उसकी रक्षा करनेका, जायदाद हासिल करने और रखनेका तथा जीवननिर्वाहका साधन करने और सुखका उपाय करनेका अधिकार हम लोगोंको है। मनुष्यमात्र-के ये प्रकृतिदत्त अधिकार हैं और इसलिये इन्हें कोई मनुष्य किसी बलसे छीन नहीं सकता।" यही बात एक राजकीय दलके कार्यक्रममें भी मिलती है। एइकोकु—कोतो (देशभक्त दल) नामक समाजकी प्रतिज्ञा इस प्रकार है, कि "हम लोग इस बातको मानते हैं कि सरकारमात्र लोगोंके लिये ही स्थापित की जाती है। हम लोगोंके अधिकारोंकी रक्षा करना ही हमारे दलका उद्देश्य है जिसमें व्यक्तिमात्रके व समाजके स्वतंत्रता की मर्यादा भंग न हो।"

परंतु आरम्भमें लोग इस नवीन राजनीतिक शिक्षापर कुछ ध्यान नहीं देते थे। एक तो स्वाधीनता और समताका सूक्ष्म सिद्धांत उनकी समझहीमें न आता था। दूसरे वे अपनी हालतसे संतुष्ट थे। तीसरे सरकारी अधिकारियोंसे वे बहुत ही दबते थे। लोगोंकी यह पाश्चात्य विचारोंकी उपेक्षा देख-कर फुकुज़ावा अप्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि "हमारे देशके लोगोंमें कुछ भी पराक्रम नहीं है। निरे अजागलस्तन हैं, मानो देश सरकारहीके लिये बचा हुआ है, और सरकार ही सब कुछ है। यह सब निश्चय ही ऐसे सामाजिक आचारोंका परिणाम है जो सहस्रों वर्षोंसे चले आते हैं। हमारे देशमें लोग सरकारके पीछे पीछे चलते हैं और सरकार लोगोंके हर काममें, सैनिकप्रबन्ध, कलाकौशल, शिक्षा, साहित्यसे लेकर व्यव-साय वाणिज्यतकमें दखल देती है।"

यदि पुनःस्थापनावाले नेताओंमें परस्पर भयंकर विवाद न उठता और उनमें फूट होकर घरके लोग घर और बाहरके बाहर न हो जाते तो प्रातिनिधिक राज्यप्रणालीका आन्दोलन बहुत कालके लिये रुकही जाता।

पुनःस्थापनाके उपरान्त राज्यके सूत्र जिन लोगोंके हाथमें आगये थे उनमें दो प्रकारके पुरुष थे। एक थे मुल्की, और दूसरे फौजी। पहलेके विचार पुरानी काइकोकुतो (विदेशियोंके लिये देशद्वार उन्मुक्तकरनेवाले) दलके थे, और दूसरे जोइतो दलके थे अर्थात् विदेश सम्पर्क विरोधी। पहले दलमें विचारवान् और कार्यकुशल लोग थे, और दूसरेमें स्तब्ध और अभिमानी। राज्यप्रबन्धके सम्बन्धमें पहले दल-के लोग देशकी दुर्बलताको खूब समझते थे और सबसे पहले अपने घरका सुधार चाहते थे, फिर बाहरवालोंका इलाज। दूसरे दलवाले जो थे वे राष्ट्रके गौरव और प्रतिष्ठा-पर मरते थे और कहते थे कि विदेशियोंको खूब ठिकाने ले आना चाहिये। इस प्रकार रुचि, विचार और काममें इतना भेद होनेपर भी कर्तव्यपालनके उच्च विचारसे सब दल पुनःस्थापनाके समय एक हो गये थे और महाराजके प्रत्यक्ष शासनके अधीन होकर राष्ट्रीय एकीकरण और पुनरु-त्थानके कार्यमें लग गये थे।

परन्तु पुनःस्थापनाका कार्य हो चुकनेपर फिर मत-भेदने उग्र रूप धारण कर लिया। संवत् १९२५ में कोरियाने जापानके साथ परम्परागत सम्बन्ध बनाये रखनेसे इन्कार कर दिया और १९२९ में यह मामला बहुतही बढ़ गया। तब सायगो, गोतो, इतागाकी, ओकूमा, ओकी आदि लोगोंने दरबारमें बैठ कर यह निश्चय किया कि यह मामला बिना

युद्धके ठीक न होगा। प्रधान मन्त्री प्रिन्स सांजोको भी यह बात मंजूर हुई परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि प्रिन्स इवाकुराके आनेपर इस बातका फ़ैसला होगा। ये यूरप और अमरीकासे उसी समय घर वापस लौटे आ रहे थे।

सितम्बरमें प्रिन्स इवाकुरा और उनके साथी ओकुबो, किदो और इतो लगभग २ वर्ष बाहर रह कर जापान आ पहुँचे। वे यूरप और अमरीका इसलिये भेजे गये थे कि सं० १६२६ में जिन सन्धियोंका समय समाप्त होता था उनकी पुनरावृत्ति करा लें। पर पाश्चात्य देशोंकी सामाजिक और राजनीतिक अवस्था देखकर सन्धिका[1] संशोधन कराना उन्होंने असंभव समझा। पर वे पाश्चात्य देशोंकी प्रगतिके बड़े दृढ़ संस्कार लेकर घर आये।[2] और जब उन्हें कोरियासे युद्ध करनेका

---

१. जापानके साथ विदेशोंकी जो व्यापार-सन्धियां थीं वे जापानके लिये अपमानजनक और हानिकारक थीं। उन सन्धियोंके अनुसार सन्धि-नगरोंमें बसनेवाले विदेशी व्यापारी जापानी न्यायालयसे सर्वथा स्वतन्त्र थे क्योंकि विदेशियोंके जुर्मका विचार विदेशी ही करते थे जापानको जापानमें ही यह हक़ नहीं था। दूसरी बात इस सन्धिमें यह थी कि जापानी सरकार अपने ही देशमें आनेवाले मालपर सैकड़ा ५ रु० से अधिक कर नहीं लगा सकती थी। जिस समय जापानके प्रतिनिधि यूरप गये थे और उन्होंने सन्धिप्रस्ताव किया था उस समयकी हालत ऐसी ही थी और उन्हें यही जवाब मिला था कि जापान अभी इस योग्य नहीं है कि [illegible] कर विदेशियोंके जान और मालकी रक्षाका भार उसपर रखा जा सके। परन्तु अब वह बात नहीं है। यूरपनिवासियों और जापानियोंका न्याय इस समय जापानी जज ही करते हैं। जापानमें संसारसे आनेवाले मालपर जापान अब मन माना कर लगा सकता है। परन्तु जिस समयका वर्णन ऊपर आया है उस समय जापान [illegible] दृष्टिमें असभ्य था।

२. पाश्चात्योंके दरबारी कायदे इवाकुराको कहांतक ज्ञात थे इसके

निश्चय सुनाया गया तो उन्होंने इसका एकदम विरोध करना आरम्भ किया। उन्होंने कहा कि अभी जापानकी उतनी अच्छी दशा नहीं है जैसी कि पाश्चात्य देशोंकी और इसलिये कोरियाको दण्ड देने बाहर जानेके बदले घरका सुधार करनाही अधिक आवश्यक है।[१]

सायगो और सोयीजीमा युद्धवादी पक्षके नेता थे और उनका यह कहना था कि सशस्त्र सैन्यबलपरही विशेष-कर देशकी शक्ति निर्भर करती है, और इसलिये यदि अन्यान्य सुधारोंके साथ साथ ही सैन्यबलकी भी वृद्धि न होती जायगी तो राष्ट्रकी मर्यादा कैसे रहेगी। वे कहते थे कि कोरियासे युद्ध करना आवश्यक है। एक तो कोरियाको दण्ड देनेके लिये और दूसरे राष्ट्रकी क्षात्रवृत्तिको जगाने-के लिये। इसपर घोर वादविवाद हुआ, यहाँतक कि कई दिन और कई रात यह होता ही रहा।

सम्बन्धमें एक बड़ी विचित्र बात कही जाती है। जब इवाकुरा वाशिंगटन पहुँचे और वहाँके स्टेट सेक्रेटरीसे बातचीत शुरू हुई तो इनसे जापान-महा-राजके हस्ताक्षरकी सनद मांगी गयी। तब इवाकुराको यह मालूम हुआ कि विदेशमें अपनी सरकारका प्रतिनिधित्व करनेके लिये सनदकी भी ज़रूरत पड़ती है और तब वहाँसे उन्होंने ओकुबो और इतोको सनद लाने के लिये जापान भेजा।

१. पूर्वी और पश्चिमी दोनों देशोंका इन दो दलोंको जो परस्पर अल्पा-धिक ज्ञान था उसे यदि हम ध्यानमें रखें तो इनके मतभेदका कारण भी हमें ठीक ठीक मालूम हो जायगा। शान्तिवादी जो लोग थे वे अभी यूरपकी कलावृद्धि देखकर आये थे और उसके साथ जापानकी तुलना कर रहे थे; और जो लोग युद्धकी पुकार मचा रहे थे वे अति पूर्वीय देशोंकी अवस्था बहुत अच्छी तरहसे समझते थे और जापानकी मर्यादाके सम्बन्धमें उनकी कुछ दूसरी ही राय थी।

अन्तमें जब शान्तिवादियोंने युद्ध न करना ही निश्चित किया तब सायगो, सोयीजीमा, गोतो, इतागाकी और येतो आदि लोगोंने तुरन्तही इस्तीफा दे दिया और वे घर बैठ रहे। वे जानते थे कि लोकमत हमारे अनुकूल है क्योंकि बहुतसे सामुराई ताल्लुकेदारशासनपद्धतिके उठ जानेसे देशमें नित्य जो नवीन राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे उनके अनुकूल अपने जीवनको न बना सकनेके कारण बहुत असन्तुष्ट हो गये थे और कोरियापर युद्ध करनेकी पुकार मचा रहे थे। उनमेंसे कुछ लोग यहाँतक आगे बढ़े कि खुल्लमखुल्ला सरकारी अफसरोंपर आक्षेप करने लगे कि ये लोग किसीकी कुछ सुनते नहीं, मनमाना काम करते हैं।

संवत् १६३१ में (माघ मासके आरंभमें) सोयीजीमा, गोतो, इतागाकी, येतो, युरी, कोमुरो, ओकामोतो, फुरुसावा और मित्सुओका, इतने लोगोंने मिलकर सरकारके पास एक आवेदनपत्र भेजा। इसमें सरकारसे यह कहा गया था कि राजकर्म्मचारी मनमानी कार्य्यवाही कर रहे हैं, इसलिये आवश्यक है कि एक प्रतिनिधिसभा स्थापित की जाय। इस प्रकार पुनःस्थापनावाले दलपतियोंमें फूट हो जाना एक ऐसा अवसर था जिसने जापानमें सङ्घटनात्मक राज्य-प्रणालीकी प्रस्थापनाका सूत्रपात कर दिया। उसी आवेदन-पत्रका एक अंश इस प्रकार है—

"आजकल जिस ढङ्गसे शासनकार्य हो रहा है उसे देखकर हम लोगोंको यह विश्वास हो गया है कि इस समय शासनसत्ता न तो सम्राट्के हाथमें है और न लोगोंके ही, बल्कि सब सूत्र कर्म्मचारियोंने अपने हाथमें ले लिये हैं। यह सच है कि राजकर्म्मचारी जान बूझकर सम्राट्की

अवज्ञा नहीं करते और न प्रजापालनकी उपेक्षा करते हैं। पर धीरे धीरे सम्राट्का महत्त्व कम होरहा है और लोगोंको कानूनके बार बार रद्दोबदल होने और अनुचित पारितोषिक तथा दण्डसे कष्ट हो रहे हैं। लोगोंकी राय कभी सुनी नहीं जाती और उनके कष्टोंका हाल जिस मार्गसे मालूम हो सकता है वह मार्ग भी बन्द कर दिया गया है। इससे स्पष्ट प्रकट है और इसे एक छोटा बालक भी समझ सकता है कि ऐसी अवस्थामें सुख और शान्तिका होना असम्भव है। यदि इन बुराइयोंकी जड़ न उखाड़ डाली जायगी तो इसमें राज्यकी बरबादीका अन्देशा है। इसलिये केवल देशहितके विचारसे हम लोग बहुत सोच समझ कर यह प्रस्ताव करनेका साहस करते हैं कि राज्यकी सब बातोंपर सार्वजनिक वादविवाद होनेका प्रबन्ध करनेसे ही इस दुरवस्थाका प्रतिकार हो सकता है। यह कार्य एक प्रतिनिधि-सभा स्थापित करनेसे ही हो सकता है। राजकर्म्मचारियोंके अधिकारोंको मर्यादित करके ही लोग अपने अधिकारोंकी रक्षा कर सकते और सुखसे रह सकते हैं। हम लोग साहसपूर्वक कहते हैं कि यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो लोग राजाको कर देते हैं, राज्यशासनमें राय देनेका भी उनको अधिकार है [1]।

[1]. आवेदनपत्रके लेखकोंका यह कहना कदापि नहीं था कि जापानियोंने "बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं दिया जायगा।" इस सिद्धान्तकोमाना है। आरम्भिक परिच्छेदोंमें ही यह दिखलाया जा चुका है कि जापानियोंका ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं था। इससे पाठकोंको यह मालूम होगा कि पाश्चात्य देशोंमें जो राजनीतिक सिद्धान्त सर्वमान्य होते थे उन्हें जापानी अनादि सत्य मान लेते थे। पाश्चात्य कल्पनाओंसे ये लोग इतने मुग्ध हो गये थे।

अन्तमें जब शान्तिवादियोंने युद्ध न करना ही निश्चित किया तब सायगो, सोयीजीमा, गोतो, इतागाकी और येतो आदि लोगोंने तुरन्तही इस्तीफा दे दिया और वे घर बैठ रहे। वे जानते थे कि लोकमत हमारे अनुकूल है क्योंकि बहुतसे सामुराई ताल्लुकेदारशासनपद्धतिके उठ जानेसे देशमें नित्य जो नवीन राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे उनके अनुकूल अपने जीवनको न बना सकनेके कारण बहुत असन्तुष्ट हो गये थे और कोरियापर युद्ध करनेकी पुकार मचा रहे थे। उनमेंसे कुछ लोग यहाँतक आगे बढ़े कि खुल्लमखुल्ला सरकारी अफसरोंपर आक्षेप करने लगे कि ये लोग किसीकी कुछ सुनते नहीं, मनमाना काम करते हैं।

संवत् १९३१ में (माघ मासके आरंभमें) सोयीजीमा, गोतो, इतागाकी, येतो, युरी, कोमुरो, ओकामोतो, फुरुसावा और मित्सुओका, इतने लोगोंने मिलकर सरकारके पास एक आवेदनपत्र भेजा। इसमें सरकारसे यह कहा गया था कि राजकर्म्मचारी मनमानी कार्य्यवाही कर रहे हैं, इसलिये आवश्यक है कि एक प्रतिनिधिसभा स्थापित की जाय। इस प्रकार पुनःस्थापनावाले दलपतियोंमें फूट हो जाना एक ऐसा अवसर था जिसने जापानमें सङ्घटनात्मक राज्यप्रणालीकी प्रस्थापनाका सूत्रपात कर दिया। उसी आवेदनपत्रका एक अंश इस प्रकार है—

"आजकल जिस ढङ्गसे शासनकार्य हो रहा है उसे देखकर हम लोगोंको यह विश्वास हो गया है कि इस समय शासनसत्ता न तो सम्राट्के हाथमें है और न लोगोंके ही, बल्कि सब सूत्र कर्म्मचारियोंने अपने हाथमें ले लिये हैं। यह सच है कि राजकर्म्मचारी जान बूझकर सम्राट्की

अवज्ञा नहीं करते और न प्रजापालनकी उपेक्षा करते हैं। पर धीरे धीरे सम्राट्का महत्त्व कम होरहा है और लोगों-को कानूनके बार बार रद्दोबदल होने और अनुचित पारितो-षिक तथा दण्डसे कष्ट हो रहे हैं। लोगोंकी राय कभी सुनी नहीं जाती और उनके कष्टोंका हाल जिस मार्गसे मालूम हो सकता है वह मार्ग भी बन्द कर दिया गया है। इससे स्पष्ट प्रकट है और इसे एक छोटा बालक भी समझ सकता है कि ऐसी अवस्थामें सुख और शान्तिका होना असम्भव है। यदि इन बुराइयोंकी जड़ न उखाड़ डाली जायगी तो इसमें राज्य-की बरबादीका अन्देशा है। इसलिये केवल देशहितके विचार-से हम लोग बहुत सोच समझ कर यह प्रस्ताव करनेका साहस करते हैं कि राज्यकी सब बातोंपर सार्वजनिक वादविवाद होनेका प्रबन्ध करनेसे ही इस दुरवस्थाका प्रतिकार हो सकता है। यह कार्य एक प्रतिनिधि-सभा स्थापित करनेसे ही हो सकता है। राजकर्म्मचारियोंके अधिकारोंको मर्यादित करके ही लोग अपने अधिकारोंकी रक्षा कर सकते और सुखसे रह सकते हैं। हम लोग साहसपूर्वक कहते हैं कि यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो लोग राजाको कर देते हैं, राज्यशासनमें राय देनेका भी उनको अधिकार है [१]।

---

१. आवेदनपत्रके लेखकोंका यह कहना कदापि नहीं था कि जापा-नियोंने "बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं दिया जायगा।" इस सिद्धान्तको माना है। आरम्भिक परिच्छेदोंमें ही यह दिखलाया जा चुका है कि जापानियोंका ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं था। इससे पाठकोंको यह मालूम होगा कि पाश्चात्य देशोंमें जो राजनीतिक सिद्धान्त सर्वमान्य होते थे उन्हें जापानी अनादि सत्य मान लेते थे। पाश्चात्य कल्पनाओंसे ये लोग इतने मुग्ध हो गये थे।

हम समझते हैं कि राजकर्म्मचारी भी इस सिद्धान्तके विरुद्ध न होंगे। जो लोग प्रातिनिधिक शासनप्रणालीका विरोध कर रहे हैं वे यह कह सकते हैं कि अभी यह देश प्रातिनिधिक शासनप्रणालीके योग्य नहीं हुआ है क्योंकि लोगोंमें न उतना शिक्षा है न उतनी समझ है। परन्तु हम लोगोंका यह कहना है कि यदि वास्तवमें लोग अशिक्षित और नासमझ हैं जैसा कि कहा जाता है, तो प्रातिनिधिकशासनपद्धतिही उनकी शिक्षा और उनकी बुद्धि के विकासका बड़ाही अच्छा साधन है।"

इस आवेदनपत्रको पढ़कर राजकाज देखनेवाले राजनीतिज्ञोंको तो बड़ाही आश्चर्य हुआ होगा। आवेदनकारियोंमें अधिक संख्या उन्हीं लोगोंकी थी जो भीतरी सुधार और सार्वजनिक अधिकारोंसे देशकी प्रतिष्ठा और गौरवको ही अधिक महत्त्व देते थे। बड़े बड़े लोगोंने जब उनकी नीति नहीं चलने दी जिस नीतिको कि वह बहुत आवश्यक समझते थे, तब उनके दिमाग ठिकाने न रह सके और उनमें बड़ी अशान्ति फैली। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी मालूम था कि कोरियासे युद्ध छेड़नेकी बात सबको विशेषतः असन्तुष्ट सामुराइयोंको प्रिय है। वास्तवमें यह जो आवेदनपत्र भेजा गया था वह उनके भड़क उठनेका ही परिणाम था और सरकारको दिक़ करनेके लिये ही वह भेजा गया था।

जो हो, इस नवीन राजनीतिक आन्दोलनके लिये यह अवसर बहुत ही उपयुक्त था। एक तो कोरियाके सम्बन्धमें लोगोंकी युद्ध करनेकी ही बड़ी प्रबल इच्छा हो रही थी अबतक नवीन शासक-मण्डलके नेताओंमें ऐसा विवाद कभी नहीं उठा था। इससे दरबारमें एकाएक फूट हो जाने-

से बड़ी हलचल मच गयी और जो लोग दरबार छोड़कर चले आये थे उन्हींपर लोगोंका ध्यान जमने लगा। दूसरी बात यह कि इस समय राजकाज संभालनेवालोंमें मुखिया इवाकुरा, ओकुबो, किदो और इतो ये ही लोग थे जो अभी यूरप देखकर आये थे और जिनके दिलोंपर वहाँकी राजनीतिक संस्थाओंके संस्कार जम गये थे। अपने देशमें प्रातिनिधिक संस्थाओंके स्थापित करनेके सम्बन्धमें वे इतने आगे नहीं बढ़े थे पर सबसे पहले इन्हीं लोगोंने पाश्चात्य संस्थाओंके ढङ्गपर अपने देशकी शासनपद्धतिको बनानेका विचार किया था।

अतएव साईन (धर्म विभाग) ने सरकारकी ओरसे इस आवेदनपत्रका जो उत्तर दिया वह बहुतही स्नेह और ऐक्यका सूचक था।[१] उसमें यह स्वीकार किया गया था कि आवेदनपत्रमें जो सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं वे बहुतही अच्छे हैं, इसलिये उस पत्रकी सूचनाएँ स्वीकृत करके सोईन (दरबार)की सेवामें भेजी जायँगी। अभ्यान्तरिक विभागसे सम्मति ली जायगी, और जब प्रान्तीय शासकोंकी परिषद्—ऐसी एक परिषद् उस समय स्थापित की जाने की बात चल रही थी—स्थापित हो जावेगी तब निर्वाचनसंस्थाके प्रश्नपर विचार किया जायगा।

इसके उपरान्त इस आवेदनपत्रका लोगोंने जो स्वागत किया वह तो बहुतही उत्साहपूर्ण था। देशकार्य करनेवाले जितने प्रधान लोग थे, सबके सब इस प्रश्नपर विचार करने

१ जापानका शासन तीन विभागोंमें विभक्त था, (१) सोईन याने महाराजका दरबार, (२) साईन याने धर्म विभाग, और (३) ऊईन याने शासकमण्डल।

और इसके पक्षमें या विपक्षमें निश्चय करने लगे। सब समाचारपत्र सम्पादक जिन्हें उस समय लिखने और टीकाटिप्पणी करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता थी, बड़े उत्साहसे और हृदय खोलकर इस विषयकी आलोचना करने लगे। निर्वाचनसंस्था स्थापित करनेकी बातका विरोध करनेवाले बहुतही कम लोग थे। वादविवाद केवल यही था कि यह कब स्थापित हो। जापान, जैसाकि पहले लिखा गया है, उस समय पाश्चात्य सभ्यताके वशीभूत हो गया था।

विरोध करनेवालोंमें जो सबसे भारी विरोध था वह डाक्टर हिरोयुकी केतोका था। ये सम्राट्-परिवार-विभागके एक अफ़सर थे। इनका एक विद्वत्तापूर्ण लेख 'तोकियो निचिनिचि शिम्बून' नामक प्रभावशाली समाचारपत्रमें निकला। इसकी जो ख़ास ख़ास दलीलें थीं वे इस प्रकार हैं—

"जापानमें लोकमत प्रस्तुत करनेकी बातपर ही विचारशील पुरुष मात्रका ध्यान लगा हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि देशमें शान्ति और सुखसमृद्धिका अखण्ड साम्राज्य होनेके लिये लोकमतके दृढ़ीकरणसे बढ़कर और कोई उपाय नहीं हो सकता। परन्तु इसमें एक कठिनाई है। लोकमत सदासर्वदाही विवेकपूर्ण और प्रमादरहित नहीं हुआ करता। यूरपके सभ्य राज्योंमें भी लोकमत कभी कभी गलती खा जाता है। जब यूरपका यह हाल है तब हमारे जैसे नवसिखुए देशके लिये प्रमादरहित लोकमत प्रकट करना कैसे सम्भव है। प्रतिनिधि-सभाएँ इसीलिये स्थापित की जाती हैं कि देशमें शान्ति और सुखसमृद्धिका अखण्ड साम्राज्य जिनसे बना रहे ऐसे कानून और नियम उन सभाओंमें बनाये जायँ। ऐसे कानून बननेके पहले इस

बातकी आवश्यकता होती है कि सामाजिक रीतिनीति, सर्वसाधारणकी रहनसहन और उनके आचारविचारोंका सूक्ष्म अनुसन्धान हो जिसमें वे कानून उनकी परिस्थितिके प्रतिकूल न हो जायँ। ... इस कामको केवल पण्डितही कर सकते हैं।... यह सच है कि हमारा देश धीरे धीरे उन्नति कर रहा है पर यह भी सच है कि किसान और व्यापारी आज भी उसी पुराने ज़मानेके हैं। वे अनजान और नादान बने रहनेमें सन्तुष्ट हैं और उनमें अभीतक राजनीतिक जीवनका विशेष सञ्चार नहीं हो सका है। सामुराइयोंकी बात जुदी है। पर उनमें भी ऐसे ही लोगोंकी संख्या विशेष है जो इन बातोंको समझते हों कि सरकार क्या है, नागरिक होना क्या वस्तु है, सरकारको कर लगानेका अधिकार क्यों है और क्यों कोई नागरिक सैन्य-नियमोंको मानता है। ये बहुत मामूली बातें हैं।[१] फिर भी १० में ८ या ९ आदमी इन प्रश्नोंका ठीक ठीक उत्तर न दे सकेंगे। ... स्वयं राजकर्म्मचारी भी अपने अपूर्ण ज्ञान और शिक्षाकी आलोचनासे नहीं बचने पाते। पर मैं अपनी जानकारीके भरोसे कह सकता हूँ कि "इन राजकर्म्मचारियोंके बाहर देशभरमें ६०।७० से अधिक ऐसे पुरुष नहीं हैं जिनमें कुछ विशेष जानकारी या योग्यता हो। इन ६०।७० पुरुषोंको देशके ३ करोड़ अधिवासियोंका प्रमाण मान लेना असम्भव है। राजकर्मचारियोंपर जो यह आक्षेप किया गया है कि ये किसीकी सुनते नहीं और

---

१. डा० केतो इन बातोंको वास्तवमें मामूली समझते थे या उन्होंने सिर्फ़ दलीलके लिहाज़से ऐसा लिखा है, यह कहना बड़ा कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि डा० केतो जैसे पण्डितने उस समय ऐसी बातें कहीं हैं।

मनमानी कार्यवाही करते हैं, यह ठीक नहीं है। पर यह ज़रूर है कि जैसी हालत है उसमें इनके बिना सरकारका कार्य चल नहीं सकता। लोगोंमें यदि चैतन्य उत्पन्न करना हो तो जल्दी जल्दी प्रातिनिधिक शासनप्रणाली चला देनेकी अपेक्षा पाठशालाएँ खोली जायँ तो यह काम बहुत अच्छी तरहसे हो सकता है। इसलिये मैं यह कहता हूँ कि इसी समय सार्वजनीन प्रतिनिधि-निर्वाचिनी संस्था स्थापित करनेकी जो बात उठी है सो महज़ नासमझी और नादानी है।"

संवत् १९३१ में (फाल्गुनके शुरूमें) इतागाकी, गोतो और सोयीजिमाने मिलकर केतोके लेखका उत्तर लिखा। इन्होंने इस बातका बड़ा तीव्र प्रतिवाद किया कि जो थोड़े से लोग राज्यशासन कर रहे हैं उनके अतिरिक्त देशमें शासन करनेकी योग्यता और किसीमें है ही नहीं और है भी तो बहुत थोड़े लोगोंमें। सच पूछिये तो पुनःस्थापना और शासन संस्कारका कार्य सबसे पहले ताल्लुकेदारोंने नहीं बल्कि निम्नश्रेणीके सामुराइयों और रोनिनोंने[१] हो सोचा था और देशके समस्त लोगोंके मिलकर उद्योग करनेहीसे सुसम्पादित हुआ था। इन्होंने यह भी दिखलाया कि लोग जो इतने दबे हुए हैं इसका मुख्य कारण यह नहीं है कि अभी उनमें उतनी सभ्यता नहीं आयी बल्कि इसका सारा दोष वर्तमान राजनीतिक संस्थाओंपर है। उन्होंने यह भी कहा कि फिर भी हम लोगोंने सार्वजनीन निर्वाचिनी संस्थाका अधिकार नहीं माँगा है। उनका कथन यह था कि पहले सामुराइयों और धनी किसानों तथा व्यापारियोंको

---

१. रोनिनो उन सामुराइयोंको कहते थे जो सामुराई होकर भी किसी कारणसे अपने सरदारसे पृथक हो गये।

निर्वाचनका अधिकार दे देना चाहिये, क्योंकि उन्होंने ही इन नये नेताओंको पैदा किया था।

इस प्रकार जापानकी सङ्घटनात्मक शासनप्रणालीके आन्दोलनका पहला परदा उठा। अबतक 'तोकियो निचि-निचि', 'चोया', 'आकेबोनो', 'युबिनहोची' आदि सभी प्रभावशाली समाचारपत्रोंने सरकारका पक्ष लिया था; क्योंकि अभी सभी प्रधान प्रधान नेता शासकमण्डलमें थे और देशकी समस्त शक्तियोंको केन्द्रीभूत करने, देशका एकीकरण करने तथा ताल्लुकेदार-शासनपद्धतिको उठा देनेका जो उनका उद्देश्य था उसीको पूरा करनेमें लगे थे। पर जब दरबारमें दो पक्ष हो गये तब समाचारपत्रमें भी परस्पर वाग्युद्ध होने लगा। जितने प्रसिद्ध समाचारपत्र थे वे सब एक 'तोकियो निचिनिचि' को छोड़कर शासन-पदस्थोंके प्रतिपक्षियोंकी तरफ थे और सरकारपर तीव्र टीका करते थे। सं० १९३१में (माघके आरम्भमें) प्रिन्स इवाकुरापर तीव्र आलोचनात्मक एक लेख निकला। फरवरीमें भूतपूर्व मंत्री येतोने जिन्होंने आवेदनपत्रपर भी हस्ताक्षर किया था, सागाके लोगोंको बलवा करनेके लिये उभारा। इसी बीच इतागाकी और सायगो अपने घर कोची और कागोशिमा आये। वहाँ इतागाकीने एक राज-नीतिक सभा स्थापित की जिसका नाम रिश्शिशाथा और प्रातिनिधिक संस्थाओंके विचार फैलाना जिसका उद्देश्य था। और सायगोने तो सामरिक शिक्षाके लिये एक गैर-सरकारी पाठशाला खोल दीं।

१. इस उत्तरमें विशेषता यह है कि बारबार इसमें मिलके लोकतन्त्र 'शासन रेप्रे-ज़ेन्टेटिव गवर्मेंट' से अवतरण देकर अपने कथनका समर्थन किया गया है।

यह सब देखकर सरकार बड़ी हैरान हुई और इन लोगोंके मनको फिरा देनेके लिये उसने फारमोसाके विरुद्ध सेना भेजनेकी तद्बीर सोची। संवत् १९३१ के मई महीनेमें सायगो ताकामोरीके छोटे भाई सायगो योरिमिचिके अधीन ३००० आदमी फारमोसा भेजे गये कि वहाँ जाकर उन प्राकृतिक डाकुओंको दण्ड दें जो जापानसे और रिउ-किऊ टापुओंसे जानेवाले चट्टान-टकराये जहाजोंके यात्रियोंको मार डाला करते थे। उसी समय चैत्रके अन्त तक प्रातिनिधिक संस्थाओंके सूत्रपातस्वरूप 'चिहो चिओकवाँ काइगी' अर्थात् प्रान्तीय शासकोंकी परिषद् स्थापित करनेके हेतु एक घोषणा दरबारसे प्रकाशित हुई।

इसी अवसरपर इतो और इनोयीने ओकुबोके पक्षके साथ किदो, इतागाकी और गोतोका मेल करानेका उद्योग किया और ओसाकामें सभाका प्रबन्ध किया गया; यह सभा इतिहासमें 'ओसाका सम्मेलन' नामसे प्रसिद्ध है। इतोने मेलके ये प्रस्ताव किये—

१. कुछ ही लोगोंके हाथमें सारे शासनसूत्र न चले जायँ और आगे चलकर निर्वाचिनी संस्था स्थापित होनेका मार्ग उन्मुक्त रहे इसके लिये कानून बनानेवाली एक सभा (गेनरो-इन) स्थापित होनी चाहिये।

२. न्यायविभाग और शासनविभाग, ये दोनों अलग अलग रहें, इसके लिये एक उच्च न्यायमन्दिर (ताइशिन-इन) स्थापित होना चाहिये।

३. प्रजाकी वास्तविक दशा जिसमें मालूम हो इसकेलिये प्रान्तीय शासकोंकी एक परिषद् (चिहो चिओकवाँ काइगी) स्थापित होनी चाहिये।

४. शासनकार्यके जो कई विभाग हैं उनके और उपविभाग होने चाहियें जिसमें धर्म, शासन और न्याय संबंधी सब कामोंमें पर्याप्त विशिष्टता उत्पन्न हो।

इतागाकीको छोड़कर सबने ये प्रस्ताव स्वीकृत किये और शासनकार्यमें भाग लेना स्वीकार किया। इतागाकी चाहते थे कि निर्वाचित धर्मसभा स्थापित हो। वे गेन्रो-इन नामक अनिर्वाचित संस्थाको नहीं चाहते थे। तथापि महाराजाधिराज जापानसम्राट्‌ने उन्हें बुला भेजा और इतागाकीने मंत्रिपद स्वीकार किया।

इतागाकी संघटनात्मक शासनान्दोलनके प्रधान नेता थे और इसलिये उनके दरबारमें आ जानेसे आन्दोलन कुछ ढीला पड़ गया। पर इतागाकी अधिक दिन दरबारका कार्य नहीं कर सके। संवत् १९३३ के आरम्भमें उन्होंने इस्तीफा दे दिया। कारण यह हुआ कि ओसाका सम्मेलनमें सुधारके जो उपाय स्वीकृत हुए थे वे कोरियाके 'कोकव-त्रन' वाले मामलेके कारण स्थगित रखे गये।[१]

इसी समयके लगभग उदारमतवादियोंके आन्दोलनका प्रतिकार प्रकट होने लगा। सं० १९३० का जो समाचारपत्र संबंधी विधान था उसने मुद्रणस्वातंत्र्य नहीं छीना था। वह रद्द कर दिया गया और संवत् १९३२ में (आषाढ़में) एक अति तीव्र छापा संबंधी विधान तथा मानहानिका कानून बन गया। समाचारपत्रोंके लेखनस्वातन्त्र्यमें तथा छापाखानेके प्रकाशन-कार्यमें बड़ी भारी बाधा पड़ी। जो कोई सरकारको दोष

---

१. संवत् १९३१ में अनयोकन नामक जापानी जंगी जहाज़पर कोरियासे गोले बरसे थे। मामला बहुत बढ़ा नहीं, आपसमें ही समझौता हो गया और संवत् १९३२ में मैत्री और व्यापारकी संधि तै की गयी।

लगाता या उसकी तीव्र आलोचना करता उसके लिये जेल या जुर्मानेकी सज़ा थी। सरकारने इन कठोर उपायोंको बड़ी दृढ़ताके साथ कार्यमें परिणत किया। रोज़ही कोई न कोई पत्र-सम्पादक पकड़ा जाने लगा।[१]

इधर यह संघटनात्मक शासनप्रणालिके लिये आन्दोलन हो ही रहा था और उधर सत्सुमामें संवत् १९३४ में गदर शुरू हो गया जिसका प्रभाव देशभरमें फैलने लगा। १९३० में दरबारमें जो फूट हुई उसीका यह फल था। इस विद्रोहका नेता सायगो तकामोरी था जो एक समय जापानी सेनाका शिरोभूषण था। उसने पुनःस्थापनाके समय बड़े बड़े पराक्रमके काम किये थे और इसमें असाधारण शूरता, युद्ध-नीतिज्ञान, स्वार्थत्याग और राजभक्ति आदि ऐसे गुण थे जिनके बलसे जापानी सेनामें उसे सबसे बड़ा पद प्राप्त हुआ था। पर कोरियासे युद्ध ठाननेकी बात जब दरबारसे नामंज़ूर हो गयी तब उसने अपने पदसे इस्तीफ़ा दे दिया और घर (कागोशिमा) आकर एक गैरसरकारी स्कूल खोला जिसमें वह युद्धकलाकी शिक्षा देने लगा। वह अपने साथियोंसे भी

१. आकेबोनो नामक एक प्रमुख समाचारपत्रने लिखा है कि "संसारके किसी देशके इतिहासमें हमने नहीं पढ़ा कि कानून तोड़ने या लोगोंको उभारनेके अपराधपर एक नगरके सबके सब सम्पादक पकड़कर अदालतमें लाये गये हों, और न यही कहीं देखा कि एक सम्पादकपर तो मामला चल ही रहा है और उसीमें दूसरे सम्पादक भी पकड़कर लाये गये, उसका अपराध भी अभी साबित नहीं हुआ, अभी उसका मुकद्दमा भी पेश नहीं हुआ, और तीसरे सम्पादक लाये गये, और इस तरह एक दिन भी सम्पादकके मुकद्दमेके बिना खाली नहीं जाता। हमने ऐसी कारवाइयां कभी न सुनीं न किसी देशके इतिहासमें इसका जोड़ देखा"।

अलग रह कर काम करने लगा और संघटनात्मक शासनके आन्दोलनमें शरीक तक नहीं हुआ। वह एक प्रकारसे विदेश सम्पर्कका विरोधी था। पाश्चात्य सभ्यताका शीघ्र अनुकरण कर लेनेका विरोध करता था। सरकारने उससे फिर अपनी जगहपर आनेके लिये बहुत आग्रह किया, पर सब व्यर्थ हुआ। उसका कुछ ऐसा प्रभाव था, उसके चेहरेपर कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति थी कि उसके जन्मस्थान सत्सुमामें सर्वत्र ही उसके युद्धविद्यालयका प्रभाव पड़ने लगा। यहाँ तक कि उस प्रान्तका शासक भी उसके वशमें हो गया। सरकारने इस भयङ्कर आन्दोलनको रोकनेके लिये बहुत उपाय किये। परन्तु जब सरकार कागोशिमासे शस्त्रागार हटाकर ओसाकामें ले गयी तब सायगोके मित्रों और अनुयायियोंने आकाशपाताल एक कर डाला। इस भयङ्कर विरोधके प्रवाहसे सायगो भी न बच सका और देशभरमें आपसके युद्धकी अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। सायगोके लगभग ३०००० (तीस हज़ार) अनुयायी थे, सरकारने ६०००० से भी अधिक फ़ौज भेज दी। लगभग सात महीने मारकाट होती रही तब जाकर कहीं गदरकी आग बुझी और शान्ति स्थापित हुई।

इधर सरकार सत्सुमाके बलवाइयोंको दबानेमें लगी हुई थी और उधर संघटनात्मक शासनके आन्दोलनका दूना ज़ोर बढ़ रहा था। फिर एक आवेदनपत्र सरकारके पास भेजा गया। इस बार रिशिशाके एक प्रतिनिधि काताओका केङ्किचोने यह आवेदनपत्र भेजा था। पर यह स्वीकृत नहीं हुआ। इसके बाद काताओका और कोची प्रान्तस्थ रिशिशाके कोई बीस बाईस सभासद गिरफ़ार और कैद किये गये। सरकारका

अभिप्राय इनके पकड़नेमें शायद यह था कि सत्सुमाका बलवा फैलने न पावे।

सत्सुमाके बलवेसे सङ्घटनान्दोलनका यों तो कोई सम्बन्ध नहीं था पर सम्भवतः इस बलवेने लोगोंमें राजनीतिक चैतन्य उत्पन्न कर दिया था। सं० १९३४ में अभ्यान्तरिक युद्धकी जब समाप्ति हुई तो देशभरमें सङ्घटनान्दोलन फैल चुका था और चारों ओर कितने ही राजकीय सङ्घ स्थापित हो गये और भिन्न भिन्न स्थानोंमें उनके प्रधान कार्यालय भी खुल गये थे। यहाँसे समय समयपर प्रचारक भेजे जाते थे जो लोगोंको प्रातिनिधिक संस्थाओंकी शिक्षा देते थे।

संवत् १९३६ में ओकायामा प्रान्तके लोगोंने सरकारके पास एक आवेदनपत्र भेजकर राष्ट्रीय सभा स्थापित करनेकी प्रार्थना की और साथ ही सर्वसाधारणमें एक सूचना बँटवा दी कि इस कार्यमें सब लोग हमारा हाथ बटावें। सं० १९३७ के प्रारम्भमें एक दूसरा मेमोरियल किओआयशाने (इस नामकी राजकीय संस्थाने) गेन्रो-इनके पास भेजा जिसमें सन्धिपत्रोंका संशोधन और निर्वाचक-सभा-स्थापनकी प्रार्थना की गयी थी[१]।

उसीके कुछ दिन बाद सब राजकीय संस्थाओंकी एक महासभा ओसाकामें हुई और प्रातिनिधिक व्यवस्थापक सभाकी स्थापनाका पक्ष समर्थन किया गया। २४ प्रान्तोंकी २७ संस्थाओंसे कुल ८७००० से भी अधिक सभासदोंने इस महासभामें योग दिया था। यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि कोक्कुकाई किसेई दोमीकाई अर्थात् "राष्ट्रीय-सभा-स्थापनार्थ संयुक्त

---

१. यह प्रार्थनापत्र बहुत लम्बा है जिसमें राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाके पक्षमें अनेक विधान किये गये हैं। ये विधान (दलीलें) प्रायशः प्रातिनिधिक संस्थाओंके उदात्त विचारोंपर किये गये हैं, और उनमें देशभक्तिपूर्ण भावोंका

समान"के नामसे सरकारके पास एक प्रार्थनापत्र भेजा जाय। कातात्रोका और कोनो इस कार्यके लिये प्रतिनिधि चुने गये। ये तुरन्त ही तोकियो पहुँचे और प्रधान मन्त्रीके सामने उन्होंने प्रार्थनापत्र उपस्थित किया।[१] यह पत्र महाराजाधिराजके नाम लिखा था, परन्तु इसे सम्राट्तक पहुँचानेसे प्रधान मन्त्रीने इनकार कर दिया। कहा कि लोगोंको राजकीय प्रार्थनापत्र भेजनेका कोई अधिकार नहीं है।

ओकुमा (बादको काउण्ट ओकुमा हुए) उस समय शासक मण्डलमें थे और अपने अधिकारके शिखरतक पहुँचे हुए थे। किदो १९३४के अभ्यान्तरिक युद्धके समयही इस लोकसे चल दिये थे। ओकुबो 'जापानके स्तम्भ' जिनकी बुद्धिमत्ता और नीतिनिपुणतासे ही पुनःस्थापनाका बड़ा कार्य अनेकांशमें सफल हुआ था और जो वारंवार बुद्धिमानीके साथ उच्छृङ्खलताका विरोध करते थे वे भी अब न रहे। संवत् १९३५ में राजविरोधी घातकोंके हाथ उनका शरीरान्त हुआ।[२]

सम्मेलन हुआ है। इसमें लिखा था कि "स्वैर शासनसे देशप्रेमका नाश होता है, राष्ट्रकी सङ्घशक्तिमें दुर्बलता आती है और महाराजाधिराजके सिंहासनकी सुरक्षितता सङ्कटापन्न होती है। देशमें सङ्घशक्ति तभी उत्पन्न हो सकती है जब लोग शासनकार्यमें भाग लेते हैं और प्रकृत राजनीति समझते हैं। देशकी स्वाधीनता तभी सुरक्षित होती है जब देशमें स्वराज्यशासनका हौंसला होता है। हमारी प्रार्थना है कि महाराजाधिराज पुनःस्थापनाकी प्रतिज्ञाके अनुसार सङ्घटनात्मक शासनका प्रवर्तन करेंगे।"

१. उस समय प्रधान मन्त्री ही सर्वश्रेष्ठ अधिकारी थे; शासन सम्बन्धी वास्तविक अधिकार वैभागिक मन्त्रियोंके हाथमें थे।

२. दरबारमें सबसे प्रभावशाली पुरुष ओकुबो था। प्रजासत्तात्मक सुधार और सायगो ताकामोरीका यह बड़ा भारी विरोधी समझा जाता था। सायगो ताकामोरीसे सर्वसाधारणकी सहानुभूति थी और उसीका यह विरोधी समझा

इस प्रकार अब केवल ओकुमा ही रह गये जो वैदेशिक सचिव तथा आर्थिक सचिवका काम कर रहे थे और मंत्रिमण्डलमें इन्हींका रोबदाब था।

जब उन्होंने देखा कि राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाके लिये लोग बहुतही उद्दीपित हो उठे हैं तो लोगोंका पक्ष लेकर तथा सत्सुमा और चोशिऊके सरदार-घरानोंका बल तोड़कर इन्होंने भीतर ही भीतर अपनी शक्ति और लोकप्रियता बढ़ानेका प्रयत्न आरम्भ किया। यह बात पहले लिखी ही जा चुकी है कि तोकुगवा सरकारके विरुद्ध जो राज्य-क्रान्ति हुई उसके असल कारगुज़ार सत्सुमा, चोशिऊ, हिज़न और तोसा इन्हीं चार बड़े पश्चिमी ताल्लुकोंके सरदार लोग थे। अतएव जब नवीन सरकार स्थापित हुई तो इन्हीं लोगोंके हाथमें सब अधिकार आगये और सरकार नाम भी 'सत्त्-चिश्रो-दोही सरकार' पड़ गया।[१] पर संवत्-१९३० में जब दरबारमें पक्षभेद हो गया तब सत्सुमा और चोशिऊके सरदार ही मुखिया हो गये और तब 'सत्त्-चिश्रो सरकार' यह नाम पड़ा।[२] ओकुमा हिज़नके सामुराई थे, सत्सुमा या चोशिऊ दलसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इसलिये इन्होंने इन लोगोंका बल तोड़ डालनेकी इच्छा की। इसी हेतुसे इन्होंने प्रिन्स अरिसुगावा सदाइजिन, और

जानेसे राजकीय वलवाइयोंने इसकी आहुति ली। वस्तुतः सायगोसे इसकी कोई शत्रुता नहीं थी।

१. सत्सुमा, चोशिऊ, तोसा और हिज़नका ही संक्षिप्त नाम 'सत्त्-चिश्रो--दोही' था।

२. 'सत्त-चिश्रो' सत्सुमा और चोशिऊ का छोटा रूप है।

इवाकुरा उदयजिनको १६४० में ही राष्ट्रीय परिषद् स्थापित करनेकी सलाह दी थी। जब यह भेद प्रकट हुआ तो उनके सत् 'चित्रो' सहमन्त्रियोंने उनका ऐसा विरोध आरम्भ किया कि मन्त्रिमण्डल ही उलटपलट जानेकी नौबत आ गयी।

इसी समय हुकाइडोमें सरकारी कारखानोंको उठा देनेका विचार हो रहा था और उसके सम्बन्धमें औपनिवेशिक मण्डलके अध्यक्ष तथा दरबारके एक मंत्री कुरोदाने जैसा व्यवहार किया था उसके कारण सरकारकी बड़ी निन्दा हो रही थी। बात यह हुई कि इन कारखानोंमें १ करोड़ ४० लाख येनसे भी अधिक देशका धन खर्च हुआ था और कुरोदा उन्हें ३ लाख येनपर क्वानसा बोएकी शिओक्वाई नामकी एक गैर सरकारी कोठीको जिससे कुरोदाका बहुत सम्बन्ध था, बेच देना चाहता था। ओकुमा पहलेहीसे इस बिक्रीके विरुद्ध थे। पर जब बहुमतसे दरबारने बेचनाही निश्चय किया तो समाचारपत्रोंद्वारा उन्होंने सरकारपर आक्रमण आरम्भ किया।

सरकारकी हरएक कमज़ोरी सङ्घटनान्दोलनकारियोंका बल बढ़ानेवाली होती थी। उन्होंने इस ज़ोरशोरसे आन्दोलन शुरू किया और इस कदर लोगोंमें सहानुभूति भरदी की सरकार यदि इस आन्दोलनकी प्यास बुझानेका कोई प्रयत्न न करती तो देशमें उपद्रव आरम्भ हो जाता।

संवत् १६३८ के आश्विन मासमें सरकारने अपने कारखानोंको बेचनेका निश्चय बदल दिया और साथही एक राजघोषणा प्रचारितकी कि सं० १६४७ में राष्ट्रीयपरिषद् स्थापित होगी और उसकी सब तैयारी सरकार अभीसे करेगी। इसी बीच ओकुमाको मन्त्रिपद त्यागनेकी सलाह दी गयी।

सं० १६२६ में (फाल्गुन महीनेमें)जापानके लिये सङ्घटन निश्चित करनेके पूर्व यूरपकी राजकीय संस्थाओंका निरीक्षण करके आनेके लिये इतो और उसके साथी यूरप भेजे गये। इस प्रकार सङ्घटनान्दोलनका पहला अभिनय निर्विघ्न अभिनीत हो गया।

तृतीय परिच्छेद

सङ्घटनान्दोलनका द्वितीय अभिनय

पिछले परिच्छेदमें प्रातिनिधिक शासनप्रणालीके लिये आन्दोलन करनेवालोंके उद्देश्यकी सफलताका उल्लेख किया गया। संवत् १९३८ के कार्तिकके आरम्भमें राजघोषणाने राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाका दिन नियत कर दिया, और यह भी प्रकट कर दिया कि उस परिषद्की योजना और अधिकारोंको स्वयं सम्राट् निश्चित करेंगे और तब उसकी भी घोषणा होगी। इसलिये अब इन सङ्घटनप्रणालीके उद्योगियोंको विश्रान्ति लेनेका अवसर मिला। परन्तु इस प्रतिज्ञात परिषद्की प्रत्यक्ष प्राप्तिमें अभी नौ वर्षका विलम्ब था। इसलिये सिद्धान्तको विजय हो चुकनेपर भी इनके लिये बिलकुल ही चुप बैठे रहना असम्भव था। इसके साथही नवीन राज्यप्रबन्धकी सब बातें सोचकर उन्हें अपना कार्यक्रम भी निश्चित करना था। इस परिच्छेदमें हम यही दिखलावेंगे कि राष्ट्रीय परिषद् स्थापित होनेके पूर्व नौ वर्ष जापान किस राजनीतिक प्रवाहमें बह रहा था।

संवत् १९३७ के फाल्गुन मासमें ओसाकाके राष्ट्रीय-सभा-स्थापनार्थ-समाजके अधिवेशनमें कुछ प्रतिनिधियोंने यह प्रस्ताव किया था कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तोंपर एक स्थायी राजनीतिक दल स्थापित होना चाहिये। परन्तु बहुतसे लोगों के विचारमें अभी इसकी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाकी कोई दृढ़ आशा नहीं थी, और इसलिये

उस समय कुछ भी निर्णय नहीं हो सका था। परन्तु जिन लोगोंका यह प्रस्ताव था उन्होंने आपसहीमें जियुतो (उदार-मत दल) नामसे अपना एक दल कायम कर लिया और एक घोषणापत्र निकालकर यह ज़ाहिर किया कि हम लोग सर्व-साधारणके स्वातंत्र्यका विस्तार, उनके अधिकारोंकी रक्षा, उनके सुख और समृद्धिका उपाय करनेका प्रयत्न करेंगे। समस्त जापानी प्रजाजनोंकी समानता और संघटनात्मक राज्यप्रबन्ध प्रचलित करनेके औचित्यमें हमारा विश्वास है।

जब राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाका विचार निश्चित हो चुका तब 'राष्ट्रीय सभास्थापनार्थ समाजके सञ्चालकोंने उदार-मतदलसे मिलने और एक सुदृढ़ शक्ति स्थापित करनेका प्रयत्न किया। यह भी हुआ और उदारमतदलकी योजना पुनर्वार निश्चित की गयी। संवत् १९३८ के कार्तिक मासमें उन्होंने अपना उद्देश्यपत्र प्रकाशित किया जो इस प्रकार है—

१. हम लोग जनताकी स्वाधीनताका क्षेत्र बढ़ाने, उनके अधिकारोंकी रक्षा करने और उनकी सामाजिक उन्नति करने-का प्रयत्न करते हैं।

२. हम लोग आदर्शस्वरूप सङ्घटनात्मक राज्यतन्त्र निर्म्माण करना चाहते हैं।

३. हम लोग अपने उन भाइयोंसे मिलकर जो इन सिद्धान्तों-को मानते हैं, अपने उद्देश्योंकी साधना करेंगे।

दलका मुखिया इतागाकी ताइसुके था जिसे उचित या अनुचित रीतिपर जापानका रूसो कहा गया है क्योंकि वह मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकारोंका हृदयसे पक्ष करता था। सं० १९३०में उसने कोरिया प्रकरणके कारण अपने मंत्रीपदसे

इस्तीफा दे दिया था और प्रातिनिधिक धर्म सभाके लिये सरकारके पास प्रार्थना पत्र भेजनेके काममें यह भी एक मुखिया था। सं० १८३२ में सरकारने इन्हें फिर मन्त्रीपद देना चाहा और यह वचन भी दिया गया कि इनके राजनीतिक सिद्धान्त यथासम्भव माने जायँगे, पर इन्होंने यह मान अस्वीकार कर दिया क्योंकि इतोने जोकि मध्यस्थ थे, जिन बातोंपर मेल कराना चाहा था उनमें प्रातिनिधिक धर्मसभाको स्थापित करनेकी बात नहीं थी। यह सच है कि उनके राजनीतिक सिद्धान्त बहुत ही गम्भीर थे और उन्हें कार्यान्वित करानेको उनकी उत्कण्ठा कालानुरूप नहीं थी। प्रातिनिधिक शासन सम्बन्धी उनके विचार स्वप्नसृष्टिकेसे थे जिनका प्रत्यक्ष राज्य-प्रबन्धमें कोई उपयोग नहीं हो सकता था। परन्तु इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि वह स्वाधीन विचारके पुरुष थे और अपने विचारोंके पक्के थे। उनके विचार उनके अन्य सम-कालीन राजनीतिज्ञोंसे अलग और अटल थे। उनमें अपूर्व आकर्षणशक्ति थी। उनकी वाणीमें जादू भरा था। उनका मन वचन एक था और उनका व्यवहार कलङ्करहित था जिससे उनके अनेक अनुयायी हो गये थे। सच पूछिये तो आन्दो-लनके समयमें आदिसे अन्ततक वेही उदारमत वादियोंके केन्द्ररूप थे। कप्तान ब्रिङ्कलेने बहुत ठीक कहा है कि कोगिशो-का निष्फल हो चुकनेपर इतागाकी ताइसुके यदि शासनसुधार-के आन्दोलनको न उठाते तो प्रातिनिधिक सभाका प्रश्न ही देशकी दृष्टिसे ओझल हो जाता। फिर भी हम यह अस्वीकार नहीं करते कि उदारमतवादियोंमें जो गरम दल था उसने समय समयपर भयङ्कर क्रान्तिकारी उपायोंका भी अवलम्बन किया जिससे देशमें अशान्ति फैलती थी, और इस कारण

उदारमतवादियोंकी बहुत बदनामी भी हुई। यहाँतक कि ये लोग गुण्डे, बदमाश, बिगड़ेदिल, बागी और राजद्रोही कहे जाने लगे। परन्तु गरम दलवालोंके विधिविरुद्ध आचरणके कारण इतागाकीकी देशसेवाका महत्त्व कम करना ठीक न होगा। वस्तुतः जापानमें प्रातिनिधिक संस्थाओंके स्थापनका श्रेय जितना ओकूमा और इतोको है, उतना ही इतागाकीको भी है।

उदारमतवादियोंके बाद "रिकन कैशिन तो" अर्थात् सङ्घटनासुधारवादी दल उत्पन्न हुआ। ओकूमा और उसके साथियोंने छोटे छोटे कई दलोंको मिला कर संवत् १६३६ के फाल्गुन मासमें यह दल स्थापित किया।

यह पहले कहा जा चुका है कि संवत् १६३८ में अर्थात् एकही वर्ष पूर्व जब यह पता लगा कि सात्सुमा और चोशिऊके सरदारोंका बल तोड़नेके लिये ओकुमा भीतर ही भीतर सङ्घटनात्मक शासनका सूत्रपातकरा रहे हैं तब उन्हें मन्त्रीमंडलसे हट जाना पड़ा। परन्तु ओकूमाके साथ सहानुभूति रखनेवाले अनेक लोग थे। जो होनहार नवयुवक भिन्न भिन्न सरकारी विभागोंमें लेखकका काम कर रहे थे वे भी अपना काम छोड़कर इनके साथ हो लिये[१]। १६३० के मन्त्रीमण्डलविच्छेदके समान ही इस विच्छेदका भी सङ्घट-

---

१. ओकूमाके साथ जिन लोगोंने सरकारी काम छोड़ दिया था उनमें निम्नलिखित सज्जन भी थे—यानो फूमियो, प्रधान मंत्रीके लेखक (बादको एकप्रधान पत्रके सम्पादक)। शिमादा साबुरो, शिक्षाविभागके लेखक, लोक प्रतिनिधि सभाके आरम्भसे ही सदस्य। आयव्यय विभागके लेखक इनुकाई की और ओज़ाकी युकियो (पूर्वोक्त प्रधिनिधि सभाके सदस्य और प्रागतिक दलके नेता हुए और और उक्तरोक्त प्रतिनिधि सभाके सदस्य और तोकियोके

नान्दोलनपर बड़ा असर हुआ। १९३० के प्रकरणमें एक तो यह। आन्दोलनही आरम्भ हुआ और दूसरे 'सत्-चिओ सरकार' की स्थापना हुई जो कहते हैं कि बहुत कुछ ओकूमा के ही कपटजालका फल था। इस बार क्या हुआ कि सर-कारी कामसे हटे हुए लोगोंकी सङ्घटन-सुधार दल कायम हो गया, और इस प्रकार राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाके विलम्बकालमें बहुत कुछ अन्तर पड़ गया।

ओकूमा जैसे अनन्य विद्याप्रेमी थे वैसे उनके रूप और वाणीमें भी कुछ अद्भुत मोहनीशक्ति थी। कितनेही सुशि-क्षित, सुसंस्कृत और सुधारविचारके नवयुवक इनके दल-में आ मिले। अतएव इस सुधारवादी दलके कार्यकर्त्ता उदारमतवादियोंके कार्यकर्त्ताओंसे बहुत ही भिन्नस्वरूपके थे। संघटनसुधारवादी विचार और कार्यमें नरम थे और उदारमतवादी गरम। इन दोनोंके जो उद्देश्यपत्र हैं उन्हींको देखनेसे इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। सुधारवादी दलका उद्देश्यपत्र इस प्रकार है—

१. हमारे उद्देश्य ये हैं—राजवंशकी प्रतिष्ठा सुरक्षित रखना और सर्वसाधारणकी सुखसमृद्धिके लिये उद्योग करना।

२. हमारा यह भी एक सिद्धान्त है कि देशका भीतरी सुधार होनेके पूर्व राष्ट्रके अधिकार और प्रतिष्ठाका क्षेत्र विस्तृत होना चाहिये।

३. हम स्थानीय स्वशासन स्थापित करनेकी चेष्टा करते

अध्यक्ष हुए), कृषि व व्यवसाय बिभागके मन्त्री कोनो विझून, डांकखाने अध्यक्ष मायेजिमामित्सु, वैदेशिक विभागके लेखक कोमात्सुबारा येइतारो (अब शिक्षा विभागके मन्त्री) इत्यादि।

हैं और उसमें मुख्य अधिकारियोंको हस्तक्षेप करनेका भी अधिकार परिमित कर देते हैं।

४. हम यह नहीं चाहते कि सर्वसाधारणको निर्वाचन-का अधिकार दिया जाय। हम चाहते यह हैं कि समाजकी प्रगतिके साथ साथ ही उसके निर्वाचनाधिकारमें भी प्रगति होनी चाहिये।

५. हमारी नीति यह है कि व्यवसाय-सम्बन्ध बढ़ानेके लिये यह चाहिये कि जिन जिन बातोंमें विदेशियोंसे झगड़ा आ पड़ता है उन बातोंको हम छोड़ दें।

६. हम धातुनिर्मित धनके सिद्धान्तपर मुद्राङ्कणपद्धतिका सुधार चाहते हैं।

इन दोनों दलोंका विरोध करनेके लिये सरकारी पक्षके लोगोंने एक तीसरा दल " रिक्कन तइसेइतो " अर्थात् सङ्घटनात्मक साम्राज्यवादी दलके नामसे संवत् १९३९ के चैत्र मासमें स्थापित किया। इसके मुख्य उद्योगियोंमें फुकुची महाशय भी थे। ये "निचिनिचि शिम्बून" नामक प्रसिद्ध पत्रके सम्पादक थे। इस नवीन दलका पक्ष लेनेसे इस पत्रका नाम " गोयो शिम्बून " (सरकारका दूत) पड़ गया था। उदारमतवादके विरुद्ध इन साम्राज्यवादियोंने एक प्रतिगामिनी धारा प्रवाहित कर दी थी वह उस समय प्रकट तो नहीं हुई पर जापानकी सङ्घटनापर उसके प्रवाहका भी स्पष्ट चिन्ह प्रकट हुआ है जिसका विचार हम अगले परिच्छेदमें करेंगे।

इन तीनों दलोंके उद्देश्यपत्रोंको यदि मिलाकर देखा जाय तो इस समय जापानमें राजनीतिक विचारवारिकी कौन कौन धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं यह समझमें आजायगा।

सङ्घटनात्मक साम्राज्यवादियोंके उद्देश्यपत्रमें ये वचन हैं—

१. हम सम्राट्की उस घोषणाको शिरोधार्य करते हैं जो संवत् १९३८ के आश्विन मासमें घोषित हुई है और जिसमें राष्ट्रीय परिषद्का जन्मवर्ष संवत् १९४७ निश्चित किया गया है। इस समय अदल बदल करनेके वादविवादमें हम कदापि पढ़ना नहीं चाहते।

२. उसी घोषणाके अनुसार सम्राट् जो रूप शासन प्रबंधको देंगे उसके अनुसार हम चलनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

३. हम इस बातको मानते हैं कि सम्राट् इस साम्राज्यके निर्विवाद स्वामी हैं और यह भी मानते हैं कि राष्ट्रीय परिषद्के अधिकार शासन सिद्धान्तसे नियमित हों।

४. हम यह आवश्यक समझते हैं कि नवीन धर्मसभा सभाद्वय-पद्धतिपर[१] होना चाहिये।

५. हम यह भी आवश्यक समझते हैं कि योग्यायोग्यके विचारकी पद्धतिसे निर्वाचनाधिकार मर्यादित होना चाहिये।

६. हम समझते हैं कि राष्ट्रीय परिषदको साम्राज्यकी भीतरी अवस्थाके सम्बन्धमें कानून बनानेका अधिकार देना चाहिये।

७. हम यह आवश्यक समझते हैं कि हर तरहके कानूनको निषेध करनेका अधिकार सम्राट्को होना चाहिये।

८. हम समझते हैं कि राज्यप्रबन्ध सम्बन्धी कार्यमें स्थलसेना या नौ सेनाके मनुष्योंका प्रवेश न होना चाहिये।

---

१. सभाद्वयपद्धतिसे यहाँ यह मतलब है कि पार्लमेन्टकी दो सभाएँ रहनी चाहियें—एक हाउस आफ कामन्स या प्रतिनिधि-सभा और दूसरी हाउस आफ लार्ड्स यानी सरदार-सभा।

९. हम समझते हैं कि न्यायविभागके सब कार्य कर्ता शासक विभागसे बिलकुल अलग और स्वतन्त्र होने चाहियें।

१०. हम समझते हैं कि सभा, समाज, सम्मेलन तथा सार्वजनिक व्याख्यानमें वही प्रतिबन्ध होना चाहिये जहाँ उससे शान्ति भङ्ग होने की सम्भावना हो।

११. हम यह भी मानते हैं कि इस समय जो अपरिवर्त्तनीय काग़ज़ी सिक्के हैं वे मुद्राङ्कण पद्धतिको क्रमशः सुधार करके परिवर्त्तनीय काग़ज़ी सिक्के बनाये जायँ।

इस प्रकार सम्राट्की घोषणा हुए ५ महीने भी न बीतने पाये थे और तीन बड़े राजनीतिक दल अपने अपने उद्देश्य-पत्रके साथ प्रकट हो गये। उनका मुख्य कार्य राजनीतिक सिद्धान्तोंका प्रचार करना था। उनपर १८वीं शताब्दीके पाश्चात्य तत्वज्ञानका अत्याधिक प्रभाव पड़ा हुआ था। वे उस समय बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ राज्यसम्बन्धी प्रत्येक बातका परिणाम सोचते और वादविवाद करते थे। उनके वादविवादमें साम्राज्यके आधिपत्यका मुख्य प्रश्न था।

उदारमतवादियोंका यह कहना था कि देश, देशवासियोंके लिये है, न कि राजा या थोड़ेसे लोगोंके लिये। राजा राज्य करता है, प्रजाके लिये, अपने लिये नहीं। अतएव देशपर स्वामित्व देशवासियोंका है। संङ्गटनात्मक साम्राज्यवादियोंने इस विचारका खण्डन आरम्भ किया और कहा कि हमारे देशमें अनादि कालसे लोग राजाकी ही प्रजा हैं, साम्राज्य भरमें एक भी ऐसा स्थान नहीं है जो पहलेसे राजवंशके दखलमें न चला आता हो। उन्हीं महाराजाधिराज सम्राट्ने राष्ट्रीय परिषद् स्थापित करनेका निश्चय किया है और लोकतन्त्र शासनप्रबन्ध निर्म्माण करनेका वचन दिया है। इन बातोंसे प्रकट हो गया

कि साम्राज्यपर सम्राट्को ही सत्ता है। प्रागतिक दल ने मध्य-ममार्ग स्वीकार किया। उसने यह कहा कि प्रातिनिधिक धर्म-सभा या राष्ट्रीय परिषद् ऐसी संस्था है जो राजा प्रजा दोनोंका प्रतिनिधित्व रखती है। सङ्घटनात्मक शासन प्रणालीके स्थापित होनेसे राजाकी एकतन्त्रता जाती रहती है, और इसलिए सङ्घट-नात्मक शासनके अधीन देशमें देशपर राष्ट्रीय परिषद्काही प्रभुत्व होता है, जैसे इंग्लिस्तानके लोक प्रतिनिधिसभा अर्थात् हाउस आफ कामन्सका है।

धर्मनिर्माणके सम्बन्धमें पूर्वोक्त दो दलोंका कहना था कि सभाद्वय-पद्धति होनी चाहिये अर्थात् बड़े बड़े लोगोंकी एक और सर्वसाधारणकी एक, इस तरह दो सभाएँ होनी चाहियें। परन्तु उदारमतवादी एक ही सभाके पक्षमें थे।

उदारमतवादी तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे अपने विचारोंमें जितने सुसम्बद्ध थे उतने और दल नहीं थे। वे जनसाधारणके स्वामित्वके विचारको उसके तर्कसिद्ध निर्णयतक ले गये और कहने लगे कि शासन पद्धति निर्म्माण करनेके लिये जन-साधारणसे निर्वाचित लोगोंकी एक समिति बनायी जानी चाहिये। परन्तु एक मार्केकी बात यह है कि उन्होंने जानबूझ-कर कभी फ्रान्सके प्रजातन्त्रवादियोंके समान राजतन्त्रको उठा देनेकी बात कहनेका साहस नहीं किया।

राजनीतिक सिद्धान्तोंकी केवल चर्चा ही हुआ करती तो उससे लोगोंके मनमें कोई जिज्ञासा न उत्पन्न होती। परन्तु यह अवसर ऐसा नहीं था। चारों ओर बड़ी खलबली पड़ गयी थी। राष्ट्रीय परिषदके स्थापित होनेकी बात सम्राट्की घोषणासे प्रकट होनेकी देर थी कि सर्वसाधारणमें बड़ी ही उत्तेजना फैल गयी। हर शख्स चाहे वह राजनीतिज्ञ हो, किसान

हो, मछुआहो, कारखानेका आदमी हो, व्यवसायी हो, शिल्पी हो, कोई हो, कोक्कू काई या राष्ट्रीय परिषद्की बातें करने लग गया। यह भले ही वे न जानते हों कि कोक्कूकाईसे उनका क्या उपकार होने वाला है, पर उससे लोगोंमें राजनीतिक चर्चा फैल गई और वे नवीन विचारोंको तत्काल ग्रहण करने लग गये। इस प्रकार उदारमतका प्रचार शीघ्रतासे होने लगा और राजनीतिक दलोंके अनुयायियोंकी संख्या दिन दिन बढ़ने लगी। उस समय जापान पाश्चात्य देशोंसे अपनी सन्धियों-का संशोधन कराना चाहता था जिसमें उसे अपने देशमें आनेवाले मालपर कर बैठाने न बैठानेका पूरा अधिकार रहे और उसके अधिकारगत अन्य प्रदेशोंमें जहाँ पाश्चात्योंका व्यवसाय अधिकार हुआ वह वहाँसे उठ जांय। परन्तु जब कभी इस सन्धि सुधारकी बात छिड़ती थी तो पाश्चात्य राष्ट्रोंसे उसे यह जवाब मिलता था कि अभी तुम इस योग्य नहीं हो कि सन्धिका सुधार किया जा सके, क्योंकि अभी तुम्हारी राजकीय संस्थाएँ और कानून इतने दृढ़ नहीं हैं कि पाश्चात्योंकी जान और माल तुम्हारे हवाले की जासके। इस अपमानजनक अवस्थासे ऊपर उठनेके लिये बहुतसे लोग संघटनात्मक शासनप्रणाली स्थापित करना आवश्यक सम-झने लगे और बहुतसे लोग जो और समय इसका विरोध करते, चुपचाप बैठ रहे।

इसी समय एक ऐसी घटना हो गयी जिससे इतागाकीक नाम अमर हो गया। इतागाकी गिफूमें उदारमतवादियों की एक सभामें संवत् १९३९ के चैत्र मासमें एक व्याख्यान दे रहे थे। ऐसे समय एकाएक एक आततायी युवा ने उनकी छातीमें खञ्जर मारा। युवा अपराधी जब पकड़ा गया और

इस हत्याका उससे कारण पूछा गया तो उसने कहा कि "मैंने इतागाकीको इसलिये मारा कि वह देशका बैरी था"। खञ्जर खाकर इतागाकी नीचे गिर पड़े। ऐसी अवस्थामें उन्होंने कहा कि "इतागाकी भलेही मर जाय, पर स्वतंत्रता सदा जीवित रहेगी"। इतागाकीके शब्द देशके ओरसे छोरतक गूंज गये और वे शब्द अबतक बहुतेरे जापानियोंकी जिह्वापर विराजमान हैं।

घड़ीका लम्बक आगे जाता और फिर पीछे आता है। प्रचण्ड उत्तेजन के उपरान्त शिथिलता आही जाती है। फ्रान्समें प्रजातन्त्र स्थापित हुआ, छोटे और बड़े सब एक कर दिये गये, पहलेके सरदार अब साधारण लोगोंके समान ही नागरिक कहे जाने लगे, परन्तु नेपोलियन बोनापार्टको जिस दिन राज्याभिषेक हुआ उसी दिन प्रजातन्त्रका अन्तहीसा हो गया और फिर चौदहवें लुईकी स्वेच्छाचारिताने अपना आसन जमाया[१]। जिस समय अंग्रेज़ अधिकाराभिलाषिणी-स्त्रियोंने हाउस आफ कामन्सकी जालियोंमेंसे और अलबर्ट हालकी कुरसियोंपरसे एक दल होकर निर्वाचनमतका अधिकार माँगा तो उस समय कई स्त्रियोंने अधिकार न देनेकी प्रार्थना भी सरकारसे की थी।

---

१. चौदहवें लुईने फ्रान्सपर (संवत् १७०० से १७७२ तक) ७२ वर्ष राज्य किया। यह इतिहासमें स्वेच्छाचारी राजाके नामसे प्रसिद्ध है। संवत् १८४९ में फ्रान्समें सर्व प्रथम प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। तबतक फ्रांसके सरदार स्त्री-पुरुष जनाब "मुस्यु" या "मादाम" बेगम कहे जाते थे। प्रजातन्त्रने इन्हें साधारण नागरिक बना दिया और ये भी "सितोयां" या नागरिक कहे जाने लगे। संवत् १८६१ में नेपोलियनने अपना राज्याभिषेक कराया और इस प्रकार प्रथम प्रजातन्त्रका अन्त हुआ।

प्रजासत्ताक शासनके आन्दोलन आरम्भ होनेके पूर्व सार्वजनिक सभाओं या समाचारपत्रोंकी स्वाधीनतामें कुछ भी अड़ंगा नहीं था। पर संवत् १९३२ में समाचार पत्र संबंधी विधान बनाया गया जिससे समाचारपत्रों और पुस्तक प्रकाशकोंकी स्वाधीनता बहुत ही मर्यादित हो गयी। १९३७ में सभा और समाजका कानून बना जिससे सब सार्वजनिक सभाएँ और राजनीतिक सभायें पुलिसके पूर्ण तत्वावधानमें आ गयीं। १९३९ में यह कानून और भी कठोर बना दिया गया। वास्तवमें ऐसा भयङ्कर कानून जापानमें कभी न बना था।

इस कानूनके अनुसार प्रत्येक राजनीतिक संस्थाके लिये यह आवश्यक था कि वह अपने उद्देश्य, नियम, रचना, उपनियम इत्यादि तथा अपने समस्त सभासदोंके नामोंकी पुलिसको खबर दे। इतना ही नहीं, बल्कि जितने नये सभासद हों, सभासद होते ही प्रत्येकका नाम और उसके सभासे अलग होनेपर फिर उसका नाम पुलिसको बतला दें। राजनीतिक विषयमें कोई बात समझ लेना या व्याख्यान देना हो, उसके तीन रोज़ पहलेसे पुलिसकी आज्ञा लेनी पड़ती थी। राजनीतिक व्याख्यान या चर्चाकी कोई सूचना बाँटना, किसीको सभामें आनेके लिये अनुरोध या आग्रह करना, किसीको निमन्त्रण-पत्र भेजना, किसी राजनीतिक दलकी कहीं कोई शाखा स्थापित करना, राजनीतिक दलोंमें परस्पर पत्र व्यवहार करना या मैदानमें सभा करना एकदम मना था। विशुद्ध साहित्यिक सम्मेलनों या परिषदोंमें यदि कहीं कोई राजनीतिक प्रश्न निकल पड़ता तो उन्हें भी पुलिसका कोपभाजन बनना पड़ता था। पुलिसको यह अधिकार दे दिया गया था कि वह सार्वजनीन शान्तिकी रक्षाके नामपर चाहे जिस राज

नीतिक सभामें जाकर दखल दे, चाहे उसे स्थापित कर दे और चाहे उसे उठा दे। पुलिस स्वयं अभ्यान्तरिक सचिवकी आज्ञासे वारंवार अपने इस अधिकारका उपयोग किया करती थी। वास्तवमें कानूनके शब्द उतने कड़े नहीं थे जितनी कड़ाई से उनपर अमल किया जाता था।

यह स्पष्ट ही है कि ऐसी अवस्थामें राजनीतिक दलोंको वृद्धि होनेकी आशा बहुत ही कम थी। सरकारकी नीतिही ऐसी थी कि राजनीतिक दलोंका उद्योगबल ही तोड़ दिया जाय क्योंकि इस समय जिन सरदारोंके हाथमें शासनसत्ता थी उन्हें यह भय था कि कहीं उदारमतवादी और प्रागतिक दोनों दल एक न हो जायँ। यदि एकहो जाते तो उनके विरुद्ध यह बड़ी भारी शक्ति खड़ी हो जाती। इसमें सन्देह ही क्या है कि इन्हीं दलोंको एक न होने देनेके लिये ही इन्हें परस्पर व्यवहार करना मना कर दिया गया था।

लोगोंने यहांतक कहा कि इतागाकीको आग्रह करके सरकारने जो यूरपकी यात्रा करने भेज दिया उसका भी भीतरी मतलब यही था। उसके साथियोंकी इच्छा नहीं थी तथापि १८३८ के कार्तिक मासमें इतागाकी गोतोके साथ यूरपकी ओर रवाना हो गये। उनके जाने पर उदार मतवादियों और प्रागतिकोंमें खूब तू तू मैं मैं आरम्भ हुई। प्रागतिक दलके (जिसके ओकूमा नेता थे) एक समाचारपत्रने इतागाकी और गोतोपर यह दोष लगाया कि सरकारी खर्चसे ये लोग यूरपको यात्रा करने गये हैं। इससे उदारमतवादियोंके दिमाग भड़क उठे और उन्होंने ओकूमा और उनके दलपर प्रत्याक्रमण करना आरम्भ किया। उन्होंने यह कहा कि प्रागतिक दलवालोंसे मित्सु बिशि कम्पनीका कुछ भीतरी सम्बन्ध है और कम्पनी

ने जो इतना धन बटोरा है इसका कारण यह है कि जब ओ-कूमा सरकारी काम पर थे तब उन्होंने सरकारसे इस कम्पनी-को रुपया दिलाया था। यह निश्चय रूपसे तो नहीं कहा जा सकता कि सरकारने या उस पक्षके लोगोंने इन दलोंमें घोर विरोध उत्पन्न करनेके लिये ही इतागाकी और गोतोको खर्च देकर या दिलाकर यूरप जानेका आग्रह किया, पर इसके लिये तो प्रमाणका अभाव नहीं है कि कुछ सरकारी अफ़सर इस झगड़ेको बढ़ानेका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयत्न अवश्य करते थे।

अस्तु, कुछ समयके लिये तो इन दो प्रचण्ड दलोंकी एकता होनी असम्भव हो गयी। प्रत्युत उनमें विवाद ही बढ़ता गया और परस्पर ऐसा विरोध फैला कि जिससे राजनीतिक दल मात्रकी बदनामी होने लगी।

सरकारने लोगोंके राजनीतिक प्रयत्नोंके दबानेमें और भी कड़ाईसे कार्य लेना आरम्भ किया। संवत् १६४० के वैशाखमें समाचारपत्र संबंधी विधानमें परिवर्तन किया गया। पहलेके कानूनके अनुसार समाचारपत्रोंके लेखोंके लिये अकेला सम्पा-दक ही उत्तरदायी होता था, परन्तु अब उस कानूनमें जो परि-वर्तन हुआ उससे सिर्फ़ सम्पादक ही नहीं, बल्कि उसका मालिक और उसका कार्याध्यक्ष भी आक्षेपयुक्त लेखोंके लिये दण्डित होने लगा। जो लोग समाचारपत्र निकालना चाहते उन्हें ज़मानत के तौरपर कुछ रुपया सरकारमें जमा करना पड़ता था। यह रकम इतनी बड़ी होती थी कि समाचारपत्र निकालनेकी कोई काहेको हिम्मत करे। इसके अतिरिक्त कानून इतनी कड़ाईके साथ अमलमें लाया जाता था कि हँसी मज़ाक, वाकचातुर्य, श्लेष या व्यङ्गोक्ति भी मानहानि-

को कोटिमें आ जाती थी। प्रतिदिन कोई न कोई समाचार-पत्र बन्द हो जाता, उसका छपना रुक जाता। सम्पादक, सञ्चालक या प्रबन्धकर्ता पकड़े जाते और जेलखानेमें बन्द किये जाते।

सरकारने अपनी दृष्टिसे यह सब चाहे उचित ही किया हो पर इसमें सन्देह नहीं कि इससे समाचारपत्रोंकी और राजनीतिक दलोंकी प्रगतिका मार्ग बहुत कुछ रुक गया जिससे लोकतन्त्र शासनकी शिक्षाके कार्यकी बड़ी भारी हानि हुई, क्योंकि राजनीतिक दलोंसे और समाचारपत्रोंसे ही तो यह शिक्षा सर्वसाधारणको प्राप्त होती है। छापाखाना संबंधी कानूनके बोझके मारे बहुतसे समाचारपत्र दब गये और फिर उठ नहीं सके, और जितने राजनीतिक दल थे वे एक एक करके टूटने लगे, क्योंकि सार्वजनिक सभा और समाजोंके कानून और पुलिसकी असह्य कुदृष्टिके सामने वे ठहर न सके और उन्हें अपने अस्तित्वसे हाथ धोना पड़ा[1]।

यहां यह भी कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि राजनीतिक दलोंको दबा देनेको जो कठोर उपाय किये जा रहे थे उनसे गरम दल वालोंमें बदला लेनेकी आग भभक उठी। उन्होंने बड़ा उत्पात मचाया और जैसी हालत थी उसे और भी भयंकर कर दिया। वे फ्रांसकी राज्यक्रांतिका स्वप्न देखने लगे,

---

१. संवत् १९४०के भाद्रपद मासमें संघटनात्मक प्रागतिक दलका अन्त हुआ। पहले तो कई सभासदोंने इसे चलानेका ही आग्रह किया, पर जब ओकूमाने ही इस्तीफा दे दिया तब दल तोड़ना ही ठीक समझा गया। १९४१ के आश्विनमें उदारमतवादियोंने भी उसका अनुकरण किया। इसी समय संघटनात्मक साम्राज्यवादियोंका दल भी टूट गया।

और यह घोषणा करने लगे कि " बिना रक्त बहाए स्वाधीनता नहीं मिलती "। यहां इन ऊधम उत्पातोंका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सरकारका ध्वंस करनेके लिये गुप्त मण्डली कायम हुई।[1] राज्यक्रान्तिकारी सेनाएँ तैयार करनेके लिये षड़यन्त्र रचे गये, मन्त्रियोंको मार डालनेके प्रयत्न हुए, और कोरियामें बलवा खड़ा करनेका भी उद्योग हुआ[2]।

---

१. सरकारके विरुद्ध फुकुशिमा प्रदेशमें भी एक बड़ा भारी षड़्यन्त्र हुआ था। इसका कारण यह हुआ कि उस प्रदेशका गवर्नर मिशिया सूयो प्रादेशिक समितिकी कोई बात न सुनकर मनमानी कार्रवाई करने लग गया जिससे लोग बहुत ही चिढ़ गये और गरम दलवालोंने ऐसी स्वेच्छाचारी सरकारके विरुद्ध बलवा करनेके निमित्त षड़्यन्त्र रचा। यह षड़्यन्त्र पकड़ा गया और उसके छः नेता छः सात वर्षके लिये जेल भेज दिये गये। इस षड़्यन्त्र वालों की शपथ इस प्रकार थी—१. हम प्रतिज्ञा करते हैं कि स्वेच्छाचारी सरकारको नष्ट करके प्रातिनिधिक शासक मण्डल निर्म्माण करेंगे। २. हम प्रतिज्ञा करते हैं कि इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने प्राण और सर्वस्वको देनेमें तथा अपने परिवारका स्नेह भी छोड़ देनेमें आगा पीछा न सोचेंगे। ३. हम प्रतिज्ञा करते हैं कि अपने दलकी सङ्गठन और निर्णयके अनुसार ही चलेंगे। ४. हम प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक हमारा उद्देश्य सिद्ध न हो लेगा तबतक अपना दल भङ्ग न करेंगे, चाहे कैसी ही कठिनाई और विपत्ति क्यों न आ पड़े। ५ हम यह भी प्रण करते हैं कि जो कोई इस शपथकी रक्षा करनेमें त्रुटि करेगा और हमारे गुप्त नियमोंको प्रकट कर देगा उसे अपना प्राण अपने ही हाथों लेना होगा।

२. कोरियामें बलवा करनेका उद्योग ओइ केन्तारो और इसके साथियों ने किया था। जापानके इतिहासमें यह "ओसाकाका मामला" के नामसे प्रसिद्ध है। इन लोगोंके मस्तिष्कमें फ्रांसके "स्वाधीनता, समता, और एकता" के भाव भर गये थे। सरकारकी लड़ाईसे जब उनके बड़े बड़े उद्योग मिट्टीमें

पर पुलिसका ऐसा बड़ा बन्दोबस्त था कि गुप्त प्रयत्नों और षड़यन्त्रोंका कार्यपथपर आनेसे पहले ही पता लग जाता था। प्रायः ऐसा होता था कि ५०। ६० आदमी एक साथ पकड़े जाते और उन्हें बहुत ही भयङ्कर दण्ड दिया जाता था। कोई छः सात वर्षके लिये और कोई जन्मभरके लिये जेलमें सड़ने भेज दिये जाते। काबायामावाले मामलेमें जिसमें राष्ट्रविप्लव करनेका षड़यन्त्र किया गया था, षड़यन्त्रियोंपर राजनीतिक अपराधके बदले खून और डाकेज़नीका इलज़ाम लगाया गया[1]। इस प्रकार सरकारी अफसर जो मनमें आता कर डालते थे, उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं था। हर

मिल गये तब वे बहुत ही निराश और उत्तेजित हुए और उन्होंने सोचा कि यदि कोरियामें जाकर वहांके प्रागतिक दलकी सहायता करके प्रजातन्त्रकी स्थापना कर सकेंगे तो जापानमें भी अपना बल बढ़ जायगा। वे शस्त्रास्त्र और गोला बारूद लेकर ओसाकामें जहाज़ पर बैठ रवाना हो ही चुके थे कि इसी बीच उनका भेद खुल गया। संवत् १९४२ के मार्गशीर्ष मासकी यह बात है कि ३७ षड़यन्त्री ओसाकामें पकड़े गये थे।

१. संवत् १९४१ के आश्विन मासमें काबायामाके कुछ उदार-मतवादियोंने एक राष्ट्रविप्लव सेना खड़ी की। एक सूचना निकालकर उन्होंने सर्वसाधारणसे कहा कि स्वेच्छाचारी सरकारके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करो और हमारे दलमें आजाओ। सूचनापत्रमें लिखा है कि सरकार इसलिये है कि वह लोगोंकी स्वाधीनता और जन्मसिद्ध अधिकारोंकी रक्षा करे, इसलिये नहीं है कि उन्हींको सतानेके लिये अन्यायकारी कानून बनावे। बड़े शोककी बात है कि अबतक सन्धि संशोधन नहीं हुआ न राष्ट्रीय परिषद् ही स्थापित हुई। शासनसूत्र कुछ अफ़सरोंके हाथमें है जो राजवंशकी मर्यादाको विशेष कुछ नहीं समझते। ९०से अधिक लोग इस मामलेमें पकड़े गये और उनपर खून और डाकेज़नीका मुकद्दमा चला।

समयके लिये वे पहिलेसे ही तैयार रहते थे। वे कानून बना सकते थे, उसे तोड़ भी सकते थे।

सरकारकी इस मनमानी घरजानीके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु यह ध्यानमें रखना होगा कि सरकारको देशमें शान्ति बना रखनी थी और वह भी ऐसे समय जब कि बहुतसे ऐसे राजनीतिक आततायी थे जो हर उपायसे अपने राजनीतिक सिद्धान्तोंके अनुसार शासन-यन्त्र स्थापित करानेकी चिन्तामें थे। यह भी सच है कि जिस समय एक ओरसे सरकार कड़ाईके साथ राजनीतिक आन्दोलन और प्रचार कार्यको दबा रही थी उसी समय दूसरी ओरसे मुख्य मुख्य सरकारी राजनीतिज्ञ प्रतिज्ञात शासन प्रबन्धके निर्म्माण करनेमें लगे हुए थे।

संवत् १६४०के भाद्रपद मासमें, इतो हिरोबुमी यूरोपसे लौट आये और शासन संबंधी प्रस्ताव प्रस्तुत करने तथा मन्त्रि-मण्डलका नवीन सङ्गठन करनेमें लग गये। इतो पाश्चात्य देशोंकी राजनीतिक संस्थाओंको समझनेके लिये गये थे और वे १८ महीने इसी काममें लगे रहे। सबसे अधिक उनका निवास जर्मनीमें हुआ। कहते हैं की जर्मनीमें रहते हुए प्रिन्स बिस्मार्क-पर[1] उनकी बड़ी श्रद्धा जम गयी और उन्होने वहां उस महान्

१ प्रिन्स बिस्मार्क—जन्म संवत् १८७२, मृत्यु १६५७। जर्मनीके सब राज्योंको प्रशियाके अधीन करके जर्मनीको एक महान् बलशाली राष्ट्र बनाने वाले अपने समयके अद्वितीय राजनीतिज्ञ प्रिन्स बिस्मार्क यही हैं। यह कट्टर राजभक्त और परमदेशभक्त थे। वंशपरंपराके अधिकारसे संवत् १६०४ में ये बर्लिनकी राजसभाके सभासद हुए। १६१७ में इन्होंने रूसमें जर्मनी की ओरसे एलचीका काम किया। १६१६ में फ्रांसमें राजदूत बनाकर भेजे गये। शीघ्रही वहांसे बुलाये जाकर जर्मनीके वैदेशिक सचिव बनाये

राजनीतिज्ञ तथा प्रशियाके शासकवर्गकी शासनप्रणालीका बड़े ध्यानसे निरीक्षण किया।

प्रजातन्त्र शासनप्रणालीके प्रवर्तनमें उन्होंने पहला काम यह किया कि जापानके सरदारोंको उनकी परम्परागत प्रतिष्ठा-से पुनः भूषित किया। संवत् १९२४के पुनःस्थापन और तदुपरा-न्तके दामिओंके शासनान्तसे समस्त तालुकेदारों (दामिओं) और दरबारके सरदारोंको प्रतिष्ठा और मान मर्यादाका कोई

गये। चार वर्ष उपरान्त आस्ट्रिया और प्रशियाके बीच ज़मीनके बारेमें झगड़ा चल पड़ा। युद्ध हुआ। उस समय बिस्मार्कही प्रशियामें मुख्य सूत्रधार थे। इस युद्धमें प्रशियाकी जीत हुई। तबसे आस्ट्रिया जर्मनीसे दबकर चलने लगा। १९२४ में बिस्मार्क मुख्य मन्त्री हुए। इसके तीन वर्ष बाद फ्रान्स-जर्मन युद्ध हुआ जिसमें जर्मनीने अद्भुत पराक्रम दिखलाकर फ्रान्सको बिलकुल ही दबा दिया। इसका भी श्रेय बिस्मार्क ही को दिया जाता है। प्रिन्स बिस्मार्क जैसे चतुर राज-नीतिज्ञ थे वैसेही युद्ध कलाके जाननेवाले भी थे। केवल जर्मनीमें ही नहीं, सारे यूरपमें उस समय बिस्मार्ककी बातको काटनेवाला कोई नहीं था। जापानके प्रिन्स इतो जिन्हें जापानका बिस्मार्क कहते हैं, एक प्रकारसे इन्हींके शिष्य थे। इनकी नीति खड्गहस्त नीति ("खून और लोहेकी नीति") कही जाती है। इनका यह विश्वास था कि खड्गहस्त रहने ही से हमारे साथ कोई अन्याय नहीं कर सकेगा। इसलिये जब जब यह राजनीतिक बातचीत किसी देशसे आरम्भ करते थे तो उस बातचीतके पीछे जर्मनीका खड्ग आतंक का काम करता था। परन्तु यह परदेशहरणके भूखे नहीं थे, क्योंकि आस्ट्रिया जब युद्धमें हारा और जर्मन सेनापतियोंने इस बातपर ज़ोर दिया कि आस्ट्रियाकी राजधानी वियेनापर अब चढ़ जाना चाहिये तब बिस्मार्कको बहुत दुःख हुआ। यहां तक कि जब बादशाह भी सेनापतियोंकी इन बातोंको सुनने लगा तो उन्होंने वियेनापर चढ़ाई करनेके बदले मर जाना ही अच्छा बतलाया। यह 'अति' के बड़े विरोधी थे। हृदयके बड़े सच्चे थे। राजकाजमें जब इन्हें झूठ बोलना पड़ता था तो इन्हें बहुत दुःख होता था।

दरबारी चिह्न न रहा था। अर्थात् दरबारके सरदारों और पूर्वके दामिओं लोगोंका वैशिष्ट्य दिखलानेवाली उपाधियाँ आदि नहीं थीं, यद्यपि समाजिक व्यवहारमें परम्पराकी लीक मिट नहीं गयी थी। संवत् १९४१के श्रावण मासमें इतोकी सलाहसे पाश्चात्य ढङ्गपर प्रिन्स, मारक्विस, काउण्ट, वाइ-काउण्ट और बेरनकी सम्मानवर्धक उपाधियां नवीन निर्माण की गयीं और पुराने दरबारियों और पूर्वके तालुकेदारोंको उनकी परम्परागत प्रतिष्ठाके अनुसार इनसे भूषित किया गया और जिन लोगोंने पुनःस्थापनामें महत्वपूर्ण कार्य किये थे वे भी " सरदार " बनाये गये। उस समय पुराने और नवीन बनाये सरदारोंकी संख्या ५०५ थी। सरदारोंकी इस पुनर्म्मान प्राप्तिसे इतो सरदारोंमें और सरकारी दरबारोंमें बहुतही प्रिय हो गये।

इसके बाद उन्होंने मन्त्रिमण्डलका ढाँचा बदला, जिससे उस प्रणालीके अनुसार मन्त्रिमण्डलका कार्य हो जिसके निर्म्माण होनेकी बात थी। अबतक शासन-प्रबन्धमें बड़ीही गड़बड़ थी क्योंकि शासनके जितने विभाग थे उनका कार्य ठीक ठीक बँटा हुआ नहीं था। एक विभागका कार्य्य दूसरे विभागके दफ्तरमें जा पहुँचता था। फिर भी सब विभागोंके मन्त्री परस्पर बिलकुल स्वतन्त्र थे पर और कोई एक मन्त्री ऐसा नहीं था जो समस्त राज्यकार्यके लिये उत्तरदायी हो। प्रधान मन्त्री (दाइजो दाइजिन) जो थे वे बैठे बैठे कानून बनाया करते थे और हुक्म दौड़ाते थे पर राज्यकी नीतिको सँभा-लने या चलानेका काम नहीं करते थे। नवीन मन्त्रिमण्डलमें प्रधान मन्त्री अध्यक्ष मन्त्री (नाईकाकू सोरी दाइजिन) हुए और जर्मनीके प्रधानाध्यक्ष (चान्सेलर) के समान राष्ट्रका समस्त

कार्यभार इनपर रखा गया। भिन्न भिन्न विभागोंके मन्त्री इनके प्रत्यक्षाधीन हुए और इनके सामने अपने अपने विभागकेलिये जिम्मेदार बनाये गये। इतो स्वयं जापानके नवीन मन्त्रि-मण्डलमें प्रथम अध्यक्ष मन्त्री हुए।

इसके बादका सुधार इन्होंने यह किया कि सरकारी ओहदे-केलिए उचित परीक्षा लेनेका प्रबन्ध किया। अब तक सिफा-रिशसे काम होता था। जिसपर बड़े लोगोंको कृपादृष्टि हो जाती उसीको बड़ा ओहदा मिल जाता। बिना छलकपटके उच्च पदका प्राप्त होना असम्भव था। राजनीतिक आन्दोलन करनेवालोंके असन्तोषका यह भी एक कारण था और इसीसे उन्हें सरकारपर आक्रमण करनेकी बहुतसी सामग्री मिल जाती थी। इस सुधारका उस प्रतिज्ञात राज्यप्रणालीसे यद्यपि कोई सम्बन्ध नहीं था तथापि सरकारी कामोंपर सिफारशी लोगोंकी भरतीका क्रम इससे रुक गया और शासनचक्रमें बड़े बड़े सुधार हो सके।

इस प्रकार लोकतन्त्र राज्यप्रणालीकी स्थापनाको लक्ष्य करके बराबर सुधार हो रहा था तथापि सरकारकी वैदेशिक नीतिके कारण उसकी बड़ी ही निन्दा होने लगी।

संवत् १६४२ के पौषमासमें सिओलकी सन्धिसे तथा उसी वर्षके वैषाखमें तीनस्तीनकी सन्धिसे सं० १६३६-४१का कोरिया प्रकरण और तज्जनित चीनप्रकरण, जब शान्त हो चुका तब सरकारने पाश्चात्य राष्ट्रोंकी सन्धियोंके संशोधनका कार्य उठाया जिसपर जापानमें आकाश-पाताल एक हो रहा था। मार्किस इनोउयी उस समय वैदेशिक मन्त्री थे। उनका यह ख्याल था कि सन्धि-संशोधन करानेका सबसे अच्छा उपाय पाश्चात्य राष्ट्रोंको यह विश्वास दिलाना है कि जापान

पाश्चात्योंके कानून, संस्थाएँ, आचार-विचार और रहन सहन सब कुछ स्वीकार करनेके लिये तैयार है। इसलिये सन्धि संशोधनके पूर्व वे यह आवश्यक समझते थे कि देश सिरसे पैर तक यूरपके ढाँचेमें ढल जाय। उसके विचार और लक्ष्यके साथ उसके साथी भी सहमत हुए, और देशका युरोपीकरण बड़े भारी परिमाणपर आरम्भ हुआ। युरोपीयोंकी देखा देखी सामाजिक सम्मेलनोंके लिये तोकिओमें सरकारी खर्चसे "रोक्कूमेइक्वाँ" नामका एक सार्वजनिक विशाल भवन बन गया। यूरपके नाचनेका ढङ्ग दिन रात सिखलाया जाने लगा, स्त्रियोंको भी युरोपीय ढङ्गकी पोशाक पहननेका और बाल बनानेका शौक़ सरकारकी ओरसे दिलाया जाने लगा। उद्यानोंमें साथ भोजन और चित्र विचित्र वस्त्रोंको पहिनकर नाचनेकी प्रथा जापानी समाजमें प्रवेश हो गयी। पाठशालाओंके पाठ्य विषयोंमें विदेशी भाषाओंकी पढ़ाईका समावेश हुआ, और अंग्रेज़ी भाषाको ग्रहण करलेने और अपनी मातृभाषाको त्याग देनेकी भी बहुतसे पाश्चात्य सभ्यताके प्रेमियोंने सूचना दी और उसका पक्ष समर्थन किया।

इस प्रकार युरोपीकरणकी इस आडम्बरपूर्ण पद्धतिका उपक्रम होने लगा था और पाश्चात्य सभ्यताके चारों ओर गुण गाये जा रहे थे जब सन्धियोंके संशोधनार्थ विदेशीय राष्ट्रोंको निमन्त्रण भेजा गया। संवत् १९४३के वैशाख मासमें सन्धिसम्बन्ध प्रतिनिधियोंसे और जापानी वैदेशिक मन्त्रीसे बातचीत आरम्भ हुई। कई बैठकें हुईं और अन्तमें सब बातें तै भी हो गयीं। पर जब वह मसविदा लोगोंके सामने आया तब तो लोगोंमें बड़ा ही असन्तोष फैला। इसका मुख्य कारण यह था कि इसमें जापानी न्यायालयोंमें विदेशी न्यायाधीशों-

को नियुक्त करनेकी भी एक शर्त्त थी। मन्त्रिमण्डलके बहुतेरे मन्त्री इस मसविदेसे असन्तुष्ट थे। बासोनाड नामके एक फरांसीसी न्यायतत्वज्ञ जो एक नवीन धर्मसंग्रह बनानेकेलिये न्यायविभागमें नियुक्त किये गये थे, उन्होंने भी मसविदेमें कई दोष दिखलाकर कहा कि ऐसी सन्धि करना ठीक न होगा। पुराणप्रिय दलवालोंने भी जो सदा सरकारके पक्षमें रहते थे, इस बार बड़ा घोर विरोध किया। स्वभावतः ही वे लोग युरोपीकरणके सर्वथा प्रतिकूल थे। उन्होंने संशोधनपरही असन्तोष प्रकट नहीं किया बल्कि जिन उपायोंसे वैदेशिक सचिव सन्धि-संशोधनका प्रयत्न कर रहे थे उन उपायोंका भी उन्होंने खूब खण्डन किया। परिणाम यह हुआ कि काउण्ट इनोउयीने राष्ट्र प्रतिनिधियोंको बातचीतके एकबारगी ही स्थगित होनेकी सूचना देकर संवत् १९४४के श्रावण मासमें आप स्वयं इस्तीफा देकर अलग हो गये।

सरकारकी इस भूलसे राजनीतिक आन्दोलन करनेवालों-को अच्छा मौका हांथ लगा। जो लोग राजनीतिक दलोंके टूट जानेसे देशमें तितर बितर हो गये थे वे सन्धि संशोधनके वादविवादसे उत्साहित होकर राजधानीमें आकर जमा होने लगे। उसी समय दाइदोदाङ्केत्सु अर्थात् 'प्रबल एकतावादीदल' सङ्गटित हुआ और गोतो उसके नेता हुए। अनुयायियोंकी कमी न थी—उदारमतवादी, प्रागतिक, साम्राज्यवादी, और पुराणप्रिय (इस नामका वस्तुतः कोई दल नहीं था परन्तु इस विचारके लोग थे)—ये सब इस दलमें शामिल हो गये। सच पूछिये तो इसको दल कहना इसके विराट् रूपको कम करना है। इसे उन लोगोंका जमाव कहना चाहिये जो सरकारी विदेशप्रतिनीतिसे असन्तुष्ट थे। गोतो, इता-

गाकीके समान अपने सिद्धान्तोंके पक्के नहीं थे, न ओकुमा-के समान गम्भीर विचारके ही पुरुष थे। ये रोबेस्पियरी[1] के ढङ्गके आदमी थे। इनमें उत्साह बहुत था। आवेग भी खूब था और लोगोंको अपने अनुकूल बनालेनेकी वशीकरण विद्या भी इनके पास थी। १८२४ में शोगून केकीको समझाकर शासनसत्ता सम्राट्को अर्पण कर देनेके लिये उन्हें ठीक करनेवाले व्यक्ति यही गोतो थे। १८३० में इन्होंने दरबार-से इस्तीफा दे दिया और इतागाकीके साथ शासन-प्रणालीसुधारके आन्दोलनमें सम्मिलित हो गये। सन्धि-संशोधनके काममें जब सरकार बिफल हुई तब इन्होंने लोगोंसे कहा कि अब छोटी छोटी बातोंके लिये झगड़ना छोड़ दो और सरकारका विरोध करनेके लिये एक होकर खड़े हो जाओ। महाशय तोयाबीने कहा है कि झुण्डके झुण्ड लोग आकर, बिना सोचे, बिना समझे, बिना किसी उद्देश्यके,

---

१. रोबेस्पियरीका पूरा नाम था माक्सिमिलिअम रोबेस्पियरी। संवत् १८१५ में फ्रांसमें इसका जन्म हुआ और संवत् १८५१ में इसकी मृत्यु हुई। फ्रान्सके राष्ट्रविप्लवमें इसने प्रधान भाग लिया था। और इसी विप्लवमें इसका अन्त भी हुआ। इसने वकालतकी शिक्षा पायी थी और इसीकी बदौलत उसकी लोकप्रियता और प्रसिद्धि बहुत जल्द बढ़ी और खूब बढ़ी। फ्रान्समें इसने अपना रंग खूब जमाया था। जो लोग राजतन्त्रके विरोधी थे वे इसके पक्षमें हो गये थे और इसको मानते थे, क्योंकि यह बादशाहको मार डालनेका उपदेश दिया करता था। संवत् १८५० में यह "राष्ट्ररक्षा-सभा" का मन्त्री हुआ और तब तो इसने अन्धेर करना आरम्भ कर दिया। जिसको चाहा फ़ांसीपर लटका दिया। प्रतिदिन ३० आदमीके हिसाबसे उसके शत्रु और प्रतिस्पर्द्धी सूलीपर चढ़ाये जाते थे। परन्तु एकही वर्षमें उसपरसे राज्यसूत्रधारियोंका विश्वास टूट गया और अन्तमें उसीको सूलीपर चढ़ना पड़ा।

केवल इनकी आकर्षणशक्तिसे खिचकर इनके दलमें भरती होने लगे। इससे बड़ी खलबली और हलचल मचने लगी, क्योंकि बहुतसे आन्दोलनकारियोंने इस अवसरसे लाभ उठा कर अपना उद्योग पुनः आरम्भ किया। इतागाकी और उसके अनुयायियोंने पुनः एक प्रार्थनापत्र सरकारके पास भेजा और वाक्स्वातंत्र्य तथा सभासमाजस्वातंत्र्यको कठोर बन्धनोंसे मुक्त करने और सन्धियोंका शीघ्र संशोधन करानेकी प्रार्थना की।

संवत् १९४२ के पौषमासमें शान्ति रक्षा-कानून (हो आन जोरेई) बना। पुनः स्थापनासे अबतक जितने कानून बने थे उनमें यही सबसे भयङ्कर था। इस कानूनके अनुसार गुप्त सभा समितियोंका करना बड़ी कठोरताके साथ रोक दिया गया और जो कोई इस कानूनका उल्लङ्घन करता उसे दो महीनेसे लेकर दो वर्ष तकका कैदका दण्ड दिया जाता था और साथ ही १० से १०० येन तक जुर्माना भी होता था।

यदि कोई ऐसी पुस्तकें या पुस्तिकाएँ लिखकर छपवाता कि जिनसे सार्वजनिक शान्ति भङ्ग होनेकी सम्भावना होती तो केवल लेखक ही सज़ा नहीं पाता था बल्कि छापाखाना भी ज़ब्त कर लिया जाता था। इस कानूनमें एक धारा यह भी थी कि राजमहलसे सात मीलके अन्दर रहनेवाले किसी पुरुषपर यदि सार्वजनिक शान्ति भङ्ग करनेका सन्देह होगा तो वह तीन वर्षके लिये उस प्रदेशसे निर्वासित कर दिया जायगा[1]।

जिस रोज़ यह कानून बना उसी रोज़ इसका अमल भी

---

१. यहां राजमहल कहनेका कारण यही है कि यह तोकिओ राजधानीके मध्यमें है। कोई यह न समझे कि राजनीतिक उपद्रवोंसे राजमहलकी रक्षा करनेके लिये कानूनमें राजमहलका नाम आया है। सम्राट् का तो इन सब बखेड़ोंसे कोई सम्बन्ध ही न था।

जारी हुआ। उसी रोज़ अन्तःप्रदेशके सचिव यामागाताकी आज्ञासे पुलिसके अध्यक्ष जनरल मिशीमा सुयोने ५७० से भो अधिक मनुष्योंको निर्वासित कर दिया[२]। इन निर्वासितों में तोकिओके सभी मुख्य मुख्य राजनितिज्ञ और प्रचारक लोग थे। वास्तवमें इस कानूनने फ़ौजी कानूनका नज़ारा दिखला दिया। जिन्होंने अपने निर्वासित किये जानेका सबब पूछा वे तुरत पकड़े गये और जेल भेज दिये गये। जिन्होंने अपने निर्वासित मित्रोंकी ओरसे अधिकारियोंके पास प्रार्थनापत्र भेजे उनकी भी वही गति हुई। राजधानीके नागरिकोंमें बड़ी घबराहट फैल गयी, बड़ी हलचल मच गयी, चारों ओर पुलिसका पहरा बैठ गया, प्रत्येक सरकारी विभागके कार्यालय और मन्त्रीके मकानकी रक्षाके लिये फ़ौजी सिपाही पहरा देने लगे। तोकिओमें तो उस समय सब भयभीत थे। राष्ट्र विप्लवके समय जैसी पैरिसकी दशा थी वैसी इस समय तोकियोकी हो गई।

पर इस वर्णनको पढ़ते हुए यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि सरकार जो इतनी कड़ाई कर रही थी इसका कारण केवल इतनाही था कि सन्धिके प्रश्नपर जो घोर आन्दोलन हो रहा था वह दब जाय। सच तो यह है कि जापानमें वैदेशिक नीतिपर टीकाकरनेवालोंसे सरकारका बड़ा ही कठोर व्यवहार होता है। सर्वसाधारण अपने राष्ट्रीय सम्मानका जितना विचार रखते

२. निर्वासितोंमें ऐसे ऐसे लोग थे—ओज़ाकी युकिओ (बादको तोकिओके प्रधान), होशीतोरु (बादको प्रतिनिधि सभाके सभापति, मार्ग प्रबन्ध मन्त्री, संयुक्त राष्ट्रसे बातचीत करनेवाले जापानी राजदूत), हयाशी युज़ो (मार्ग-प्रबन्ध-मन्त्री), नाकाजिमा नोबुयुकी (बाद को जो प्रतिनिधिसभाके सभापति हुए), इत्यादि।

हैं उतना और किसी बातका नहीं। मालूम होता है कि इस नये कानूनकी निर्दयताको सरकार भी खूब समझती थी और वह यह भी जानती थी कि इससे लोग चिढ़ गये हैं। इसलिये समझौतेके ख्यालसे काउण्ट ओकूमाको सरकारने शासक-मण्डलमें लेकर वैदेशिकसचिव बनाना चाहा। काउण्ट ओकूमा लगातार लोकपक्षपर अटल रहे। सरकार ने उनसे वैदेशिक सचिव बनने और सन्धिसंशोधनकी बातचीत करनेका भार ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। काउण्ट ओकूमाने इस निमन्त्रणको स्वीकार किया लौर संवत् १६४५ के माघ मासमें वैदेशिक सचिवका कार्य भार ग्रहण किया।

लोकतन्त्र शासनप्रणालीके प्रवर्त्तनार्थ सामग्री भी सरकार प्रस्तुत कर रही थी। वैशाख मासमें मंत्र परिषद् (सुमत्सुइन) सम्राट्को सलाह देनेके लिये स्थापित हुई। और दो दिन बाद इतो अध्यक्ष मन्त्रीका पद त्यागकर नवीन मंत्र परिषद्के अध्यक्ष हुए और कृषिव्यवसाय सचिव कुरोदा अध्यक्ष-मन्त्री हुए। परिषद्के अध्यक्ष बननेमें इतोकी यह कामना थी कि शासन पद्धतिका जो मसविदा उन्होंने अपनी देखभालमें तैयार कराया था वह उनके ही सामने परिषद्में निश्चित हो जाय।

मन्त्र परिषद्ने शासनपद्धतिके मसविदेपर विचार किया और उसे मंजूरकर लिया। तब सम्राट्ने भी उसे मंजूरी दे दी। संवत् १९४६ (माघ मासमें) बड़े ही चित्ताकर्षक समारोहके साथ और समस्त सरदारों और उच्च राजकर्म्मचारियोंकी उपस्थितिमें स्वयं सम्राट्ने उसे घोषित किया। ऐसे मङ्गलमय उत्सवके उपलक्ष्यमें समस्त राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये गये और इसे नवीन युगका उषःकाल समझ सर्वसाधारणने खूब आनन्द मनाया।

इस प्रणाली की घोषणासे लेकर प्रथम सार्वजनिक निर्वाचन होने तक अर्थात् संवत् १६४७ (श्रावण मास) तक के बीच सन्धि-प्रश्नका विवाद पुनः उठनेके अतिरिक्त और कोई मार्केकी घटना नहीं हुई। ओकुमाने विदेशीय राष्ट्र प्रतिनिधियोंसे कह सुनकर सन्धि संशोधनकी जो नई शर्त्तोंका मसविदा तैयार किया और जिन्हें सबसे पहले 'लण्डन टाइम्स' (संवत् १६४६ केवैशाख मासके एक अङ्क) में[१] उसके संवाददाताने प्रकाशकर दिया। उनको देखते ही दरबारमें और दरबारके बाहर भी बड़ा विरोध होने लगा। जिस शर्तमें सबसे श्रेष्ठ न्यायालयमें विदेशी न्यायाधीश नियुक्त करनेकी बात थी उससे तो लोग बहुतही असन्तुष्ट हुए। दरबारमें विरोध करनेवाले मन्त्र परिषद्के अध्यक्ष स्वयं इतोही थे जिनका यह कहना था कि यह बात नवीन शासनप्रणालीके अभिप्रायके सर्वथा विरुद्ध है। कार्तिक मासमें ओकूमा मन्त्रिमण्डलकी सभासे विदेश संबंधी राज्यकार्यालयको जब लौट रहे थे तो उनकी गाड़ीपर किसीने वम फेंका जिससे ओकुमाके दाहिने पैरमें बड़ा ज़खम हो गया। मन्त्रिमण्डलकी सभामें जिससे ओकूमा अभी लौटे थे, यही निश्चय हुआ था कि सन्धिका काम अभी स्थगित कर देना चाहिये। इस प्रकार ओकूमाको अपना पद छोड़ना पड़ा और फिर एक बार सन्धिसंशोधनकी बात चीत रुकी रह गयी।

ओकुमाके साथही अध्यक्ष मन्त्री कुरोदाने भी अपना पदत्याग किया। अब नया मन्त्रिमण्डल बनना आसान काम नहीं था क्योंकि सबको यह भय था कि सन्धि-संशोधनका काम न होनेसे राष्ट्रीय परिषद्के पहलेही अधिवेशनमें बड़ी बड़ी कठि-

---

१. १६ अप्रैल १८८६ ई०।

नाइयाँ उपस्थित होंगी और इसलिये किसीकी भी मन्त्रीपद ग्रहण करनेकी हिम्मत नहीं पड़ती थी। पौष मासतक योंही अनिश्चित अवस्था रही जब अन्तमें जाकर यामागाता मुख्य मन्त्री हुए और मन्त्रिमण्डल सङ्गठित हुआ।[१]

इस समय वैदेशिक राजनैतिक मामलोंकी तुलनामें देशी मामले स्थिर और शान्तही रहे। फिर भी एक विशेष मार्केकी बात यह देखी गयी कि नवीन प्रणालीपर कुछ भी विचारपूर्ण टीकाटिप्पणी या आलोचना नहीं हुई। पुराने गरमदलवाले उदारमतवादी भी जो स्वाधीनता, समता और मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकारोंके लिये चिल्ला रहे थे उन्होंने भी नई राज्यप्रणालीकी सूक्ष्म परीक्षा नहीं की। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय सन्धि-संशोधनका ही सबको ध्यान था। पर हम तो यह समझते हैं कि राज्यप्रणाली की कोई आलोचना न होनेका मुख्य कारण यह था कि अभी लोगोंने स्वाधीनता, स्वसत्ता, मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकार और प्रातिनिधिक संस्थाओंको ठीक ठीक समझाही नहीं था। जापानियोंकी मनोवृत्ति भी अंशतः इसका कारण हो सकती है। जानकर हो या बेजानेही हो, उन्होंने सम्राट्की तात्विकसत्ताको सिर आँखों चढ़ा लिया था। सर्वसाधारणका यही ख्याल था कि पुनःस्थापनाके प्रतिज्ञापत्रानुसारही सम्राट्ने नई शासनप्रणालीका दान दिया है। इसके साथही उन्हें इस बातका भी अभिमान हो गया था कि जापानने बिना रक्तपातके ऐसा शासन प्राप्तकर लिया और इस कारण ये सूक्ष्मरीत्या इस प्रणाली की परीक्षा नहीं कर रहे थे।

---

१. जबतक स्थायीरूपसे कोई मन्त्रीमंडल नहीं बना था तबतक प्रिन्स साओ अध्यक्ष-मन्त्रीका काम देखते थे।

इसके अतिरिक्त देशके समस्त राजनीतिज्ञ, चाहे सरकारी काम करते हों या न करते हों, इसी चिन्तामें थे कि किसी प्रकार इस प्रणालीकी डोंगी पार लगे। वास्तवमें इतागाकी तथा अन्य प्रमुख नेता व्याकुल होकर अपने साथियोंको समझा रहे थे कि ऐसे प्रणालीके प्रवर्त्तित हो जानेसे आप लोगोंपर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ पड़ी है और इसलिये ऐसे समयमें सरकारसे विवाद न करनेमें ही देश की लाज रहेगी।

इस प्रकार नई शासनपद्धतिपर कोई टीकाटिप्पणी या निन्दा नहीं हुई। लोग बड़ी गम्भीरताके साथ उसकी ओर झुके और अपने भविष्य को बनाने में तत्पर हुए।

चतुर्थ परिच्छेद ।

नवीनप्रणालीके निर्म्माता ।

इसके पहले दो परिच्छेदोंमें हमने नई प्रणालीकी घोषणा होनेके पूर्वके आन्दोलनका वर्णन किया और विशेषकर उन-लोगोंका जो सरकारी कर्मचारी नहीं थे और जो आन्दोलन करते थे, दल बाँधते थे और अपने सिद्धान्तोंका प्रचार करते थे। इस परिच्छेदमें भी वर्णन तो उसी अन्दोलनका होगा परन्तु विशेषतः ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें कि जो सरकार दरबारमें प्रमुख राजनीतिज्ञ और राष्ट्रनेता थे। इसमें हमारा अभिप्राय यही है कि जिन लोगोंने राज्यप्रणालीको निर्म्माणकर स्वीकृत किया उनके राष्ट्रीय विचार क्या थे, राजनीतिके किन सिद्धा-न्तोंको वे मानते थे और किस अभिप्रायसे उन्होंने यह कार्य किया इत्यादि यह सब यथासम्भव मालूम हो जाय।

नूतन प्रणालीके निर्माताओंमें हम केवल प्रिंस ईतो जिनके अध्यक्षतामें नयी प्रणालीकी रचना हुई और वाईकाउन्ट इनुए की, जो कि इस पत्रके प्रधान लेखक थे और उनके साथी वाइकाउन्ट ईतो मियोजी और कानेको किन-टारो इत्यादि को ही नहीं शामिल करते। हम इनमें उन सबका भी समावेश करते हैं जिन्होंने मन्त्र परिषद्में इस मसविदेपर वादविवाद किया था। इस परिच्छेदमें हमें उनके व्यक्तित्वसे कोई काम नहीं है, केवल उनके उसी विचार और भावनाको देखना है जिस विचार और भावनाके प्रभावसे उस राज्यप्रणालीके राजनीतिक सिद्धान्त

निश्चित हुए हैं कि जिसपर जापानकी प्रातिनिधिक शासन प्रणालीका सङ्गठन निर्भर करता है। हम पहले उनके राजनी-
ाक विचारों और सिद्धान्तोंका परिचय प्राप्त कर उन
ातोंकी—उन मनुष्यों और पदार्थोंकी भी—परीक्षा करेंगे
ह जिन्होंने आन्दोलनके ज़मानेमें प्रणालीके निर्म्माताओंको
उ ओर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीतिसे प्रवृत्त कर दिया था।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बहुतसे जापानी नेता-
ांने यह मान लिया है कि इस लोकतन्त्र शासन प्रणालीका
ान पुनःस्थापनाके समयकी सम्राट्की 'प्रतिज्ञा' का ही पूर्व-
ष्ट और प्रत्यक्ष फल था। इसमें सन्देह नहीं कि सर्व साधा-
ण तो यही मानते हैं कि सम्राट्ने स्वयं ही अपने निरीक्षणमें
स शासनपद्धतिका निर्म्माण कराया है, जैसे अमरीका-
ासियोंको यह धारणा है कि उनके पूर्वजोंने ही अमरीका-
लिये राजनीतिक समताके विचारसे सर्वसाधारणके उप-
ारार्थ ही लोकशासनकी पद्धति निर्म्माण की, यद्यपि इतिहास
उ बातको प्रमाणित नहीं करता। लोगोंका यह ख्याल है कि
लौकिक बुद्धि सम्पन्न सम्राट्ने पुनःस्थापनाके समय ही
ह जान लिया था कि आगे चलकर लोकतन्त्र शासनका
वर्तन करना होगा और इसलिये वे बराबर सरकारको उस
ार प्रवृत्त करते रहे। इसमें सन्देह नहीं कि पुनःस्थापनाके
ादके कई राजाज्ञाएँ जैसे संवत् १९३३ में गेन्रो-इन अर्थात्
नेटके स्थापनाकी राजाज्ञा, १९३५ में फूकेन-काई अर्थात्
ादेशिक शासकोंकी सभाके स्थापनाकी राजाज्ञा, तथा १९४६
नई शासनपद्धतिके स्थापनाकी राजाज्ञा आदिका उल्लेख
तिज्ञापत्रमें आता है पर इससे यह नहीं साबित होता
ह जिस समय 'प्रतिज्ञा' की गयी उस समय इन

घटनाओंका होना पहले ही मालूम हो गया था। इस भ्रमपूर्ण धारणाका हमने द्वितीय परिच्छेदमें पर्याप्त रीतिसे उत्तर दे दिया है।

परन्तु यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि एक बातमें जापानकी प्रातिनिधिक शासनप्रणालीका इतिहास चीन, रूस, ईरान और रूमसे बिलकुल भिन्न है। इन देशोंके सम्राट्, राजमाता, ज़ार और सुलतान जितनी जल्दीसे लोकतन्त्र शासनपद्धतिके निर्म्माण करनेका वचन देते हैं उतनी ही जल्दी उसे वापस भी ले लेते हैं। पर जापानमें सम्राट्के वचनका अक्षरशः पालन हुआ है।

संवत् १९३१ में लोकतन्त्र शासनका प्रश्न उठा और तबसे उस आन्दोलनकी प्रगति कभी पूर्ण रूपसे कुंठित नहीं हुई यद्यपि समय समयपर गरम दलवालोंकी उद्दण्ड कार्रवाइयोंके दबानेके लिये कड़ाई की गयी इसमें सन्देह नहीं। मन्त्रिमण्डलमें जितने मुख्य मुख्य राजनीतिज्ञ थे वे सब प्रातिनिधिक शासन प्रणालीके प्रवर्त्तनके पक्षमें थे। बिरला ही कोई विरोध करता था। राजवंशज प्रिन्स अरिसुगावा, प्रिन्स सांजो और प्रिन्स इवाकुरा — मेजी-शासनमें प्रधान भाग लेकर काम करनेवाले ये ही लोग थे जो इस समय दरबारमें होते हुए लोकतन्त्र शासनका पक्ष ले रहे थे। सं० १९४० में ही ओकुमाके राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाकी सूचनाका इनमेंसे किसीने विरोध नहीं किया, यह विशेष मार्केकी बात है। ओकुबो जो अभिनव जापानके एक बड़े भारी निर्म्माता हुए हैं और जो पुनःस्थापनाके कालसे अपने देहान्त (संवत् १९३५) तक दरबारमें प्रधाननेता रहे, गरम दलवालोंसे रूखा और बेमेलका बर्ताव करनेके कारण

कभी कभी सुधार-विरोधी समझे जाते थे। परन्तु १६३२ में जो शासकवर्गकी सभा (चीहो चिओकान काइगी) स्थापित हुई वह इन्हींकी बदौलत हुई। इसीसे मालूम होता है कि वे प्रातिनिधिक शासन प्रणालीके विरोधी नहीं थे। इतो कहते हैं कि ओकुबोका विचार था कि कुछ दिनोंमें देशको प्रातिनिधिक शासनप्रणाली ग्रहण करनी चाहिये पर इससे पहले पूरी तैयारी भी हो जानी चाहिये क्योंकि वे कहते थे कि सैकड़ों वर्षोंसे जिनके आचार विचार और रहन सहन ताल्लुकेदार-शासनपद्धतिके अनुकूल होते आये हैं उनके लिये एकाएक एक ऐसी शासनप्रणालीको अपनालेना असम्भव है कि जिससे साम्राज्यकी सत्ता ही अन्तमें जाकर उनके हाथमें आनेवाली हो।

मेजी-शासनके पहिले दश वर्षोंमें ओकुबोके बाद किदोका नाम आता है। लोकतन्त्र शासनका प्रश्न, जापानकी राज्यप्रणालीमें किदोने ही उपस्थित किया। सं० १६३० में अर्थात् यूरपकी यात्रासे लौट आनेके कुछ ही दिन बाद इन्होंने मन्त्रिमण्डलके सब सभासदोंके पास एक विज्ञप्तिपत्र भेजकर लोकतन्त्र शासनप्रणालीकी सूचना दी थी। इतागाकी और उनके सहान्दोलनकारियोंके द्वारा यही प्रश्न उठनेके एक वर्ष पूर्वकी यह बात है।

ओकुबो और किदोके उपरान्त ओकुमाका प्राबल्य हुआ, पर वह बहुत थोड़े दिनोंके लिये, और उनके बाद इतो, इनो उयो, कुरोदा, यामागाता आदि लोग आये। इन्हींके अविश्रान्त परिश्रम और उद्योगका फल है जो आज जापान अपनी वर्तमान प्रातिनिधिक शासनप्रणालीके रूपमें देख रहा है।

प्रातिनिधिक संस्थाओंको स्थापित करनेका उपक्रम सर-

कारने इस प्रकार किया कि सबसे पहले प्रान्तीय शासकोंकी सभा निर्म्माण की। इतागाकीका लोकतन्त्र शासन-सम्बन्धी प्रथम आन्दोलन हुआ और उसीके बाद यह सभा बनी। इस सभाका पहला अधिवेशन संवत् १६३२ के आषाढ मासमें हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि किसी प्रकार भी यह समिति सर्वसाधारणकी प्रतिनिधि-सभा नहीं थी, क्योंकि भिन्न भिन्न प्रान्तोंके शासकोंकी अर्थात् राज्यकर्म्मचारियोंकी यह समिति थी। यह धर्म (कानून बनानेवाली) सभा भी नहीं थी, क्योंकि इसका काम सिर्फ इतना ही था कि केन्द्रस्थ सरकारको प्रान्तोंकी अवस्था बतला दें, स्थानिक शासनके सम्बन्धमें परस्पर बातें करलें, और सरकार जो बिल उपस्थित करे उसपर ये लोग वाद विवाद करें यद्यपि उनके रायसे मुख्य सरकार बाधित न थी। फिर भी प्रातिनिधिक संस्थाओंका मार्ग इसने कुछ तो परिष्कृत अवश्य कर दिया। किदोने तो उसी समय इस समितिमें अध्यक्षके नाते सार्वजनीन धर्म-सभाका प्रश्न चर्चाकेलिये उपस्थित कर दिया था यद्यपि अधिक सभासदोंने यही राय दी कि अभी देशकी दशा ऐसी नहीं है कि ऐसे उन्नत शासन सुधारका निर्वाह कर सके। यह कह सकते हैं कि इस समितिके सभासद राजकर्म्मचारी थे, अर्थात् प्रजाके प्रातिनिधि नहीं थे, पर यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि लोकतन्त्र शासनके पूर्वरूपके रूपसे ही इस समितिकी स्थापना हुई थी। हाँ, इस समय यह सभा स्थानीयशासनमें प्रजाको विशेष अधिकार देनेके बदले अधिकारी वर्गका दबदबा ही बढ़ानेके काम आ रही है।[१]

---

१. साम्राज्य-सभा स्थापित हो चुकने पर भी यह शासक सभा बनी रही और अबतक है। पर जिस उद्देश्यसे यह स्थापित हुई थी उसका तो

जिस वर्ष प्रान्तीय शासक-सभाका प्रथम अधिवेशन हुआ उसी वर्ष शिष्टसभा (गेन्दो-इन) और प्रधान न्यायमन्दिर (ताइशिन-इन) भी स्थापित हुआ जिसमें शासनकार्यको तीन भिन्न भिन्न अंग हो जायँ-प्रवर्तन, धर्मनिर्माण और न्याय उस समय जापानमें जो बड़े बड़े राजनीतिज्ञ और विचार शील पुरुष थे उनपर अभी माण्टेस्क्यूकी "इन तीन समपदस्थ शासनांगों" के संस्कार जमे ही हुए थे और वे समझते थे कि सुशासनके लिये इस वर्गीकरणकी बहुत आवश्यकता है। अतएव प्रबन्ध कर्ताओंसे न्याय कर्ताओंको स्वतन्त्र करनेके लिये (ऐसा अलगाव करना उस समय सुसम्भव समझा जाता था) प्रथम न्याय-मन्दिरकी स्थापना हुई । शिष्टसभा धर्मनिर्माण के प्रस्तावोंपर बहस कर सकती थी पर उसे नये प्रस्ताव करनेका अधिकार नहीं था। इसमें ऐसे ही लोग थे जो सरदारों और अधिका-रियोंसे मनोनीत किये गये थे। इसका काम यह था कि सरकार जितने कायदे कानून बनावे उनके मसविदोंको ये लोग देख-कर उस पर वादविवाद करें और कानूनके सम्बन्धमें राज्य-सचिवको अपनी राय बतलावें। यह तो नहीं कह सकते कि यह संस्था कार्यनिपुण थी और उसको अधिकार ही क्या था, तौ भी धर्मसभाओंके संघटनके सम्बन्धमें यह उपयुक्त, विचारप्रद और शिक्षादायक सिद्ध हुई, इसमें सन्देह नहीं।

कुछ काम इसको रहा नहीं। जब कोई नया मन्त्रिमण्डल सङ्गठित होता है तो अन्तः प्रदेशके मन्त्री इसका अधिवेशन करते हैं और शासकोंको नवीन शासन नीतिकी शिक्षा देते हैं । इस सभाके द्वारा अधिकार प्राप्त राजपुरुष स्थानीय राज्यप्रबन्ध अपने ही मनसे चलाते हैं।

संवत् १६४७ में साम्राज्य-सभाके प्रथम अधिवेशनतक वह बनी रही।

लोकतन्त्र शासनके मार्गकी दूसरी मंजिल यह थी कि १६३५ में प्रान्तीय शासन सभाएँ स्थापित हुईं। जापानमें पाश्चात्य ढङ्गपर प्रातिनिधिक संस्थाएँ स्थापित करनेका यह पहला ही उद्योग सरकारने किया।

उस समय ४६ प्रान्तों(फू अथवा केन) की ४६ प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएं थीं। ये प्रतिनिधि अधिकारप्राप्त निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। २० वर्षसे अधिक उम्रवाले प्रत्येक व्यक्ति (पुरुष) के ।निर्वाचनका अधिकार था जो कमसे कम ५ येन (७$\frac{१}{२}$ रुपया) कर देता हो। (पाठशालाओंके शिक्षक, सैनिक, जन्ममूर्ख, पागल, दागी आदि लोगोंको यह अधिकार नहीं था)। औ रकमसे कम १० येन (१५ रुपया) देनेवाले २५ वर्षसे अधिक वयस् वाले प्रत्येक पुरुषको निर्वाचित होनेका अधिकार था। इन प्रतिनिधियोंके अधिकार-कालकी अवधि ४ वर्षकी होती थी। इनमेंसे आधे सभासदोंको प्रति दो वर्षमें सार्वजनिक निर्वाचन द्वारा निर्वाचित होकर आना पड़ता था। यह प्रान्तीय समिति प्रतिवर्ष एक मास बैठती थी। इसका मुख्य काम प्रान्तीय सरकारके आयव्ययकी जाँच करना, और स्थानीय कर बैठाने और व्यय करनेका मार्ग निश्चित करना था। पर इसका निर्णय मानना न मानना शासक या कभी कभी अन्तःप्रदेशके सचिवकी इच्छा पर ही निर्भर रहता था। समिति जब स्थापित हुई तब उसे धर्मनिर्माण का कोई अधिकार नहीं था, पर कुछ वर्ष बाद उसे यह अधिकार मिला। तथापि ये समितियां तथा नगर, कसबा और ग्राम

आदिकी भी जो सभाएं उसी वर्ष स्थापितकी गयी थीं वे भावी साम्राज्य सभा के लिये जिस शिक्षाकी आवश्यकता थी, उस शिक्षाके बहुत ही अच्छी साधन थीं और उन्होंने अपने अस्तित्वका उद्देश्य भी सफल कर दिखलाया।

इस प्रकार अब यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि सरकारी कर्म्मचारी भी प्रातिनिधिक शासनके अनुकूल ही थे और उन्होंने उसका मार्ग निष्कण्टक करनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न भी किया। पर अब प्रश्न यह है कि उस समयकी परिस्थिति क्या थी जब नवीन शासन पद्धति निर्म्मित और स्वीकृत हुई। उस समय इसके निर्म्माताओंके राजनीतिक विचार क्या थे, आदर्श क्या था और उनके सिद्धान्त क्या थे।

पिछले परिच्छेदमें यह बतलाया जा चुका है कि देशमें उस समय उदारमतवादी, प्रागतिक और प्रजातन्त्र साम्राज्य वादी ये तीन प्रधान राजनीतिक दल थे जिनके विचार और सिद्धान्त साम्राज्यकी सत्ता, सम्राट्के अनन्याधिकार और धर्मनिर्माण-प्रणालीके सम्बन्धमें परस्पर बिलकुल भिन्न थे। यह भी कहा जा चुका है कि प्रजातन्त्र साम्राज्यवादियों-की संख्या सबसे कम थी, क्योंकि अन्य दो दलोंके विरुद्ध इन्होंने सरकारके पक्षमें अपना दल सङ्गठित किया था। संख्यामें कम होनेपर भी सरकार उनके विचारोंको मानती थी।

इस समय भिन्न भिन्न राजनीतिक सिद्धान्तोंका जो परस्पर विरोध था उसके सम्बन्धमें नवीन प्रणालीके प्रधान निर्म्माता इतो कहते हैं कि "एक ओर तो हमारे बड़े बड़े लोग थे जो अबतक 'नाविष्णुः पृथ्वीपतिः' का सिद्धान्तही मानते चले आते थे और यह समझते थे कि सम्राट्के अधिकारोंको

मर्यादित करना सरासर राजद्रोह है। दूसरी ओर बहुतसे सुशिक्षित नवयुवक थे जिन्होंने पाश्चात्य राजनीति दर्शनके उदारतम सिद्धान्तोंकी शिक्षा पायी थी। ऐसे भी राजनीतिज्ञों-का अभाव नहीं था जो शासनकार्यके भार और उत्तरदायित्व को तो समझते नहीं थे और मांटेस्क्यू तथा रूसोके सिद्धान्तों से बिलकुल चौंधिया गये थे[१]। और अधिकारीवर्ग ऐसा था कि जर्मनीके विद्वानोंके सिद्धान्तही उसे मान्य होते थे (इन सिद्धान्तोंके मुख्य प्रतिपादक डाकृर केतो थे)। देशके राजनीतिजिज्ञासुओंमें बकलकी 'सभ्यताका इतिहास' बहुत ही लोकप्रिय हो गया था जिसका सिद्धान्त यह था कि राज-नीतिक संस्थाएँ सिर्फ़ बेकाम ही नहीं बल्कि हानिकर हैं। विश्वविद्यालय तथा अन्य पाठशालाओंके छात्र परस्पर अहमहमिका भावसे इसे पढ़ रहे थे। परन्तु इन विद्यार्थियोंमें इतना साहस नहीं था कि घर आकर कभी अपने नियम-निष्ठ मातापिताओंके सामने बकलके सिद्धान्तोंको दोहरावें।

लोकतन्त्र शासन-प्रणालीके निर्माताओंको इन्हीं सब

---

१. सबसे पहले वाल्टेयर, रूसो और मान्टेस्क्यू, इन्हीं तीन फ्रांसीसी जगद्विख्यात लेखकोंने प्रजासत्तात्मक शासनपद्धतिके अनुकूल लोकमत तैयार किया है। इन्हींके लेखोंने फ्रान्समें राष्ट्रविप्लव भी कराया। अस्तु। मांटेस्क्यूका जन्म संवत् १७४६ और मृत्यु संवत् १८१२ में हुई। इनने "लेत्र पर्सान" (स्वकीय पत्र) नामक पुस्तक लिखकर ईसाइयोंके प्रचलित सांप्रदाय और फ्रान्सकी शासन पद्धतिकी खूब निन्दा की। 'रोमका उत्थान और पतन' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर इन्होंने यह प्रमाणित किया कि स्वावलम्बन और देश प्रेमसे देशका गौरव बढ़ता है और एकतन्त्र राजप्रणालीसे उसका सर्वनाश होता है। इसी प्रकार इन्होंने और भी कई क्रांतिकारक ग्रन्थ लिखे जिन्हें केवल फरांसीसी ही नहीं प्रत्युत समस्त यूरप शिरसा वन्द्य समझता था।

होकर प्रजातन्त्रकी पुकार करते और एकही सार्वदेशीय धर्म-सभा स्थापित करनेको कहते थे, वे सम्राट्की कुछ भी चर्चा नहीं करते थे। सम्राट्की सत्ताके सम्बन्धमें कुछ कहनेके लिये उनका हृदय गवाही न देता था। यही नहीं, प्रत्युत वे सम्राट्को पूज्य और देवता मानते थे और एक ओर तो सरकारी हाकिमोंपर निन्दाकी बौछार करते थे और दूसरी ओर राजसिंहासनकी अटूट भक्ति भी रखते थे। इससे राजपुरुष राजसिंहासनके अधिकारसे अपने कार्योंकी रक्षा करनेमें समर्थ होते थे।

संवत् १६३६ में एक बड़ी भारी विचार क्रान्ति भी हो गयी। गरम दलवालोंके उधम, उत्पात, षड्यन्त्र और उपद्रवसे उदारमतवादित्वपर राजपुरुषोंकी गम्भीर दृष्टि पड़ने लगी।

यहाँ यह भी एक कुतूहलका विषय है कि जब उदारमत-वादी लोग स्वाधीनता, समता और मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकारोंका प्रतिपादन करते थे तो उनके उन प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध सिद्धान्तोंका उत्तर देना राजपुरुषोंके लिये बहुतही कठिन हो जाता था क्योंकि उदारमतकी विचारपद्धति उन्हें भी अपने साथ खींच ले जाती थी। अधिकारीके नाते वे अपने किये का समर्थन कर सकते थे पर अपने कार्रवाइयोंको न्याय सिद्ध नहीं कर सकते थे। तब डाक्टर केतो यहाँ भी उनकी रक्षा करने आ पहुंचे। वे बड़े बुद्धिमान् थे और उन्होंने बुद्धिबलसे 'जन्मसिद्ध अधिकार' के सिद्धान्तका खण्डन करने और स्वैरशासनका मण्डन करनेके लिये डारविनके 'प्रकृति कृत निर्वाचन' का उपयोग किया। १६३६ में अर्थात् जिस वर्ष नाकाई महाशयने रूसोके "कोंत्रा सोसिआल" (सामाजिक समझौता) का अनुवाद प्रकाशित किया, उसी वर्ष केतोने

"जिङ्केन शिन्सेत्सु" (मनुष्यके अधिकारोंका अभिनव सिद्धान्त) नामक अपना एक निबन्ध भी प्रकाशित किया जिसमें वे लिखते हैं कि " यह संसार जीवन संग्रामका एक रणक्षेत्र है जिसमें उन्हीं लोगोंकी जीत होती है जो आनुवंशिताके सिद्धान्तानुसार बुद्धिबल और शरीरशक्तिमें औरोंसे श्रेष्ठ होते हैं, और उन्हींको कनिष्ठोंपर अधिकार मिलता है क्योंकि यही बात और भी स्पष्ट रूपमें पशुपक्षियों और वनस्पतियोंमें देखी जाती है। यह सनातन सिद्धान्त है और प्राणिमात्र इसके वशमें है। इतिहासपूर्वके असभ्य ज़मानेसे इस सभ्य ज़मानेतक बराबर 'योग्यतमका ही बचना (और बाकीका नष्ट होना)' यही सिद्धान्त चला आ रहा है और जबतक पृथ्वीपर प्राणी बसते हैं तबतक यही सिद्धान्त कायम रहेगा। अतएव मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकारके नामका कोई पदार्थही दुनियामें नहीं है। जो जिन अधिकारोंको भोग रहा है वे उसके कमाये हुए अधिकार हैं, और व्यक्तिके इन अधिकारोंकी तभीतक रक्षा हो सकती है जबतक कि जिस देशमें वह रहता है उस देशकी सरकार मौजूद है। ..अतएव यह कह सकते हैं कि लोगोंके अधिकार राज्यहीके कारण उत्पन्न हुए जो राज्य पहले पहल किसी ऐसे मनुष्यका स्थापित किया होगा जो कि सबसे बलशाली रहा हो और जिसने सब सत्ता, सब अधिकार अपने हाथमें कर लिया हो। यदि ऐसा कोई स्वेच्छाचारी राजा न होता तो राज्य भी हमारा कभी सङ्कटित न हुआ होता, न लोगोंके अधिकारही कहींसे आ सकते। ... यह ध्यान देनेकी बात है कि लोगोंकी मानमर्यादा और अधिकारोंमें अनन्तभेद हैं और यह जीवनतत्वही के भेदोंका परिणाम है।"

'जन्मसिद्ध अधिकारों' के खण्डन और सरकारके स्वैर-शासनके मण्डनका यह उपाय किया गया। जो लोग जर्मनीके राजनीतिके तत्वज्ञानपर मोहित हुए थे उन्होंने डाक्टर केतोके इस विचारका समर्थन किया और सम्राट्को राष्ट्ररूप मानकर प्रजातन्त्रके अन्तर्गत राजतन्त्र स्थापित करनेका पक्ष उठाया। स्वभावतः ही सरकारी अधिकारी डाक्टर केतोके नवीन सिद्धान्तके आड़में आश्रय लेने लगे। हम समझते हैं कि इतोका यही अभिप्राय था जब उन्होंने यह कहा कि सरकारी अधिकारी जर्मनीके विद्वानोंके राजनीतिक सिद्धान्तोंको मानते हैं।

संवत् १६३८ में जब ओकुमाने पदत्याग किया तब शासक-मण्डलमें इतोही प्रधान थे और इनके विचार भी बहुत आगे बढ़े हुए थे। काम करनेमें तो ओकुबोसेही इनका विशेष सम्बन्ध रहता था पर कुछ समयतक ओकुबोसे किदो और ओकुमाके विचारही इनके विचारोंसे अधिक मिलते थे। इतो इन दोनोंसे अधिक सावधान और मिलनसार भी थे। ओकुमाके १६३८ के षड्यन्त्रसे पहले इतोके राजनीतिक विचार ओकुमाके विचारोंसे बहुत मिलते जुलते थे। इसके बाद शासन सम्बन्धी अंग्रेज़ी सिद्धान्तोंकी ओर इनका चित्त रहा क्योंकि इनकी पाश्चात्य शिक्षा पहले पहल इंग्लैंडमें ही हुई थी। पर संवत् १६३८ में ओकुमाके प्रयत्नोंपर पानी फिर चुकनेपर शासक-मण्डलमें बड़ी भारी विचार क्रान्ति हो चली। इस क्रान्ति और देशकी ऐसी परिस्थितिके साथ इतोके राजनीतिक विचार भी बहुत कुछ पुराने ढङ्गके हो गये।

जब पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओंका सूक्ष्मान्वेषण करने और एक नयी शासन पद्धति निर्म्माण करनेके लिये राजप्रति-

"जिङ्केन शिन्सेत्सु" (मनुष्यके अधिकारोंका अभिनव सिद्धान्त) नामक अपना एक निबन्ध भी प्रकाशित किया जिसमें वे लिखते हैं कि " यह संसार जीवन संग्रामका एक रणक्षेत्र है जिसमें उन्हीं लोगोंकी जीत होती है जो आनुवंशिताके सिद्धान्तानुसार बुद्धिबल और शरीरशक्तिमें औरोंसे श्रेष्ठ होते हैं, और उन्हींको कनिष्ठोंपर अधिकार मिलता है क्योंकि यही बात और भी स्पष्ट रूपमें पशुपक्षियों और वनस्पतियोंमें देखी जाती है। यह सनातन सिद्धान्त है और प्राणिमात्र इसके वशमें है। इतिहासपूर्वके असभ्य ज़मानेसे इस सभ्य ज़मानेतक बराबर 'योग्यतमका ही बचना (और बाकीका नष्ट होना)' यही सिद्धान्त चला आ रहा है और जबतक पृथ्वीपर प्राणी बसते हैं तबतक यही सिद्धान्त कायम रहेगा। अतएव मनुष्यके जन्मसिद्ध अधिकारके नामका कोई पदार्थही दुनियामें नहीं है। जो जिन अधिकारोंको भोग रहा है वे उसके कमाये हुए अधिकार हैं, और व्यक्तिके इन अधिकारोंकी तभीतक रक्षा हो सकती है जबतक कि जिस देशमें वह रहता है उस देशकी सरकार मौजूद है। ..अतएव यह कह सकते हैं कि लोगोंके अधिकार राज्यहीके कारण उत्पन्न हुए जो राज्य पहले पहल किसी ऐसे मनुष्यका स्थापित किया होगा जो कि सबसे बलशाली रहा हो और जिसने सब सत्ता, सब अधिकार अपने हाथमें कर लिया हो। यदि ऐसा कोई स्वेच्छाचारी राजा न होता तो राज्य भी हमारा कभी सङ्घटित न हुआ होता, न लोगोंके अधिकारही कहींसे आ सकते। ... यह ध्यान देनेकी बात है कि लोगोंकी मानमर्यादा और अधिकारोंमें अनन्तभेद हैं और यह जीवनतत्वही के भेदोंका परिणाम है।"

'जन्मसिद्ध अधिकारों' के खण्डन और सरकारके स्वैर-शासनके मण्डनका यह उपाय किया गया। जो लोग जर्मनीके राजनीतिके तत्वज्ञानपर मोहित हुए थे उन्होंने डाक्टर केतोके इस विचारका समर्थन किया और सम्राट्को राष्ट्ररूप मानकर प्रजातन्त्रके अन्तर्गत राजतन्त्र स्थापित करनेका पक्ष उठाया। स्वभावतः ही सरकारी अधिकारी डाक्टर केतोके नवीन सिद्धान्तके आड़में आश्रय लेने लगे। हम समझते हैं कि इतोका यही अभिप्राय था जब उन्होंने यह कहा कि सरकारी अधिकारी जर्मनीके विद्वानोंके राजनीतिक सिद्धान्तोंको मानते हैं।

संवत् १९३८ में जब ओकुमाने पदत्याग किया तब शासक-मण्डलमें इतोही प्रधान थे और इनके विचार भी बहुत आगे बढ़े हुए थे। काम करनेमें तो ओकुबोसेही इनका बिशेष सम्बन्ध रहता था पर कुछ समयतक ओकुबोसे किदो और ओकुमाके विचारही इनके विचारोंसे अधिक मिलते थे। इतो इन दोनोंसे अधिक सावधान और मिलनसार भी थे। ओकुमाके १९३८ के षड्यन्त्रसे पहले इतोके राजनीतिक विचार ओकुमाके विचारोंसे बहुत मिलते जुलते थे। इसके बाद शासन सम्बन्धी अंग्रेज़ी सिद्धान्तोंकी ओर इनका चित्त रहा क्योंकि इनकी पाश्चात्य शिक्षा पहले पहल इंग्लैंडमें ही हुई थी। पर संवत् १९३८ में ओकुमाके प्रयत्नोंपर पानी फिर चुकनेपर शासक-मण्डलमें बड़ी भारी विचार क्रान्ति हो चली। इस क्रान्ति और देशकी ऐसी परिस्थितिके साथ इतोके राजनीतिक विचार भी बहुत कुछ पुराने ढङ्गके हो गये।

जब पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओंका सूक्ष्मान्वेषण करने और एक नयी शासन पद्धति निर्म्माण करनेके लिये राजप्रति-

निधियों के नेता बनाकर ये यूरप भेजे गये तो ये अमरीका, इंग्लैंड और बेलजियम होते हुए प्रशिया पहुंचे और सबसे अधिक वे यहीं ठहरे। इंग्लैंड छोड़ जर्मनीमें जा रहनेसे उनकी बहुत निन्दा भी हुई परन्तु उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की। वहाँ वे यूरप के अद्वितीय पुरुष प्रिन्स बिस्मार्ककी अलौकिकता पर मुग्ध हो गये जिनके बुद्धि कौशलसेही जर्मनी-का साम्राज्य सङ्गठित हुआ और जिनके 'लोहा और खून' की नीतिसे ही फ़रांसिसी विप्लव की धाराका प्रवाह रुक गया था। इतो उन्हीं राजनीति पटु बिस्मार्ककी खड्गहस्त शासननीति और जर्मनीके अधिकारीवर्गकी ही कार्यप्रणाली-के सूक्ष्म निरीक्षण करनेमें लग गये।

वहांसे लौटकर इतोने जापानमें भी जर्मनीके ढङ्गका अधिकारीवर्ग निर्म्माण करनेमें अपना सारा बल और प्रभाव लगा दिया। पुनःस्थापनाके समय जो सम्मानसूचक लक्षण मिटा दिये गये थे उनका इन्होंने उद्धार किया। उन्होंने सरदारों-के ऐसे ऐसे वर्ग निर्म्माण कर दिये जापानमें जिनका नाम भी किसीको मालूल नहीं था। उन्होंने मन्त्रिमण्डलका भी ढाँचा बदल दिया और बिस्मार्कके समयकी जर्मनीकी शासनपद्धतिके अनुसार शासनसत्ताको अध्यक्षमन्त्रीके हाथमें सर्वतोभावसे सौंप दिया और स्वयं ही नवीन मन्त्रिमण्डलके प्रथम अध्यक्ष मन्त्री हुए।

संवत् १९४१ में लोकतन्त्र शासनपद्धतिका मसविदा बनानेके लिये जब भिन्न भिन्न शासनप्रणालियोंका अनुसन्धान करनेवाला कार्यालय स्थापित हुआ तो वह कार्यालय (साइदो तोरिशिराते किओकू) 'राजप्रासाद विभाग' के साथ जोड़ दिया गया। इस विभागसे सार्वजनिक प्रश्नोंका कोई सम्बन्ध

नहीं था और आज भी लोकतन्त्र शासनके होते हुए यह विभाग सरकारका एक पृथक् और विशेष विभाग है। प्रधान धर्मनिर्माण कार्य तो शिष्ट सभामें होता था और साधारण विधि विधान आदि न्याय विभागसे बनाये जाते थे। ऐसी अवस्थामें यह कार्यालय इन्हीं दो विभागोंमेंसे किसी एकके साथ न करके उसे राजप्रासादमें क्यों भेज दिया। इसका कारण यह मालूम होता है कि ऐसे ही स्थानमें नए शासन पद्धतिके निर्माणका काम शान्तिपूर्वक हो सकता था कि जहाँ रहनेसे सार्वजनिक आलोचनासे कोई सम्बन्ध न रहे। कानेको जिनका कि इसमें बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था, कहते हैं कि जब शासन सबंधी सुधारों का मसविदा तैयार हो रहा था तब लोग यह जाननेके लिये बहुत उत्सुक हो रहे थे कि कैसी शासन पद्धति मिलेगी। क्योंकि उन्हें विस्मार्कके प्रभावका स्मरण होनेसे इतोके शासन सम्बन्धी विचारोंपर सन्देह होता था और इसलिये सार्वजनिक हस्तक्षेप और आलोचनासे कार्यालयका काम सुरक्षित रहनेमें कोई बात उठा नहीं रखी गयी।

इस कार्यालयके अध्यक्ष इतो ही थे और मार्क्विस तोकूदाइजी राजप्रासाद विभागके मन्त्री बनाये गए जिसमें शासन सुधारके काममें वे भी अप्रत्यक्ष रूपसे सम्मिलित हो सकें। करनेका काम जितना था वह इनोउये की, कानेको कन्तारो, इतो मियोजी और उनके साथियोंको सौंपा गया। इनोउये तो एक राजनीतिक दल (शिमेई काई) के नेता रहे जिस दलके सिद्धान्त लोकतन्त्र-साम्राज्य-वादियोंसे मिलते जुलते थे अर्थात् सम्राट्की सत्ता, समस्त विधि विधान पर सम्राट्का

अनन्याधिकार, और सभाढ्य शासनपद्धति[1]। इनोउये चीनके प्राचीन साहित्य और जापानके इतिहासके भारी विद्वान थे। कानेकोको अच्छी पाश्चात्य शिक्षा मिली थी और इतो (मियोजी) स्वेच्छाचारी शासकके उदाहरण थे।

इस प्रकार पुराणप्रिय लोगोंके बीचमें साम्राज्य-सरकार-के अभेध्य विभागमें, सार्वजनिक आन्दोलन और सार्वजनिक सम्बन्धसे बिलकुल स्वतंत्र ऐसे गुप्त स्थानमें नये शासन पद्धतिका मसविदा तैयार हुआ और वह नव स्थापित मन्त्र-परिषद्में पेश हुआ। उस समय अध्यक्ष इतोके अतिरिक्त, राजवंजज सभी पुरुष, सभी मन्त्री, विशेष मन्त्री, परिषद्के सभासद् जिनमें प्रिन्स सांजो, काउण्ट कात्सू, ओकी, हिगाशी-कुसे, तोरिओ, योशीई, सोयेजिमा, कावामुरा, सासाकी, तेराजिमा और वायकाउण्ट इनोमोतो, शिनागावा, नोमुरा, सानो और फुकुओका उपस्थित थे। जब तक परिषद्की बैठकें होती रहीं, सम्राट् प्रायः स्वयं उपस्थित रहते थे। ऐसे ऐसे सरदारों और मानाधिकारियोंकी सभाके राजनीतिक विचार क्या रहे इस पर कुछ टीका टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं।

परिषद्का अधिवेशन कैसा हुआ इसके सम्बन्धमें इतो लिखते हैं कि " सम्राट् बराबर संशोधन करनेका अवसर देते थे और वादविवादको ध्यानपूर्वक सुनकर उदारमतवादी और पुराणप्रिय दोनों मतोंका पूर्ण विचार करते थे और यद्यपि भीतर और बाहर सब स्थानोंपर पुराणप्रियताका बड़ा ज़ोर था तथापि सम्राट्के उदार विचार थे जिससे हमें यह नई शासनपद्धति प्राप्त हुई "। यदि जापानके परम्परागत

१. यह दल कियूशिउ द्वीपमें उदार और प्रागतिक मतवादियोंके विरुद्ध संघटित हुआ था।

राजनीतिक विचारोंको देखिये और उस अवस्थाका विचार कीजिये जिसमें कि यह पद्धति बनी है तो अवश्य ही यह कहना होगा कि इसमें बहुतही प्रगति वर्धक सिद्धान्तोंका समावेश हुआ था, परन्तु इन विचारोंको छोड़कर यदि निष्पक्ष दृष्टिसे देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि पुराने विचारोंके प्रभावमें आकर कुछ राजपुरुषोंने उसका मसविदा तैयार किया और सार्वजनिक चर्चा या आलोचना से बिलकुल स्वतंत्र उच्चकर्मचारियोंने उसको स्वीकार किया और इस कारण न केवल उदारमतके सिद्धान्तोंका पराजय हुआ बल्कि प्रातिनिधिक संस्थाओंके मूलसिद्धान्तोंका भी उसमें विचार नहीं किया गया। सच पूछिये तो प्रातिनिधिकताके वस्त्र पहनी हुई जापानियोंके परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तोंकी ही प्रतिमा मात्र यह नई शासनपद्धति है।

इतो अपने "शासन पद्धतिकी टीका" नामक पुस्तकके उपोद्‌घातमें लिखते हैं कि "जापानका पवित्र राजसिंहासन पूर्व परम्परासे सम्राट्‌के परिवारमें चला आता है और इस प्रकार उसपर वंशपरम्परा राजपरिवारका अधिकार रहेगा। राज्य करना और शासन करना ये दोनों अधिकार उसी राजसिंहासनके हैं। शासन पद्धतिके विधानकी धाराओंमे सम्राट्‌की सत्ताके सम्बन्धमें जिस मर्यादाका उल्लेख है उसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस सम्बन्धमें कोई नया सिद्धान्त निश्चित किया गया है प्रत्युत् सनातनसे जो राष्ट्रीय राज्यावस्था है उसमें कोई परिवर्तन न करके उसीका और भी अधिक दृढ़ीकरण हुआ है"। नवीन पद्धतिके निर्म्माताओंने बड़ी बुद्धिमानीके साथ राजसिंहासनके परम्परागत अधिकारको स्थायी करनेकी चेष्टाकी है यद्यपि जापानियोंकी इस

समय ऐसी अवस्था या मनोवृत्ति नहीं है कि वे कभी भी इस परम्परागत अनन्याधिकारको छीननेका प्रयत्न करेंगे। पर नये प्रणालीके निर्माताओंने यह बुद्धिमानीका कार्य नहीं किया कि हर प्रकारसे जनताके राजनीतिक अधिकारके उत्कर्षको रोक रखा।

द्वितीय भाग

सङ्घटनके सिद्धान्तोंपर विचार

प्रथम परिच्छेद

सङ्घटनकी सीमामें सम्राट्

प्रथम भागमें हमने जापानकी पुनः स्थापना से लेकर नवीन पद्धतिकी स्थापनातकके सब राजनीतिक आन्दोलनोंका वर्णन किया है। अब इस द्वितीय भागमें हम इस प्रणालीके मुख्य मुख्य अंशोंके सम्बन्धमें अर्थात् सम्राट्, मन्त्रिमण्डल, मन्त्रपरिषद्, राष्ट्रीय सभा, निर्वाचनपद्धति और सर्व साधारणकी स्वतन्त्रता और अधिकारोंके सम्बन्धमें उनके तात्विक सिद्धान्तोंपर विचार करेंगे।

पाठक इस बातको ध्यानमें रखें कि जापानके इतिहासमें सम्राट्की सत्ता मर्यादा निर्देश करने और राष्ट्रके भिन्न भिन्न भागोंमें राजसत्ताको विभाजित करनेके लिए सबसे पहला विधान यही शासन सम्बन्धी विधान है। जापानमें सम्राट्की अनन्य सत्तापर इंग्लिस्तानके समान कभी भी राजनीतिक वादविवाद नहीं हुआ और न कानूनकी व्याख्याही हुई। सनातनसे ही लोग यह समझते और मानते आये हैं कि सम्राट् ही वंशपरंपरासे साम्राज्यके मालिक हैं। उनको इस बातकी फ़िकर नहीं थी कि सरकारी शासनसत्ताका विभाजन परम्परागत राज्यव्यवस्था अथवा राजसत्ताके मूलसिद्धान्तके अनुसार है या नहीं। प्रथम सम्राट् जिम्मूके आज्ञापत्रमें (वि० पू० ६०३) लिखा है कि "यह शस्यसमृद्ध देश हमारा राष्ट्र है और हमारे वंशज इसपर राज्य करेंगे।" विक्रमसे सात शताब्दी पूर्व राजकुमार शोतोकूकी बनायी शासनपद्धति विधानमें लिखा है

कि सरकारी कर्मचारी और जनता दोनों ही सम्राट्की समान प्रजा हैं। जिन शोगून तोकूगावा इयेयासूने तोकूगावा सरकार स्थापित कर उसे अपने वंशजोंके हाथमें दिया और जिनके खान्दानमें यह अधिकार २५० वर्षसे अधिक कालतक रहा और जब सम्राट् क्योतोके राजमहलमें नज़रबन्द कैदीके समान रहते थे, उन्होंने यही घोषित किया कि शोगूनका कर्त्तव्य केवल सम्राट्की रक्षा करना है। जापानके इतिहासकी यह एक बड़ी अद्भुत घटना है कि कई शताब्दियोंतक किसी सम्राट्ने स्वयं शासन नहीं किया और न शासन अपने हाथमें लेनेकी चेष्टा ही की। अद्भुत बात तो यह है कि इस प्रकार प्रत्यक्ष शासनसे दूर रहनेके कारण जनताके मनमें सम्राट्के अनन्याधिकारका विचार दुर्बल नहीं, वल्कि, और भी सुदृढ़ हो गया। जिस प्रकार इंग्लिस्तानमें महारानी विक्टोरिया और महाराज सप्तम एडवर्डके 'स्वयं शासन'से अलग रहनेके कारण, राजधरानेकी नींव तृतीय जार्जके राज्यकालकी अपेक्षा बहुत अधिक दृढ़ होगयी, वैसे ही जापानमें भी सम्राट्के स्वयं शासनकार्य न करनेके कारण सम्राट्की सिद्धान्तगत सत्तापर भी कोई झगड़ा ही नहीं उठा, प्रत्युत उससे जापानियोंके मनमें यह धारणा जड़ पकड़ गयी कि सम्राट् राजवंशके स्वगोत्रज हैं और परम्परासे उन्हींका यह राज्य है।

जापानके वर्तमान शासन-पद्धति सम्बन्धी विधानका विशेषी भाग सम्राट्की अनन्य सत्ताके सिद्धान्तसे ही व्याप्त है। इसक रचना ऐसी संयत (नियन्त्रित) विधिके साथ हुई है कि कहींसे हिलनेका अवसर नहीं रहा। यहाँतक कि फ्रान्सकी वर्तमान प्रणालीका भी विधान इतना शब्द-बद्ध नहीं है, यद्यपि दोन पद्धतियोंके मूल सिद्धान्तोंमें आकाश पातालका सा अन्तर

है। जापानी पद्धतिके मूल सिद्धान्तसे सम्राट्की ही सर्वोपरि अनन्य सत्ता है और फ्रान्सदेशकी पद्धतिके मूल सिद्धान्तसे प्रजाकी इच्छा ही ईश्वरकी इच्छाके तुल्य है।

जापानके शासन-विधानकी चौथी धारामें लिखा है कि, "सम्राट् साम्राज्यके शीर्षस्थान हैं, राष्ट्रके सब अधिकार उन्हींको हैं और वर्तमान विधानकी धाराओंके अनुसार वे उन अधिकारोंका निर्वाह करेंगे।" इतो इसकी व्याख्या करते हैं कि "साम्राज्यपर हुकूमत और प्रजापालन करनेका सम्राट्का अधिकार पूर्व परम्परागत है और वंश-परम्परातक रहेगा। जिन धर्मविधान और शासनके अधिकारोंसे वे देशपर राज्य करते हैं और प्रजाजनोंपर शासनकरते हैं उन सब अधिकारोंके केन्द्र हमारे सकलगुणसम्पन्न महाराज हैं और जिस प्रकार मनुष्य शरीरमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे होनेवाले कार्यमात्रको मस्तिष्कसे ही गति मिलती है, उसी प्रकार देशके राजनीतिक जीवनका एक एक सूत्र महाराजके हाथमें है।"

इसके साथ यह भी माना गया है कि सम्राट् पवित्र और अनुल्लङ्घनीय हैं। इतो कहते हैं कि "सम्राट् इतने पूज्य हैं कि उनपर श्रद्धारहित या अपमानजनक टीका टिप्पणी करना अनुचित है, इस प्रकार सम्राट् निन्दा या आलोचनाकी सीमासे परे हैं, और वे इतने पवित्र हैं कि वे कोई अन्याय अथवा अनुचित व्यवहार नहीं कर सकते।" यह सम्राट्की परम्परागत अनन्य सत्ताका बहुत ही स्पष्ट निर्देश है।

अब देखना चाहिए कि नयी प्रणालीने कौन कौनसी नयी बातें कीं। सबसे मुख्य बातें ये हैं; (१) राष्ट्रीय परिषद्का स्थापित होना, जिससे राज्यसत्ता शासनके भिन्न भिन्न विभागोंमें विभाजित की जाय (२) यह निश्चय करना कि विभाजित

अधिकारोंके द्वारा किस प्रकार कार्य किया जाय, और (३) जापानी प्रजाजनोंके कर्त्तव्यों और अधिकारोंकी गणना और व्याख्या करना।

इस परिच्छेदमें हम केवल यही देखेंगे कि धर्मविधान, न्याय और शासन ये तीनों अधिकार कैसे विभक्त किये गए हैं, और हर एकका सम्राट्से क्या सम्बन्ध है। सबसे प्रथम हम धर्मविधान अङ्गपर विचार करेंगे।

अधिकार विभाजनके सम्बन्धमें इतो अपने भाष्यमें लिखते हैं कि "राष्ट्रके समस्त शासनाधिकारोंका एक पुरुषके हाथमें होना ही सम्राट्की सर्वोपरि सत्ताका मुख्य लक्षण है और नियमानुसार उन अधिकारोंका प्रयोग करना उस सत्ता-के प्रयोगकी सूचना है। केवल सत्ताही हो और उसके प्रयोग-का नियम या मर्यादा न हो तो स्वेच्छाचारकी ओर प्रवृत्ति हो-ती है। इसी प्रकार जब अधिकारोंके प्रयोग करनेकी मर्यादा हो और सत्ताका लक्षण न हो तो प्रमाद और आलस्यकी ओर प्रवृत्ति होती है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि शासनके सब अधिकार जब किसी नियमरहित राजाके हाथमें होते हैं, अथवा, इतोके कथनानुसार, उस राजाकी कोई प्रातिनिधिक धर्मसभा नहीं होती तो स्वैर-शासन-प्रणालीको इतो अच्छा नहीं समझते। उसी प्रकारसे यदि शासनसूत्र सब सर्वसा-साधारणकी प्रतिनिधिसभाके हाथमें हों और सिरपर कोई राजा न हो तो उससे कार्यमें जड़ता और प्रमाद आते हैं। यह बड़ा ही दुर्बोध और अर्थहीन सूत्र है। पर व्याख्याकारने अपना काम निकालनेके लिए कैसी चालाकीसे उसका उल्लेख किया है।

इतोने अपना भाष्य इसलिए प्रकाशित किया था कि उससे

लोगोंको यह मालूम हो जाय कि शासनविधानकी प्रत्येक धारा किस अभिप्रायसे और क्या सोचकर बनायी गयी है। और साथ ही यह भी प्रकट हो जाय कि किस अभिप्रायसे यह नयी प्रणाली बनायी गयी है। इतोका जो सूत्र ऊपर दिया गया है वह सम्राट्की परम्परागत सत्ता और नवीन शासन-विधानानुसार जो अधिकार विभाजन हुआ था उसका समर्थन करनेके लिए ही उपस्थित किया गया था।

शासन विधानकी पाँचवीं धारा है कि "सम्राट् सम्राट्-सभाकी अनुमतिसे अपने धर्म विधाना-धिकारका उपयोग करते हैं।" 'अनुमति' शब्दका अर्थ केवल मौन सम्मति ही है। इसका प्रभाव कुछ विशेष नहीं है। जैसे दो प्रतिनिधियोंमें बलवत्तर प्रतिद्वन्द्वी दूसरेसे अनुमति ले लेता है और यदि ऐसी अनुमति न भी मिले तो भी वह अपना कार्य चला-ही लेता है, वैसेही सम्राट् और साम्राज्यसभाका परस्पर सम्बन्ध है।

सभाकी अनुपस्थितिमें सम्राट् कानूनके बदले राजाज्ञा निकाल सकते हैं। विधानानुसार सार्वजनिक शान्तिकी रक्षा या सार्वजनिक विपद्को दूर करनेके लिए ऐसी राजाज्ञा तभी निकाली जासकती है जब ऐसी ही कोई आवश्यकता आपड़े। इस राजाज्ञाको भी सभाके दूसरे अधिवेशनमें उपस्थित करनेका नियम है। और यह भी नियम है कि यदि सम्राट्ने उसे स्वीकार न किया हो तो भविष्यत्में वह कार्यान्वित न हो सकेगी। यहाँ 'सार्वजनिक शान्तिकी रक्षा करनेके लिए' और 'ऐसी ही कोई आवश्यकता' ये शब्द बहुत ही गोल मोल हैं, और चाहे जिस अवसरपर इनका उपयोग हो सकता है, क्योंकि सभी अच्छे कानून सार्वजनिक शान्तिकी रक्षा और सवसाधा-

रणके सुखके लिए ही बनाए जाते हैं। इसके सिवाय सभाको निषेध करनेके अधिकारका उपयोग भी सुगमतासे नहीं हो सकता क्योंकि यदि सम्राट् चाहें तो मंत्रिमण्डलके द्वारा सभा-के कार्यका ऐसा ढङ्ग बाँध सकते हैं कि जिसमें सभाकी अनुपस्थितिमें यदि राजाज्ञा निकली हो तो उसपर विचार करनेका अवकाश ही उसे न मिले। सम्राट् मंत्रिमण्डलके द्वारा सभाके कार्यमें हस्तक्षेप कर सकते हैं, वे जब चाहें बिल उपस्थित कर सकते हैं, यदि उस समय पहलेसे कोई बिल उपस्थित हो तो उसे उठा सकते हैं, उसमें रद्दोबदल भी कर सकते हैं। यहीं तक नहीं, सभाका अधिवेशन काल वर्षमें तीन महीने होता है। धर्मविधानसम्बन्धी बड़ी बड़ी संस्थाओं और जटिल प्रश्नोंका विचार करनेके लिए यह बहुत ही कम समय है। सम्राट् चाहें तो सभाका अधिवेशन स्थगित करके अथवा उसे बन्द करके यह समय और भी कम कर सकते हैं। परिषद्का अधिवेशन करना, उसका कार्य बन्द करना, या उसे पदच्युत करना सम्राट्की इच्छाके अधिकारमें है।

शासनविधानानुसार सम्राट् अपने प्रजाजनोंके सुख और सार्वजनिक शान्ति तथा मर्यादाकी रक्षाके लिए राजाज्ञा निकाल सकते हैं। इतो कहते हैं कि ये आज्ञाएँ शासनके सम्बन्धमें हैं। उनका कहना है कि "ये सब आज्ञाएं नियमानुसार परिषद्में चाहे उपस्थित और स्वीकृत न भी हुई हों, तोभी कानून ही समझी जायँगी और सब लोग उसका पालन करेंगे, क्योंकि सम्राट्का यह शासनाधिकार है। सर्वसाधारणके लिए इन्हें कानूनही समझना चाहिए। कानून और राजाज्ञामें अन्तर केवल इतना ही है कि कानून राजाज्ञामें रद्दोबदल कर सकता है, पर राजाज्ञा कानूनमें दखल नहीं दे सकती।" राजाज्ञा

किसी ही नामसे क्यों न पुकारिये, चाहे वह सम्राट्के धर्म-विधानाधिकारसे निकली हुई हो, या शासनाधिकारसे प्रकट हुई हो, वह है तो कानून ही। इतोके कथनानुसार जब कानून और राजाज्ञामें झगड़ा पड़े तो कानूनका बल अधिक है। पर जब कोई झगड़ा न हो तो राजाज्ञामें कानूनकी ही शक्ति है। ऐसे शासन सम्बन्धी कानून निकालनेके अधिकारकी कोई सीमा नहीं है क्योंकि प्रजाजनोंके सुख और सार्वजनिक शान्ति और मर्यादाकी रक्षाके लिए राजाज्ञा दी जा सकती है, इन शब्दोंमें महत्वके जितने कानून हैं सब आजाते हैं।

परन्तु सम्राट्के कानून बनानेके अधिकारोंसे राष्ट्रीय परिषद्का कोई सम्बन्ध नहीं है। कानून जितने बनते हैं उनको राष्ट्रीय सभाकी अनुमति लेकर सम्राट् ही बनाते हैं। पर जहाँ झगड़ा पड़ जाय वहाँ सम्राट् राष्ट्रीय परिषद्के अधिकारको कहाँतक मर्यादित करेंगे।

राष्ट्रीय सभामें जब कोई बिल स्वीकृत होता है तब उसे यदि सम्राट् न स्वीकार करें और कानूनका स्वरूप दें तो वह कानून बन सकता है। नहीं तो नहीं। जबतक सम्राट्की स्वीकृति न होगी, तबतक चाहे वह राष्ट्रीय सभामें सर्वमत-से स्वीकृत हुआ हो तो भी कानून नहीं बन सकता। जापानी धर्म-विधानाधिकारमें सम्राट्की स्वीकृति ही मुख्य बात है। सम्राट् चाहे बिलको स्वीकार करें या अस्वीकार करें यह उनका अधिकार है, अर्थात्, सब कानूनोंपर सम्राट्को निषेध करने-का अनन्याधिकार है। नियमबद्ध किसी मार्गसे भी राष्ट्रीय-सभा सम्राट्के इस निषेधका उल्लङ्घन नहीं कर सकती।

अब जो बिल परिषद्में निश्चित हो चुके हैं और सम्राट्-की सम्मति भी जिन्हें मिल चुकी है उनके सम्बन्धमें सम्राट्

आवश्यक समझें तो आज्ञापत्र निकाल सकते हैं जिससे कि उन कानूनोंको कार्यान्वित करनेके लिए नियम उपनियम बन सकें ऐसे आवश्यक कानूनके सिद्धान्तोंको नहीं बदल सकते यह ठीक है, पर नियम बनाकर उन्हें कार्यान्वित करानेके मार्गमें परिवर्तन कर सकते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि सङ्घटनकी सीमाके अन्दर सम्राट् कहाँतक राष्ट्रीय परिषद्के अधिकारोंको मर्यादित कर सकते हैं।

अब शासनाधिकारकी बात लीजिए शासनके भिन्न भिन्न विभागोंकी योजना, मुल्की और फ़ौजी अफ़सरोंको नियुक्त करना अथवा पदच्युत करना और उनके वेतन और पेन्शन नियत करना, इन सब बातोंपर सम्राट्का अधिकार है। अर्थात् सम्राट् साम्राज्यके शासनविभागके अनन्य कर्त्ता-धर्त्ता हैं।

इस प्रकार धर्म-विधान-विभाग और प्रबन्ध-विभाग बिलकुल अलग अलग हो जाते हैं। तत्वतः सभाको प्रबन्ध-विभागपर कोई अधिकार नहीं है। मालूम होता है कि नवीन पद्धतिके निर्माता उसी पुराने विभागमें पड़कर यह समझते थे कि उत्तम शासनपद्धति वही है जिसमें धर्म-विधान-विभाग और शासन-विभाग परस्पर स्वतन्त्र हों। वास्तवमें इतोने इस सिद्धान्तका समर्थन किया है और कहा है कि "इंग्लिस्तानमें यही कायदा है कि कुछ थोड़ेसे राजपुरुषोंको छोड़कर वहाँके महाराजको अपनी इच्छाके अनुसार मुल्की और फ़ौजी अधिकारियोंको नियुक्त या पदच्युत करनेका पूरा अधिकार है।" इतोको अंगरेजी शासनपद्धतिका ज्ञान केवल पुस्तकोंसे प्राप्त था। उसका रहस्य उसकी समझमें नहीं आया था। बेज़हाट नामक एक समकालीन अंगरेज़ ग्रन्थकार लिख गए हैं कि "अंगरेज़ी शासनपद्धति-

की सफलताका बड़ाभारी रहस्य यह है, कि उसके प्रबन्ध और धर्म-विधान इन दोनों शक्तियोंको एक दूसरेके साथ मिला दिया है......और इस प्रकारसे संयुक्त करनेका काम मन्त्रिसंघ-(केबिनेट्) की कड़ीने किया है।

जापानकी शासनपद्धतिमें प्रबन्ध और धर्म-विधानको मिलानेवाली ऐसी कड़ी कोई नहीं है, सिवाय इसके कि सम्राट्में दोनों एक होगये हैं। सम्राट्द्वारा नियुक्त राजकर्मचारी प्रबन्ध अथवा धर्म-विधान सम्बन्धी कार्य सम्राट्के नामपर बिना राष्ट्रीयसभाकी परवाह किये कर सकते हैं, परन्तु सर्वसाधारणकी प्रतिनिधि स्वरूप राष्ट्रीयसभाका अधिकार मर्यादित है। यह ठीक है, कि सभा कानूनके प्रस्तावोंको संशोधन कर सकती है, उसे मंजूर या नामंजूर भी कर सकती है। परन्तु जो बिल एक बार निश्चित हो गया, वह चाहे राजकर्मचारियोंके आज्ञापत्रोंसे मारा जाय—उसका अङ्गभङ्ग हो जाय—तो भी सभाको उसके ऊपर कोई अधिकार नहीं रहजाता।

सम्राट् मुख्य शासकके रूपमें जल और स्थल सेनाके अधिपति भी हैं। उनका सङ्गटन और प्रतिवर्ष भरती किये जानेवाले नये रङ्गरूटोंकी संख्याको भी वे ही निश्चित करते हैं। इतो कहते हैं कि जल और स्थल सेनाके सङ्गटनका जो अधिकार है वह मंत्रियोंकी सम्मतिसे उपयोगमें लाया जाता है। परन्तु मन्त्री सम्राट्के द्वाराही नियुक्त होते हैं और राष्ट्रीयसभाके सम्मुख उत्तरदायी नहीं होते। अतएव जल और स्थलसेनाजैसे महत्त्वपूर्ण विषयमें जिसपर कि समस्त राष्ट्रके जीवन और मृत्युका प्रश्न है, सर्वसाधारण का कोई अधिकार नहीं।

युद्ध करने, संधि करने और विशेष सैनिक नियमोंकी घोषणा करने आदिका अधिकार भी अकेले सम्राट्को है। शान्तिके

समय कितनी ही संधियोंका प्रभाव सर्वसाधारणके जान और मालपर उतनाही पड़ता है जितना कि बड़े बड़े कानूनोंका। फिर भी संधिकी चर्चामें दखल देने या सम्मति देनेका राष्ट्रीय सभाको कोई अधिकार नहीं है।

सम्राट्का यह भी अनन्याधिकार है कि वे चाहें जिसको जो सम्मान, पदवी ओहदा, खिताब आदि दें, कैदियोंकी सजा कम करें या दोषियोंको क्षमा करदें और उनको पूर्वपद दे दें।

अब न्यायसम्बन्धी अधिकारोंको देखिये, इतो कहते हैं कि "सम्राट् न्यायके आकर हैं और समस्त न्यायाधिकारी उन्हीं सम्राट्शक्तिके भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।

शासन-विधानके सम्बन्धमें ५७वीं धारा है कि "न्याय-का कार्य न्यायालयोंमें सम्राट्के नामसे और कानूनके अनु-सार होगा, और न्यायालयोंका सङ्गटन कानूनसे निश्चित होगा, और न्यायाधीश उन लोगोंमेंसे चुने जायँगे, जो कानूनके अनुसार उसकी योग्यता रखते हों"। कानून बनते हैं राष्ट्री-यसभामें सम्राट्की सम्मति और स्वीकृतिसे, अतएव न्याय-विभागका सम्बन्ध प्रबन्धविभागसे धर्मविधानके साथही अधिक है। प्रबन्धविभाग न्यायविभागको अपने अधीन करना चाहता है। इंग्लिस्तानके आरम्भिक इतिहासमें न्याय-विभाग प्रबन्ध-विभागके अधीन था। नारमन राजाओंके समयमें साधारणसभा(कांसिलियम आर्डिनेरियम)के हाथ-में ही प्रबन्ध और न्याय दोनोंके सूत्र थे और महासभा-(माग्नम कांसिलियम)को धर्मविधान और अर्थ प्रबन्धके कार्य दिये गए थे; टूडर राजाओंके तथा शुरू शुरू स्टुअर्ट राजाओं के कालमें 'नक्षत्र-भवन' (स्टारचेम्बर)को कुछ न्यायाधि कार थे। यह बड़े आश्चर्यकी बात है, कि जिस शासनपद्धतिने

धर्मविधान विभाग (राष्ट्रीय परिषद्)को इतने थोड़े अधिकार और शासनविभागको अमर्यादित अधिकार दिये हैं उसने न्यायविभागको प्रवन्ध विभागके अधीन रक्खा है। यह एक विशेषता है जो शासनपद्धतिके निर्माताओंकी एक विशेष राजनीतिक धारणा का फल है।

वह धारणा यह है कि सुशासनके लिए न्यायविभागका स्वतन्त्र रहना ही बहुत आवश्यक होता है। अमरीकाके संयुक्त राष्ट्रोंको शासनपद्धतिके निर्माताओंकी भी अठारहवीं शताब्दीमें यही धारणा थी। जापानियोंके शासन सम्बन्धी जितने विभाग थे, उन्हें तो सम्राट्के मातहत कर दिया, पर न्याय विभागको उन्होंने स्वतन्त्र रखनाही उचित समझा। इतो इसका यह कारण बतलाते हैं कि "यद्यपि सम्राट्ही न्यायाधीशोंको नियुक्त करते हैं और न्यायालय भी उन्हींके नामसे फैसला सुनाते हैं। तथापि सम्राट् स्वयं न्यायाधीशका काम नहीं करते, यह काम स्वतंत्र न्यायालयोंका है जो कानूनके अनुसार और प्रवन्धविभागके बिना किसी दबावके, यह काम करते हैं। न्यायविभागकी स्वाधीनताका यही अर्थ है। मालूम नहीं कि शासनपद्धति निर्माण करनेवालोंने जब न्यायविभागको कानूनपर छोड़ दिया तब उन्होंने यह जाना था या नहीं कि ऐसा करनेसे न्याय विभाग धर्मविधान विभागके अधीन हो जायगा।

परन्तु जापानका न्यायालय संयुक्तराष्ट्रके प्रधान (सुप्रीम) अथवा ज़िला न्यायालय (डिस्ट्रिक्ट कोर्ट)की तरह नहीं है। संयुक्तराष्ट्रोंमें न्यायालयको इतना अधिकार है कि शासक और शासितके झगड़ेका वह फैसला कर सकता है और वहाँके कांग्रेसके विधानोंको भी शासनविधान द्वारा दिये हुए अधि-

कारोंके विरुद्ध कार्यवाही कहकर वह रद्द कर सकता है। पर जापानके न्यायालयमें वादी प्रतिवादी प्रजाजनही हो सकते हैं, सरकार नहीं। शासनविधानकी व्याख्या करनेका उसे कोई अधिकार नहीं। वह सम्राट्का ही अधिकार है। शासन विधानकी ६१ वीं धारा यह है कि "कोई ऐसा अभियोग कि जिसमें शासनवर्गकी अवैध कार्यवाहीपर अधिकारवञ्चनाका दावा हो और जो अभियोग विधिविहित न्यायालय विशेषमें * ही सुना जा सकता हो, उसपर साधारण न्यायालयमें विचार नहीं हो सकता" इस प्रकार न्यायविभागका जो एक प्रधान कर्त्तव्य है अर्थात् राजकर्मचारियोंके स्वेच्छाचारसे सर्वसाधारणकी स्वाधीनता और अधिकारोंकी रक्षा करना यह न्यायालयविशेषके जिम्मे कर दिया गया और वह भी न्यायमन्दिरके सदृश कि जो अन्य साधारण न्यायालयोंके समानविधि विहित होनेपर भी सर्वथा शासकवर्गके अधीन है। शासनपद्धतिके निर्माताओंने देखा कि यद्यपि हम न्यायविभागको स्वतन्त्र रखना चाहते हैं तथापि यदि हम शासकोंके कार्योंके निर्णय करनेका अधिकार भी साधारण न्यायालयोंको दे देते हैं तो प्रबन्धविभाग न्यायविभागके अधीन हो जायगा। इतो कहते हैं कि "यदि शासन सम्बन्धी बातें न्यायालयोंके अधीन करदी जातीं और इन्हें अधिकार देदिया जाता कि अमुक कार्य ठीक है या नहीं उसका फैसला करें तो शासकोंको न्यायाधीशोंके अधीन होकर रहना पड़ता। इसका परिणाम यह होता कि शासकवर्गको कार्य करनेकी स्वत-

---

* कोर्ट आफ़ एडमिनिस्ट्रेटिव लिटिगेशन् अर्थात् शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी मामलोंका न्यायालय।

न्त्रता न रह सकती" इसलिए न्यायविभागका यह महत्त्व-पूर्ण कार्य प्रबन्धविभागके अधीन करनेके लिए यह विशेष न्यायालय स्थापित किया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि शासनपद्धतिमें एक भी प्रतिबन्ध ऐसा न रहा कि जिसमें स्थायी कर्मचारियोंके मनमाना बलात्कारसे सर्वसाधारणके अधिकारों और स्वातन्त्र्यकी रक्षा हो सके।

यहाँतक हमने इसका विचार किया है कि जापानकी शासनपद्धतिके अनुसार धर्म्मविधान, प्रबन्ध और न्याय विभागोंका क्या अधिकार और स्थान है। अब हम एक ऐसे अधिकारका विचारकरेंगे जो राष्ट्रीयसभा और सम्राट् दोनोंमें बँटा हुआ है और जो एक विशेष प्रकारका अधिकार है। यह संशोधनका अधिकार है।

यह पहले ही कह चुके हैं कि जापानमें साधारण विचार यही है कि सम्राट्ने ही नयी शासन पद्धति दी है और इसलिए वे उसके संशोधन सम्बन्धी अंशकी ओर ध्यान बहुत कम देते हैं। स्वयं शासनपद्धति बनानेवालोंने भी सम्भवतः इसे विशेष महत्वका नहीं समझा। उन्होंने उसे शासनपद्धतिके पूरक नियमोंमें स्थान दिया है। परन्तु यह अंश शासनपद्धतिके प्रधान अङ्गोंमें है। शासनपद्धतिके संशोधन सम्बन्धी नियमके विषयमें अध्यापक बरगेस् लिखते हैं कि "इसीके अस्तित्व और सत्यतापर अर्थात् इसके वास्तविक और स्वाभाविक विषयोंपर ही इस बातका फैसला हो जाता है कि राष्ट्र शान्तिपूर्वक धीरे धीरे उन्नति करेगा अथवा तटस्थ होकर फिर अवनति कर अन्तमें विप्लव मचाकर फिर आगे बढ़ेगा।" डायसी लिखते हैं "यदि कहीं कहीं शासनपद्धतिके नियमोंके अपरिवर्त्तनीय होनेके कारण वैसा रद्दोबदल नहीं होने पाया है,

जिसके कारण राष्ट्रकी नींव हिल जाती है, तथापि साथ ही यह कहना पड़ता है कि कितने ही स्थानोंमें शासनके अपरिवर्तनीय होनेके कारण राष्ट्रविप्लव हो गया है। तोकुगोलेने जब कहा कि चार्टरके आर्टिकल अर्थात् शासनपद्धतिके नियमोंको बदलनेके लिए विधिविहित कोई अधिकारी नहीं है तो उसके सातही वर्षके अन्दर लुई फिलिपका राज्य नष्ट होगया। ऐसे दृष्टान्त फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिमें अनेक मिलेंगे जिनसे यह मालूम होगा कि शासनपद्धतिकी अपरिवर्तनीयताका बहाना ही उसके सर्वनाशका कारण हुआ है।"

इंग्लिस्तानकी शासनपद्धति जो किसी विधानविशेषसे मर्यादित नहीं है उसके अलिखित रूपकी कभी कभी बड़ी ही तीव्र आलोचना होती है। परन्तु इंग्लिस्तानकी जिस राजकीय उन्नतिकी प्रशंसामें हालम महाशय कहते हैं कि "कोई भी पक्षपातरहित निरीक्षक इंग्लिस्तानकी सुदीर्घ और अप्रतिहत सुखसमृद्धिको बढ़ते हुए देखकर यही कहेगा कि मनुष्यजातिके इतिहासमें यही सबसे सुन्दर दृश्य है"। कई अंशोंमें उस राजकीय उन्नतिका यश इंग्लिस्तानकी शासनपद्धतिके सहजमें परिवर्तनीय होनेके कारण ही है। बेजहाट् इंग्लिस्तानकी शासनपद्धतिकी इस विशेषताके बारेमें कहते हैं कि "इसके कारण देश उन सब आपत्तियोंसे बच जाता है जिनके कि एकाएक एकत्रित होजानेसे कितनी ही अन्य शासनपद्धतियाँ नष्ट भ्रष्ट हो गयीं।"

यदि शासनपद्धतिके विशेष अंशोंको सहजमें परिवर्तन करनेका कोई नियम न हो तो उन्नतिशाली मनुष्यसमाजके आचार विचारमें परिवर्तन होनेके कारण ऐसे भाव पैदा हो जाते हैं जिनके कारण समाजविशेष अपने शासनमें भी परिवर्तन चाहता है और ऐसा न कर सकनेके कारण राष्ट्रविप्लव

मचा देता है। ऐसी आपत्तियोंसे इंग्लिस्तान प्रायः बचा ही रहा है क्योंकि वहां शासनपद्धति लोकमतके अनुसार सहलमें बदली जासकती है। इसी कारण अब फ्रान्स, इटली आदि इग्लिस्तानकी नकल कर रहे हैं। अमरीकामें अन्तर्गत राष्ट्रोंके अधिकारोंको संरक्षित रखनेके विचारसे वहां शासनशैली बड़ी ही अपरिवर्तनीय बनायी गयी है।

जापनके शासनविधान की ६३वीं धारा है कि "भविष्यमें जब इस पद्धतिमें संशोधन करनेकी आवश्यकता होगी तो राजाज्ञासे राष्ट्रीयसभामें उसका प्रस्ताव उपस्थित किया जायगा। यह प्रस्ताव सभाकी दोनों परिषदोंमें आवेगा। और जबतक परिषद्के कमसे कम दोतिहाई सभासद उपस्थित न होंगे तबतक उसपर विचार नहीं किया जायगा और इसकी स्वीकृति उस समयतक न होगी जबतक उपस्थित सभासदोंमेंसे दो तिहाई सभासद इसके अनुकूल न हों। अतएव सर्वसाधारण अर्थात् राष्ट्रीयसभाको शासनपद्धतिके संशोधनमें स्वतः प्रवृत्त होकर कुछ करनेका अधिकार नहीं हैं। संशोधनका प्रस्ताव ऊपरसे आना चाहिए। यह स्पष्ट विदित नहीं होता कि राजाज्ञासे यहां प्रत्यक्ष सम्राट्की आज्ञा है या उनकी ओरसे राष्ट्रमन्त्रीकी। यद्यपि इससे कुछ कार्यवाहीमें अन्तर नहीं पड़ता है, क्योंकि मन्त्री सम्राट् द्वारा ही नियुक्त होते हैं और सम्राट् ही उनसे जवाब माँग सकते हैं। शासनपद्धतिके निर्माताओंका मतलब शायद सम्राट्की प्रत्यक्ष आज्ञाहीसे है, क्योंकि इतोने अपने भाष्यमें कहा है कि "शासनपद्धतिमें संशोधन करनेका अधिकार खुद सम्राट्को ही होना चाहिए, क्योंकि वे ही उसके निर्माता हैं।" अर्थात् सम्राट्की कामनासे ही सबसे प्रथम शासनपद्धतिके संशोधनकी बातका उद्गम होना

चाहिए। यह भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार जब राष्ट्रको नवीन शासनपद्धतिकी आवश्यकता हुई तब उन्होंने उसे प्रदान किया, उसी प्रकार जब लोग उसमें संशोधन चाहेंगे तो सम्राट् विना विलम्ब और आपत्तिके संशोधन भी करदेंगे। पर इसका मतलब यह होता है कि जापानके सौभाग्यसे जापानके राजा सदा विचारशील होंगे।

संशोधन करानेमें दूसरी कठिनाई यह है कि इस मामलेमें अकेले सम्राट् ही कुछ नहीं कर सकते। यदि अकेले उन्हींका अधिकार होता तो संशोधनका काम इतना टेढ़ा न होता और चाहे उसमें प्रजातन्त्रमूलकता कम ही होती पर इस समय उसमें जो कठिनाई है वह न रहती। शासनविधानके संशोधन सम्बन्धी नियमके अनुसार संशोधनका मसविदा पहले सभामें उपस्थित करना होता है और परिषद्के कमसे कम दो तिहाई सभासदोंद्वारा उसपर वादविवाद होता है और तब वह उपस्थित सभासदोंमेंसे दो तिहाई सभासदोंकी सम्मतिसे निश्चित होता है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि साधारणतः किसीभी बड़ी सभामें दो तिहाई सभासदोंका एकमत होना कितना कठिन होगा। इसलिए यह कह सकते हैं कि जापानकी शासनपद्धतिमें कोई ऐसा उपयुक्त उपाय नहीं बतलाया गया है कि जिससे कोई आपत्ति विशेषके समय बचाव हो।

एक बातपर और हम ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि राज्यसिंहासनका उत्तराधिकारी कौन हो सकता है और कैसी अवस्थामें राजप्रतिनिधि नियुक्त हो सकते हैं।

इंग्लिस्तानमें यह कायदा है कि वहाँके लोग दुष्ट या अयोग्य राजाको गद्दीसे उतार सकते हैं, उसका ताज दूसरे किसीको

देसकते हैं, और जो व्यक्ति रोमके सम्प्रदायमें आजाय उसका राजसिंहासन पानेसे वञ्चित कर सकते हैं। परन्तु जापानियोंको इन सब बातोंका अधिकार नहीं है। सम्राट्के सिंहासनका उत्तराधिकार सम्राट्की कुलपरिषद् कुलधर्मके अनुसार मन्त्रिपरिषद्से सलाह लेकर निश्चित करती है। इतो कहते हैं कि "सम्राट्का कुलधर्म वही है जो सम्राट् परिवारने अपने लिए बनाया है, और जिसमें सम्राट् और उसके प्रजाजनोंके परस्पर कर्त्तव्यों और अधिकारोंका कोई सम्बन्ध नहीं है"। परन्तु शासनविधानने तो देशकी सारी सत्ता उस सम्राट्को दे दी है जो राजसिंहानपर विराजते हैं, तब यह कैसे कहा जासकता है कि राजसिंहासनके उत्तराधिकारसे सर्व साधारणका सम्बन्ध नहीं अथवा उनके कर्त्तव्यों और अधिकारोंसे इसका कोई नाता नहीं। इतना ही नहीं बल्कि इसका लोगोंके राजनैतिक जीवनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

सम्राट्के प्रतिनिधि नियुक्त करनेकी यदि आवश्यकता पड़े तो सम्राट्के कुलधर्मके अनुसार ही यह नियुक्ति भी की जायगी। सम्राट्के जो जो अधिकार हैं, राजप्रतिनिधिके भी वे ही होंगे। तथापि राजप्रतिनिधिके चुनावमें सर्वसाधारणकी कोई सुनवाई नहीं, मन्त्रिपरिषद्की सम्मतिसे सम्राट्का परिवारही इस बातके निर्णय करनेका अनन्याधिकारी है।

परंतु प्रतिदिनके राजनैतिक जीवनमें जापानी लोग इन सब बातोंको विशेष महत्त्व नहीं देते, क्योंकि जापानमें यह बहुत पुराना रिवाज है कि सम्राट् देशका शासन बलसे नहीं बल्कि अपने प्रभावसे करते हैं, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे होगा।

—:*:—

* प्रबंधविधान संवत् १९५७ (सन् १९०० का एक्ट आफ् सेटिलमेंट)

द्वितीय परिच्छेद

मन्त्रिमण्डल और मन्त्रपरिषद्

शासनविधानमें तो "मन्त्रिमण्डल" शब्द कहीं भी नहीं आया है। इतीके भाष्यमें कहीं कहीं यह शब्द आया है। शासनमें यह स्पष्ट ही लिखा है कि प्रत्येक राष्ट्रमन्त्री स्वयं सम्राट् को अपनी सम्मति देगा और उसके लिये स्वतः उत्तरदायी भी होगा। अर्थात् शासनविधानके अनुसार सब राष्ट्र मन्त्रियोंको एक संस्थाविशेषमें संयुक्त होनेका निर्देश भी नहीं है। परन्तु वास्तविक शासनप्रकारमें हम देखते हैं कि नईकाकूनामका मन्त्रिमण्डल है जिसमें सब विभागोंके मन्त्री और उसके अध्यक्ष मन्त्री नईकाकूसोरीनामिजिन हैं और जो सरकारको नीति को निर्द्धारित करते और कार्यक्रम निश्चित करते हैं। यह ठीक है कि इस नईकाकूनामक मन्त्रिमण्डलपर इंग्लैंडके मन्त्रिमण्डलके समान कोई संयुक्त उत्तर दायित्व नहीं है, अर्थात् मन्त्रिमण्डलके किसीकार्यके लिये प्रत्येक मन्त्री उत्तरदायी नहीं होता और न मन्त्रिमण्डलही किसी खास मन्त्रीके कामका जिम्मेदार होता है, परन्तु कोई मंत्री अन्य मन्त्रियोंसे अलग रहकर कोई काम नहीं कर सकता। उसके विकाशकी नीति मन्त्रिमण्डलकी या कमसे कम अध्यक्ष मन्त्रीकी सम्मतिसे ही निश्चित होती है। उसका यह कर्तव्य होता है कि वह मन्त्रिमण्डलके निर्णयका पालन करे और अध्यक्ष मन्त्रीकी आज्ञाका अनुसरण करे यद्यपि उसपर केवल उसीके विभाग का उत्तरदायित्व होताहै, समस्त मन्त्रिमण्डलका नहीं। समस्त मन्त्रिमण्डलका उत्तरदायित्व अध्यक्ष मन्त्रीपर होता है और

प्रत्येक विभागके लिए भी वे ही उत्तरदायी होते हैं।

वर्तमान मन्त्रिमण्डलपद्धतिका अस्तित्व पौष संवत् १९६२ के सम्राट्के आज्ञापत्र तथा तदुपरान्तके कई राजाज्ञाओंके कारणसे है, जिन आज्ञापत्रोंका अधार शासनविधानकी ७६ वीं धारा है, जिसमें लिखा है कि "इस समय जो कानून, कायदे, नियम, हुकुम आदि किसी नामसे पुकारेजानेवाले विधिविधान हैं वे तबतक कानून ही समझे जांयगे जबतक कि शासन विधानसे उनका कोई बिरोध न हो"। इस प्रकार मन्त्रि-मण्डलका कानूनी अस्तित्व शासनविधानके अन्तर्गत है, यद्यपि शासनविधानमें स्पष्ट प्रकारसे मन्त्रियोंकी संगठितसंस्थाको नहीं माना गया है।

मंत्रिमण्डल निर्माण करनेका कारण यह हुआ कि शासनके सब सूत्रोंका अध्यक्ष मन्त्रीके हाथ रखना आवश्यक था। सब विभागोंके मन्त्रियोंको अपने २ विभागके लिए अध्यक्ष मंत्रीके सम्मुख उत्तरदायी बनाकर सरकारी नीतिके अध्यक्ष मन्त्रीको उत्तरदायी बनाना था और साथ ही यह भी आवश्यक था कि जिस प्रकारकी शासनपद्धतिका विचार हो रहा था उसीके अनुकूल राष्ट्रके सब विभाग हो जाँय। वास्तवमें नवीन पद्धतिके स्थापनके बाद इस तरीकेमें कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ। शासनविधानके निर्माताओंको यह भय था कि यदि सब मन्त्री एक साथ हो जांयगे तो सम्राट्के अधिकारमें कुछ हानि पहुंचेगी। अतएव उन्होंने सब मंत्रियोंको स्वतः उत्तरदायी बनाया, परन्तु मन्त्रिमण्डलको उन्होंने नहीं तोड़ा क्योंकि ऐसा करनेसे उन्होंने समझा कि सब मन्त्रियोंके अलग अलग हो जानेसे सरकारी नीति और कार्यवाहीमें फ़रक पड़ जायगा। इतो लिखते हैं कि "कई देशोंमें मंत्रिमण्डलका पृथक

संगठितरूप होता है, मन्त्री सरकारी कामको व्यक्तिशः नहीं करते, बल्कि उनका समष्टिरूपेण ही उत्तरदायित्व होता है। ऐसी पद्धतिसे खराबी यह होती है कि दलबद्ध शक्ति राजाकी श्रेष्ठतम शक्तिपर आघात करती है। हमारी शासनशैलीमें ऐसी अवस्था प्रिय नहीं हो सकती। तौ भी राजसम्बन्धी जितनी महत्त्वपूर्ण बातें हैं—वे देशकी हों चाहे विदेशकी—उनमें समस्त शासक-मण्डलके विचारसे काम होता है और कोई विभाग व्यक्तिशः उनका जिम्मेदार नहीं हो सकता। ऐसी बातोंकी समीचीनता और उनके कार्यान्वित करनेकी पद्धतिपर सभी मन्त्री मिलकर विचार करते हैं और कोई उस कार्यभारसे छूट नहीं सकता। ऐसी बातोंमें निस्सन्देह मन्त्रिमण्डलका उत्तरदायित्व समष्टिरूपसे ही रहना ठीक है"

इस प्रकार नवों विभागोंके मन्त्री, अध्यक्ष मन्त्रीके नेतृत्वमें एक साथ होकर राज्यसम्बन्धी प्रमुख बातोंका विचार और उपक्रम करते तथा सम्राट्को परामर्श देते हैं। मन्त्रियोंकी इस समष्टिको मन्त्रिमंडल कहते हैं। प्रत्येक विभागका मन्त्री न्यायतः सम्राट्द्वारा, प्रायः अध्यक्षमन्त्रीकी सम्मतिसे नियुक्त होता है और अध्यक्षमन्त्री भूतपूर्व प्रधान मन्त्री से और एकबार मन्त्रिपरिषद्की सलाहसे नियुक्त होते हैं। सम्राट् जिसको चाहें, राज्यका मन्त्री बना सकते हैं, पर उन्होंने ऐसा कभी किया नहीं है।

सर विलियम अन्सन बतलाते हैं कि इंग्लिस्तान के राष्ट्रमन्त्रीगण महाराजके सेवक हैं और मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) एक विचारसभा है, जो एकत्र होकर महाराजके राज्य प्रबन्धका उपाय सोचती और निश्चित करती है, और मन्त्रणा देती तथा राज्यके सब कार्योंका उपक्रम करती है। उसके जो सभा-

सद होते हैं वे भिन्न भिन्न प्रबन्ध विभागोंके प्रधान और उस दलके नेता होते हैं, जिस दलकी नीति अधिकांश निर्वाच-कोंको प्रिय है और जिसके कारण उस दलविशेषको राज्यका भार सौंपा गया है, इन्हीं शब्दोंमें जापानके मन्त्रिमण्डलकी भी व्याख्या हो सकती है, पर उनके कर्त्तव्यों और अधिकारोंमें अन्तर है। इसी कारण जापान और इंग्लिस्तानकी शासनपद्ध-तिमें अन्तर पड़ गया है।

जापान मन्त्रिमण्डलके मन्त्री किसी दलविशेषके नहीं होते और इस लिए निर्वाचिकोंसे भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः जापानी शासनविधानमें जहाँ यह लिखा है कि सम्राट् अमुक अमुक कार्य कर सकता है तो सर्वसाधारणवह समझ लेते हैं कि सम्राट् स्वयं इस प्रकार कहते हैं। आंग्ल देश-का प्रकार यहाँ पर नहीं चलता कि राजाका नाम लेकर राष्ट्रमन्त्री जो चाहे सो करे। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्राट् स्वयं अपने विधिविहित अधिकारोंका प्रयोग करता है। वास्तवमें सम्राट् और सर्व साधारणके बीचके सब कार्योंके आने जानेका मार्ग यही मन्त्रिमण्डल है। और इन्हींके द्वारा सम्राट् अपने प्रयोग करता है।

सम्राट् जब समुदायमें बहुतही कम आते हैं। टोकिओ राजधानीके अधिवासी, अपने सारे जन्ममें भी शायदही सम्राट्को दूरसे भी देख पाते हैं। प्रायः लोग सम्राट्के गौरवको स्थिर रखना चाहते हैं और इसी लिए वे ऐसा नहीं चाहते कि सम्राट् बार बार जनसमुदायमें आवे। सर्व साधा-रणकी राय उनके पास अध्यक्ष मन्त्रीद्वारा या सम्राट् परिवार विभागद्वारा कई स्थानोंमें छनकर तब पहुंचती है। ऐसी अवस्थामें राष्ट्रसम्बन्धी सब कामोंमें मन्त्रिमण्डल की रायसे

चलना और बिना कुछ कहे सुने मन्त्रिमण्डलके फैसलोंकी मंजूरी दे देनाही सम्राट्के लिए उचित है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल की नीति ही सम्राट्की नीति हो जाती है और राष्ट्रीय सभा-की सहमतिसे (जब उसकी आवश्यकता पड़े) वह राजा की नीति हो जाती है। वस्तुतः सम्राट्के प्रबन्धसम्बन्धी, धर्म विधान सम्बन्धी और न्यायसम्बन्धी जितने अधिकार हैं, उस-का उपयोग मन्त्रिमण्डल ही सम्राट्के नामपर करता है।

शासनसम्बन्धी तथा आपत्कालिक आज्ञापत्र निकालना, विदेशीय राष्ट्रोंसे सन्धिकरना, युद्ध छेड़ना और सन्धिकरना, जल और स्थल सेनापर हुकूमत करना और उनका सङ्गठनकरना, राजकर्मचारियोंको रखना और निकालना, उनके वेतन और पेन्शन निश्चित करना आदि जो जो कार्य शासनविधानमें निर्दिष्ट हैं उनपर सम्राट्के नामसे मन्त्रिमण्डलका ही पूरा २ अधिकार है।

न्यायविभागपर मन्त्रिमण्डलका, *प्रबन्धविभागके समान, पूरा पूरा तो अधिकार नहीं है पर यथेष्ट है। न्यायालयोंपर उसका मर्यादित अधिकार है क्योंकि कानूनके अनुसार उनका सङ्गठन होता है और सब न्यायाधीश और अन्य न्यायालया-धिकारीगण जीवनभरके लिए नियुक्त होते हैं। पर शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी मामलोंका जो न्यायालय है उसपर मन्त्रिम-ण्डलका पूरा पूरा अधिकार है। सम्राट्के आज्ञापत्रानुसार इसका सङ्गठन होता है और इसके अध्यक्ष तथा सब परामर्श-दाता अध्यक्षमन्त्रीद्वारा नियुक्त होते हैं। इस न्यायमन्दिरका

---

* राज्य प्रबन्धके १० विभाग हैं और उनके १० मंत्री हैं, परन्तु वे राजाके मंत्री नहीं समझे जाते।

अधिकार बड़े महत्त्वका है और बहुत व्यापक भी है, क्योंकि वाणिज्यशुल्कको छोड़कर सब प्रकारके कर निर्द्धारित करने, कर न देनेवालोंको दण्ड देने, व्यापार करनेसे रोकने, जल सम्बन्धी अधिकार और काम, और किसी भूमिके सम्बन्धमें सरकार और प्रजाजनोंके बीच झगड़े इत्यादि सब मामले इसी न्यायमन्दिरमें तय किये जाते हैं।

इन सब न्याय और प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकारोंका उपयोग सम्राट्के नामसे मन्त्रिमण्डलद्वारा होता है और परिषद्का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। अब यह देखना चाहिए कि व्यवस्थापन कार्यमें मन्त्रिमण्डल और परिषद्का परस्पर कैसा सम्बध है।

शासनविधानके अनुसार मन्त्रिमण्डल कोई भी बिल राष्ट्रीय सभामें उपस्थित कर सकता है, इससे पहले उसने जो बिल उपस्थित किया हो उसको वह वापस ले सकता है या उसमें संशोधन भी कर सकता है। सभाके सभासदोंद्वारा उपस्थित मसविदोंसे पहले मन्त्रिमण्डलके मसविदोंपर विचार करनेका नियम है। जब कोई बिल सभामें पास होजाता है तब उसे कानून बननेसे पहले सम्राट्की स्वीकृति लेनी पड़ती है। यह ठीक है कि अबतक सम्राट्ने सभाका पास किया हुआ कोई बिल अस्वीकार नहीं किया है। सम्राट् मन्त्रिमंडलकी सम्मतिसे यह काम करते हैं, और कानूनपर उसके घोषित होनेसे पहले अध्यक्ष मन्त्री, तथा महाराधिराज सम्राट्के हस्तक्षर होने आवश्यक हैं।

इसके अतिरिक्त शासनविधानका यह भी नियम है कि मन्त्रिमण्डलके सदस्य तथा सरकारके प्रतिनिधि जब चाहें दोनों परिषदोंमें किसी भी बैठकमें आकर बैठ सकते हैं और बोल भी सकते हैं। इतो इस नियमकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं

"परिषद्में आकर बोलनेका जो मन्त्रियोंको अधिकार है, वह सरकारकी इच्छापर है। अतः मन्त्री स्वयं उपस्थित होकर वाद्-विवाद्में भाग ले सकते हैं और विशेष बातोंकी स्पष्ट व्याख्या कर सकते हैं या सरकारके प्रतिनिधियोंको भेजकर उनसे यह काम करा सकते हैं, वे चाहें तो इन दोनो बातोंका इनकार भी कर सकते हैं।" परिषदोंमें जाकर वादविवादमें भागलेनेका अधिकार दो तरहसे काममें लाया जा सकता है (१) लोगोंपर अपना प्रभाव डालकर उनकी राय बदल दें या (२) बातोंमें समय नष्टकरके कार्यमें विलम्ब करें, और किसी बातको स्पष्ट खोलकर कहने या सूचितकरनेसे इन्कार कर देनेका जो अधिकार है वह सरकारके फ़ायदेका ही है, क्योंकि बहुतसे प्रश्न ऐसे होते हैं कि जिनका उत्तर राजकर्मचारी ही दे या समझा सकते हैं। मन्त्रियोंके लिए इस अधिकारका दुरुपयोग करना और सदस्योंको आवश्यकीय बातोंके बतलानेसे इन्कार कर देना कोई अनोखी बात नहीं है।

इसपर भी मन्त्री और उनके प्रतिनिधि जब चाहें, चाहे जिस किसी भी समितिके कार्यमें भागले सकते हैं। वहां वे अपना दबाव डालनेका काम सभामण्डलकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं, क्योंकि समितिके सदस्य बहुत थोड़े होते हैं, और जब कोई महत्त्वका बिल होता है, तो प्रायः उसकी बातचीत समितियोंमें ही तय करली जाती है और वह परिषद्के दोनों विभागोंद्वारा पास करा लिया जाता है। मन्त्रियोंकी यही चेष्टा रहती है कि सरकारी बिलोंपर वाद्-विवाद या खण्डनमण्डन न हो।

राष्ट्रीय सभामें गुप्त वादविवादभी सरकारके कहनेपर या सभाके निश्चय करनेपर हो सकता है। इसी ऐसे अवसरके

कुछ उदाहरण देते हैं, जब गुप्तचर्चाकी आवश्यकता होती है, यथा विदेशसम्बन्धी मामले व्यक्तिगतबातें फ़ौजी मामले और शान्ति और सुप्रबन्धके लिए शासनसम्बन्धी मामले अर्थात् राजाके सभी मुख्य काम इसके अन्तर्गत हैं।

सरकार जब चाहे, राष्ट्रीयसभाको पंद्रह दिनसे कम चाहे जितने समयके लिए स्थगित करसकती है। जापानी राष्ट्रीयसभाका काल वर्षमें तीन महिने होता है, और इन तीन महीनोंमें वह यदि कोई ऐसी विधि बनानेका उद्योग कर रही है जो सरकारको अप्रिय हो तो सरकार परिषद्का अधिवेशन स्थगित कर उस विधिमें हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त सम्राट्का यह अनन्याधिकार है कि वे जब चाहें मन्त्रि-मण्डलकी सम्मतिसे परिषद्को एकत्र करें और जब चाहें परिषद्का अधिवेशन बन्द करें और प्रतिनिधि सभाको तोड़दें।

धर्म विधान कार्य्य में मन्त्रिमण्डल इन सब अधिकारोंका उपयोगकर दखल दे सकता है। अब यह भी देखना चाहिए कि शासनविभागके कार्यमें दखल देनेके लिए परिषद्को क्या क्या अधिकार है। सबसे बड़ा अधिकार उसको राष्ट्रीय अर्थ प्रबन्धपर है।

शासनविधानकी ६४वीं धारा यह है कि राष्ट्रके आय और व्ययका वार्षिक लेखा होना चाहिए और वह राष्ट्रीय सभा द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। शासनविधानमें यह नहीं लिखा है कि आय या व्ययको परिषद घटा बढ़ा सकती है या नहीं। विज्ञजनोंका कथन है कि सभाको दोनों अधिकार हैं, पर और लोग कहते हैं कि चूँकि लेखा सभाद्वारा नहीं बनता यह बात स्वयंसिद्ध है कि सरकारके लेखेमें उसे बढ़ानेका कोई अधिकार नहीं है। अबतक यह प्रश्न किसी न्यायालय-

द्वारा हल नहीं हुआ है। परन्तु बढ़ानेका अधिकार इतने महत्त्व का नहीं है जितना कि घटानेका है और इस अधिकारका प्रयोग सभा अपने प्रथम अधिवेशनसे ही बराबर कर रही है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि परिषद्को यह अधिकार कहांतक है।

आयके सम्बन्धमें सभाको यह अधिकार है कि यदि वह कोई नया कर बैठना चाहे या करका दर घटाना या बढ़ाना चाहे, या राष्ट्रसे ऋण उगाना चाहे, या राष्ट्र-निधिके सम्बन्धमें और कुछ उद्योग करे, तो कर सकती है। परन्तु शासन सम्बन्धी आय अथवा हानि पूर्तिके तौरपर मिलने वाली आमदनी जैसे रेलभाड़ा, गोदामका किराया पाठशाला-ओंकी फ़ीस तथा ऐसे अन्य उपायोंसे होनेवाली आय जिसका दर सरकारी आज्ञापत्रोंसे निश्चित किया जाता है, इस प्रकारकी जो आय है उसमें हस्तक्षेप करनेका सभाको कोई अधिकार नहीं है। इसपर एक बार बड़ी बहस चली थी। संवत् १९४९ (सन् १८९२)में सरकारने एक नया आज्ञापत्र निकालकर शिकारसम्बन्धी कानून बदल दिया और शिकार खेलनेवालोंपर एक नया लाइसेन्स लगाया, परन्तु सभाने इस आज्ञापत्रको अस्वीकार कर दिया और यह कारण बतलाया कि यह लाइसेन्स एक प्रकारका कर है। सरकारने कहा कि नहीं, यह तो हानिपूर्तिकी कोटिमें आता है, इसका परिमाण यह हुआ कि यह आज्ञापत्र रद्द होगया। इस प्रकार आज्ञापत्रद्वारा जो कुछ शासन सम्बन्धी लाइसेन्स लगे हैं वे अन्तमें सभाके अधिकारमें आसकते हैं। परन्तु जब हम देखते हैं कि 'शासन सम्बन्धी आय' तथा क्षतिपूर्तिके तौरपर जो आमदनी वसूल होती है, वह कुल आयका केवल एकतिहाई

भाग है, तब यह कहना पड़ता है कि राष्ट्रकी आयपर सभाको बहुत थोड़ा अधिकार है।

विचार करनेसे यह भी पता लगता है, कि राष्ट्रके व्ययपर भी परिषद्का अधिकार बहुत मर्यादित है। शासनविधानकी ६७ वीं धारा है कि "सम्राट्के अधिकारोंसे सम्बन्ध रखने वाले विधानविहित व्यय, अथवा कानूनसम्बन्धी व्यय, अथवा सरकारकी जिम्मेदारी निबाहनेवाले व्ययको सरकारकी सहमति बिना राष्ट्रीय परिषद् न तो रोक सकती है और न घटा सकती है।" इतो स्पष्ट कहते हैं कि 'विधानविहित व्ययमें' शासनकी भिन्न भिन्न शाखाओंके सङ्गठनका व्यय, जल और स्थल सेनाका व्यय, मुल्की और फौजी अफसरोंके वेतन, विदेशोंसे संधियोंके निमित्त होनेवाला खर्च, इन सबका अंतर्भाव होता है, "कानूनसम्बन्धी व्ययमें राष्ट्रसभाके दोनो अङ्गोंका खर्च, कानूनसे निर्धारित कार्यालयोंके संगठित होनेपर कर्मचारियोंके वेतन, खर्च, वार्षिकवृत्ति, पेन्शन तथा सभासदोंको दिया जानेवाला सालाना भत्ता और अन्य नानाप्रकारके भत्ते, इन सबका समावेश होता है, और सरकारको ज़िम्मेदारी निबाहनेवाले खर्चमें राष्ट्रीय ऋणका सूद, उसका निष्क्रय, कारखानोंकी सहायता, सरकारके शासनसम्बन्धी आवश्यकीय खर्च, सब प्रकारकी क्षतिपूर्ति तथा ऐसे ही खर्च आते हैं। इस व्ययको बिना सरकारकी सहमतिके परिषद् न तो रोक सकती है और न घटा सकती है।

शासनविधानकी ६४ वीं धारामें यह भी है कि, "आय-व्ययपत्रमें जो व्यय निश्चित हुआ है उसके अतिरिक्त जो व्यय हो उसके लिए राष्ट्रीय परिषद्की स्वीकृति लेनी पड़ेगी।" इसका यह अर्थ होता है, कि वार्षिक आयव्ययपत्रमें व्ययका

जो अनुमान दिया गया हो उसके अनुसार तो सरकार व्यय कर ही सकती है और ऐसा व्यय भी कर सकती है जो कि अनुमानपत्रमें भी हो, पर उसके लिए पीछेसे राष्ट्रीयपरिषद्की स्वीकृति आवश्यक है, परन्तु क्या इसमें कोई ऐसी बात है जिसके बलसे राष्ट्रीय परिषद् सरकारको व्यय बढ़ानेसे रोक सके? मान लीजिए कि सरकारने आयव्ययपत्रसे अधिक खर्च कर डाला और उस अधिक खर्चको राष्ट्रीय परिषद्ने स्वीकार न किया तो क्या होगा? रुपया तो खर्च हो ही गया, राष्ट्रको वह देना ही पड़ा। इतो कहते हैं कि ऐसे अवसरोंपर सरकार जो रुपया खर्च कर चुकी है उसपर राष्ट्रीय परिषद्के निर्णयका कोई असर नहीं हो सकता और सरकारपर इससे जो बोझ पड़ा वह भी हलका नहीं हो सकता"। अतः यह अधिक व्यय रोकनेका अमोघ उपाय नहीं है संवत् १९४८ में मिनो और ओवारी प्रान्तोंमें भूकम्पके कारण सरकारको २२ लाख ५० हजार येन (लगभग ३५ लाख १५ हज़ार ६०० रु०) खर्च करना पड़ा है। बादको यथानियम उसने राष्ट्रीय परिषद्की स्वीकृति चाही। तब प्रतिनिधिसभाकी एक विशेष समितिने खर्चकी त्रुटियोंका पता लगाकर सरकारसे उसका विवरण चाहा और इस सम्बन्धके कुछ काग़ज़ पत्र पेश करनेके लिए कहा। सरकारने केवल विवरण देने तथा काग़ज़ पत्र पेशकरनेसे इन्कार किया, बल्कि परिषद्की इस अस्वीकृतिके आधारपर परिषद्को तोड़ देनेका ही उद्योग किया, तब परिषद्को दूसरे अधिवेशनमें स्वीकृति देनी पड़ी यद्यपि खर्चमें जो गड़बड़ हुई थी उसके प्रमाणोंकी कमी नहीं थी।

यदि मन्त्रिमण्डलसभाके सामने उत्तरदायी होतो इसकरतही गड़बड़ बन्द करनेमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

पर जापानके राजाके मन्त्री केवल सम्राट्को ही जानते हैं। अतः जबतक वे मन्त्रिपदपर हैं, तबतक सभापर अपना अधिकार चला सकते हैं।

जब किसी कारणवश सभा आयव्ययपत्रपर मत न दे अथवा आयव्ययपत्रपर मत मिलनेसे पहले सभा भङ्ग हो जाय तो सरकारको यह अधिकार है कि वह पूर्ववर्षके आय-व्ययपत्रके अनुसार कार्य करे और उस आयव्ययपत्रसे अधिक व्यय करनेकी आवश्यकता हो तो वहभी करे। शासन-विधानकी ७० वीं धारा है कि "जब देशकी भीतरी या बाहरी अवस्थाके कारण सार्वजनिक शान्तिके विचारसे राष्ट्रीयसभा आमन्त्रित न की जासके तो सरकार सम्राट्के आज्ञापत्रके सहारे अपने अर्थसम्बन्धी सब आवश्यकीय उपाय कर सकती है"। अतः हम यह कह सकते हैं कि राज्यकी आर्थिक बातोंमें सभा-को हस्तक्षेपकरनेका अधिकार नहीं, केवल तत्त्वावधान करने-का अधिकार है। फिर भी शासनविधानसे सभाको जितने अधिकार मिले हैं,उन में सबसे महत्त्वका अधिकार यही है।

मन्त्र परिषद्

जापानकी शासनप्रणालीमें मन्त्रपरिषद् (सुमित-इन)भी एक विशेषस्थान है। यह इंग्लैण्डकी मन्त्रिपरिषद्के समान नहीं है जिससे कि अङ्गरेज़ी मन्त्रिमण्डल बना है और जिसके कारण ही अङ्गरेजी मन्त्रियोंका अस्तित्व विधि-विधेय हुआ है। हमारे यहां मन्त्रिमण्डल और प्रिवी कौन्सिल दो परस्पर भिन्न और स्वतंत्र संस्थाएँ हैं और प्रत्येक विधिविहित मर्यादा कानूनसे, अथवा सम्राट्के आज्ञापत्रसे ही निश्चित हुई हैं। यद्यपि मन्त्रिमण्डलके १५ मन्त्री होनेके ही कारण मन्त्रिपरि-

षद् में स्थान पाते हैं। यह पाठकोंको मालूम ही हो गया है, कि मन्त्रिमण्डल शासकोंका मण्डल है और मन्त्रिपरिषद् एक मन्त्रणा-सभा है, जिसमें सम्राट्के कानूनी सलाहकार होते हैं। पहले पहल जब इसकी स्थापना हुई तो सलाहकार (परामर्शदाता), अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और मन्त्रिमण्डलके सभासद मिलाकर कुल छब्बीस सभासद थे, अब यह संख्या बढ़ते बढ़ते ३६ तक आ पहुँची है और लगातार बढ़ती ही जाती है। यह इसलिए नहीं बढ़ायी जाती कि संख्या बढ़ानेसे कार्यमें कुछ विशेषता आ जायगी बल्कि इसलिए कि जिन वयोवृद्ध राजनीतिज्ञोंको शासनकार्यमें कहीं स्थान नहीं मिल सकता उनके लिए स्थान रहे। १९४४ विक्रम १५ मेष (२८ अप्रैल १८८८) का सम्राट्का आज्ञापत्र नं० २२ में लिखा है कि मन्त्रपरिषद् के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों को स्वयं सम्राट्नियुक्त करेंगे। मन्त्रपरिषद्का काम मन्त्रणा-सम्बन्धी होता है। राष्ट्रकी महत्वपूर्ण बातोंपर जब सम्राट् उससे सम्मति पूछते हैं, तब उसका अधिवेशन होता है और विचार होचुकनेपर सम्राट्को सम्मति दी जाती है। उसकी सम्मतिको स्वीकार करना या न करना और अधिवेशनमें उपस्थित होना या न होना सम्राट्की इच्छापर है। (प्रायः सम्राट् परिषद्के अधिवेशनोंमें बहुत कम आते हैं) जिन विषयोंपर विशेषकर मन्त्रिपरिषद्से राय ली जाती है, ये हैं—

१ सम्राट्की कुलधर्मसम्बन्धी बातें।

२ शासनविधानकी धाराओंसे तथा अन्य विधान और राज्य, आज्ञापत्रों और कानूनों से सम्बन्ध रखनेवाली सन्दिग्ध बातें और चिट्ठे।

३ रण और आपत्तिकाल सम्बन्धी नियमों और आज्ञाओं

की घोषणा करना।

४. अन्तर्-राष्ट्रीय सन्धियाँ और प्रतिज्ञाएँ।

५. मन्त्रि-परिषद्के संशोधन-सम्बन्धी बातें।

परन्तु मन्त्रि-परिषद् सम्राट्की केवल मन्त्रणासभा है— उसे स्वयं प्रबन्धका कोई अधिकार नहीं है। सर्वसाधारणसे उसका सरकारी सम्बन्ध कुछ भी नहीं है। राष्ट्रीयपरिषद्, सर्वसाधारण या किसी सरकारी संस्थाका प्रार्थनापत्र, आवेदनपत्र, या किसी प्रकारका पत्र स्वीकार करनेका उसको अधिकार नहीं है, उसका सरकारी सम्बन्ध जो कुछ है वह केवल मन्त्रिमण्डल और मन्त्रियोंसे है।

अब यह देखना चाहिए कि मन्त्र-परिषद् और मन्त्रि-मण्डलका यह परस्पर सम्बन्ध कैसा है। राज्यसम्बन्धी अत्यन्त महत्वकी बातपर सम्राट्को मन्त्रपरिषद्से परामर्श करना पड़ता है; ऐसा नियम है। तब मन्त्री और मन्त्रपरिषद्के सभासद् एक जगह बैठकर विचार करते हैं। यदि योग्यता और प्रतिभामें मन्त्रपरिषद्के सदस्य मन्त्रियोंसे अधिक हुए तो वे मन्त्रियोंको परास्तकर कौन्सिलोंको अपने वशमें कर लेते हैं। क्योंकि उनके मत यदि एक साथ लिये जाँय तो मन्त्रियोंसे तिगुने होते हैं। यह सच है कि ऐसी अवस्थामें मन्त्रपरिषद् मन्त्रिमण्डलके काममें कुछ दखल नहीं दे सकती, पर यदि सम्राट् उनके निर्णयको स्वीकार कर लें तो इसका प्राधान्य हो जाता है और तब वह मन्त्रि-मण्डलके अधिकारको भी काट सकती है।

पर यदि मन्त्री मन्त्रपरिषद्के सदस्योंसे अधिक चतुर और दृढ़ हुए तो वे मन्त्रपरिषद्के सदस्योंको सहजहीमें परास्त कर सकते हैं। मन्त्रपरिषद्के सदस्योंमेंसे १० सभा-

सद मन्त्रिमण्डलके होते हैं। यह संख्या बहुत कम है, पर अधिवेशनमें गणपूर्ति करनेके लिए काफ़ी है। इसलिए मन्त्रि-मण्डलवालोंकी संख्या कम हुई तो क्या, अधिवेशनका दिन समय आदि अपना सुभीता देखकर नियत करना और अपनी इस कमीको पूरा कर लेना उनके अधिकारकी बात है। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डलवालोंको शासन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं, और सरकारी कर्मचारियों और राष्ट्रीयपरिषद्से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मन्त्रपरिषद्के लिए यह सब कुछ नहीं है, इतना ही नहीं, उसके सभासद किसी राजनीतिक दलमें भी सम्मिलित नहीं हो सकते*, अतः सम्राट्की आज्ञाके अतिरिक्त मन्त्रपरिषद्के लिए ऐसा कोई विधिका सहारा नहीं है कि जिसके सहारे वे मन्त्रिमण्डलवालोंका सामना कर सकें।

परन्तु मन्त्रपरिषद्में जब मन्त्रिमण्डलवालोंका पूरा विजय हो जाता है तो उससे उनका बड़ा काम निकलता है। मन्त्रिमण्डलके किसी कार्यपर किसी अवसरपर परिषद् प्रश्न कर सकती है, परन्तु मन्त्रपरिषद्के निर्णयपर वह कुछ बोल नहीं सकती। यह सही है कि परिषद्के निर्णयका व्यवस्थापन व शासनसम्बन्धी बातोंपर कोई असर नहीं पड़ सकता जब-तक सम्राट् उस निर्णयको स्वीकार न करें। परन्तु ऐसा शायद ही कभी होता हो कि मन्त्रिमण्डलकी नीतिको मन्त्रि-परिषद्का सहारा होते हुए सम्राट् अस्वीकार कर दें। अतः

---

* ऐसा कोई कानून तो नहीं है कि मन्त्रिपरिषद्के सभासद किसी राजनीतिक दलके सभासद न हों, पर ऐसा हुआ अवश्य है कि काउण्ट ओकुमा १९३८ वि० में इसलिए कौन्सिलसे हटाये गये कि वे उदारमतवादी दलके नेता इतागाकीसे जा मिले थे, और विक्रमीय १९६१ (१९०४) में इन्होंने प्रिवी कौन्सिलके प्रेसिडेण्ट होनेके कारण ही सेइयुकाई दल छोड़ दिया था।

ऐसा हो सकता है कि मन्त्रिमण्डलके सभासद अपने कार्यका महत्त्व और बल बढ़ानेके लिए अथवा जिम्मेदारीसे बचनेके लिए मन्त्रपरिषद्का उपयोग करते हों।

परन्तु अबतक मन्त्रिमण्डल और मन्त्रपरिषद्का घोर विरोध होनेका अवसर कभी नहीं आया है, क्योंकि दोनोंके सभासद एक ही विचारके और परस्पर मित्रभाव और घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले ही रहे हैं और अभी भी हैं, और दोनों ही सम्राट्के सम्मुख उत्तरदायी हैं, न कि परिषद्के। पर दिन दिन मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय परिषद्की सभाओंके ही बहुमतका सहारा लेनेकी ओर झुक रहा है। आगे चलकर जब मन्त्रि-मण्डलके सभासद परिषद्के उत्तरदायी होंगे तब सम्भव है कि मन्त्रिमण्डल और मन्त्रपरिषद्में जो स्नेहभाव अब है वह जाता रहे। इन्होंने यह आशा की थी कि "यदि मन्त्रपरिषद् सम्राट्की बुद्धिमत्ताको सहायता देनेमें और किसी पक्षकी ओर न झुककर निष्पक्ष रहनेमें तथा समस्त कठिन उलझनों-को सुलझानेमें उपयुक्त हुई तो जापानकी शासनप्रणालीका यह एक महत्त्वका भाग समझी जायगी इसमें सन्देह नहीं।" पर यदि ऐसा न हुआ तो मन्त्रपरिषद् और मन्त्रिमण्डलके बीच अदृष्ट कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं।

तृतीय परिच्छेद

राष्ट्रीय सभा

राष्ट्रीय सभामें दो विभाग हैं—प्रतिनिधि-परिषद्, और सरदार परिषद्। प्रतिनिधि सभामें ३७६ प्रतिनिधि होते हैं जो ४ करोड़ ६७ लाख ३२ हजार ८ सौ ७६ जापान-जन-संख्याके १७ लाख ६८ हज़ार १३ निर्वाचकों द्वारा चुने हुए होते हैं। सरकार सभाके ३६८ सभासद होते हैं जिनमें १६ राजवंशज कुमार, १३ साधारण प्रिन्स, २६ मारक्विस, १७ काउएट, ७० वाइकाउएट, ५६ बेरन, १२२ सम्राट्के मनोनीत और ४५ सबसे अधिक कर देनेवालोंके प्रतिनिधि होते हैं।*

इस सभाको शासन पद्धतिके विधानोंके अनुसार कौन कौन अधिकार प्राप्त हैं, इसकी व्याख्या इतो अपने भाष्यमें यों करते हैं—(१) प्रार्थनापत्र स्वीकार करनेका अधिकार, (२) सम्राट्के पास आवेदनपत्र और निवेदनपत्र भेजनेका अधिकार, (३) सरकारसे प्रश्न करने और जवाब तलब करनेका अधिकार और (४) व्ययके प्रबन्धकी देखभाल करनेका अधिकार।

इस विषयकी चर्चा तो इससे पहले ही हो चुकी है कि सभाको मन्त्रिमण्डलसे सम्बद्ध धर्मविधानका अधिकार कितना हैं और व्यय प्रबन्धका कितना अधिकार है। इसलिए अब इन अधिकारोंके अतिरिक्त और क्या उसके अधिकार

---

* राजवंशज, प्रिन्स और मारक्विस इनको परिषद्के सभासद होनेका जन्मतः अधिकार है। काउएट; वाइकाउएट और बेरन अपने अपने समाजसे चुने जाते हैं। अर्थात् जितने बेरन हैं, वे बेरनको चुनेंगे, वाइकाउएट वाइकाउएटको और काउएट काउएटको।

हैं तथा सभाका दोनों विभागोंसे धर्मनिर्माणके सम्बन्धमें परस्पर कैसा सम्बन्ध और क्या अधिकार है उन्हींकी हम यहाँ चर्चा करेंगे।

अब रहा प्रार्थनापत्र स्वीकार करनेका अधिकार। इनमेंसे दोनों परिषदोंको यह अधिकार है कि परिषद्के किसी सभासदकी मारफ़त किसी जापानी प्रजाजनके प्रार्थनापत्रको ग्रहण करें। यह प्रार्थनापत्र समितिके पास भेज दिया जाता है। यदि समिति कोई इसकी खास सूचना करे वा परिषद्के कमसे कम ३० सभासद चाहें कि यह प्रार्थनापत्र उपस्थित किया जाय तो वह उपस्थित किया जाता है और उसपर वादविवाद होता है। परन्तु सरकारका सहारा न हो तो परिषद्का अधिकार क्षेत्र बहुत ही छोटा है, इसलिए लोग कोई विशेष कानून बनवानेके लिए परिषद्के पास प्रार्थनापत्र भेजनेको कोई उपयोगी तरीका नहीं समझते। और न परिषद्के लोकप्रतिनिधि ही उसपर विशेष ध्यान देते हैं, क्योंकि जबतक सरकार उन प्रार्थनापत्रोंपर विचार करना न चाहे, ये कर ही क्या सकते हैं। इधर कुछ वर्षोंसे परिषद्के सदस्य इन प्रार्थनापत्रोंपर ध्यान देने लगे हैं, नहीं तो पहले किसीको उनकी कोई परवाहतक नहीं थी।

राष्ट्रीय सभाके इस अधिकारके सम्बन्धमें एक विशेष मार्केकी बात है जिसको ध्यानमें रखना चाहिए। वह यह है कि सभाका कोई विभाग ऐसा कोई प्रार्थनापत्र नहीं स्वीकार कर सकता कि जिसमें शासनपद्धतिके संशोधनका प्रश्न हो अथवा न्यायविभागसे या शासनसम्बन्धी न्यायविभागसे जिसका सम्बन्ध हो। शासनपद्धतिके निर्माताओंने इसे सम्राट्की श्रद्धेय सम्पत्तिके समान सुरक्षित रखनेका प्रयत्न किया है

और शासनाधिकारको उन सरकारी कर्मचारियोंके हाथमें रख छोड़नेकी चेष्टा की है कि जिनसे सभा जवाब, तलब नहीं कर सकती। वे जानते थे कि आगे चलकर सर्वसाधारणका शासनाधिकारपर आक्रमण होगा और इसलिए उन्होंने बड़ी सावधानीसे इसकी रक्षाका उपाय किया है।

अब रहा प्रश्न करनेका अधिकार। इस समय सभाको, विशेषकर प्रतिनिधि परिषद्को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनमें यह एक बड़ा ही उपयोगी अधिकार है। प्रायः प्रतिनिधि परिषद्के अधिकतर सभासद् सरकारके विरुद्ध ही रहते हैं। वे स्वयं जो कानून बनाना चाहते हैं उसमें चारों ओरसे विघ्न बाधाएँ आकर घेर लेती हैं। यदि प्रतिनिधि परिषद्के सभासद् कोई बिल पेश करते हैं और उसे सरकारसे सहारा नहीं मिलता तो उसके दूसरे या तीसरे वाचनका समय ही नहीं आता, क्योंकि सरकारके पेश किये हुए बिलोंपर पहले विचार करना पड़ता है, तब दूसरे बिलोंकी बारी आती है।

इसके अतिरिक्त सरकार १५ दिनसे कम चाहे जितने समयके लिए सभा स्थगित कर सकती है। जिससे सरकार जिस बिलके विरुद्ध है उसके उपस्थित किये जानेमें सहजहीमें विलम्ब कर सकती है। इतना ही नहीं; सम्राट्के नामसे सरकार सभाको जब चाहे विसर्जित भी कर सकती है। यदि कोई बिल प्रतिनिधि परिषद्से निश्चित भी हो गया तो मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध होनेपर सम्राट् उसे स्वीकृति न देंगे। इस प्रकारसे प्रतिनिधि परिषद्के सभासद् अपने कानून निश्चित करानेके प्रयत्नमें प्रायः विफलमनोरथ ही होते हैं। इसलिए जापानकी प्रतिनिधिपरिषद्के बहुतेरे राजनीतिज्ञ सरकारकी मदद करने और सरकारके संविधान निश्चित करानेके लिए सभामें उप-

स्थित नहीं होते। जब ऐसी कोई आवश्यकता पड़ जाती है और मुख्य मुख्य दलोंसे सरकारके साथ सहकारिता करनेका आग्रह किया जाता है तभी वे ऐसा करते हैं। साधारणतः वे सरकारसे प्रश्नोंपर प्रश्न करनेको आते हैं, शासन कार्यकी रत्ती रत्ती छानबीन कर उसके दोष और प्रमाद निकालते हैं, सरकारकी पोल खोल देते हैं और लोगोंके सरकारपर जमे विश्वासको हिला देते हैं। वर्तमान पद्धतिके अनुसार सर्व-साधारणकी प्रतिनिधिपरिषद्का अपना अधिकार प्रकट करनेका सबसे अच्छा मार्ग यही है।

प्रतिनिधिपरिषद्के सदस्यद्वारा सरकारके कार्योंकी जो आलोचना करते हैं वह साधारण नहीं बल्कि बड़ी ही तीव्र होती है, क्योंकि जापानी सरकार किसी दल विशेषकी पक्षपाती और उत्तरदायी सरकार नहीं होती। लॉर्ड लैन्सडाउनने लॉर्ड मार्लेके परिषद्सम्बन्धी बिलका विरोध करते हुए उत्तरदायी और अनुत्तरदायी सरकारका प्रतिवाद करनेकी रीतियोंका अन्तर ठीक ठीक बतला दिया है। उन्होंने कहा था कि "इस (इंग्लिस्तान) देशके प्रतिवाद करनेके ढङ्ग और हिन्दुस्थानके प्रतिवाद करनेके ढङ्गमें बड़ा भारी अन्तर है। इंग्लिस्तानमें जब सरकारके किसी कार्यका प्रतिवाद किया जाता है तो प्रतिवादियोंके मनमें यह एक विचार रहता है कि 'किसी दिन हमारे हाथमें भी शासनकार्य आजायगा और तब हमारे ऊपर भी वही जिम्मेदारी आ जायगी जो आज सरकार पर है। परन्तु आप (अंगरेज़) हिन्दुस्थानीको कभी सरकारका परिवर्तन न करने देंगे, और इसलिए इन दोनों अवस्थाओंमें वस्तुतः आकाश पातालका अन्तर है।" जापानी प्रतिनिधि-परिषद्के सदस्योंको इस समय यह आशा नहीं रहती कि हमें

सरकारका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ेगा। अतः सरकारसे उनका बर्ताव प्रायः बड़ा ही उग्र और सर्वथा प्रतिकूल होता है, और कभी कभी तो उनके काम बड़े ही अनुचित होते हैं। यह तो नियम ही है कि जितना ही उसका प्रतिवाद होगा उतना ही उत्साह और सहारा उसे परिषद्से और सर्वसाधारणसे भी मिलेगा।

सरकार तो हर तरहसे प्रतिनिधिपरिषद्के प्रतिवाद और विरोधसे बचने तथा अपनी जिम्मेदारियोंको टालनेका यथेष्ट उपाय कर सकती है। मन्त्रिमण्डलका कोई सदस्य प्रतिनिधिपरिषद्के किसी प्रश्नका उत्तर दे या कुछ कारण बतलाकर इन्कार भी कर दे, यह उनके अधिकारकी बात है। उत्तर देनेसे इनकार करना हो तो "साम्राज्यकी वैदेशिक नीतिके सम्बन्धकी बातें गुप्त रखनी पड़ती हैं" यह कारण या ऐसा ही कोई और कारण बतला दिया जाता है। अपने कार्यका समर्थन करने या अपनी जिम्मेदारी ही टाल देनेके लिए मन्त्रिमण्डलके सभासद प्रायः सम्राट्का नाम बेखटके ले देते हैं। संवत् १९५२ में जब इतो प्रधान मन्त्री थे तो प्रतिनिधि परिषद्के सदस्य उनसे कोरियाके सम्बन्धकी युद्धान्तर सरकारी नीतिके सम्बन्धमें प्रश्नपर प्रश्न कर उनका दिमाग चाट गये थे। तब उन्होंने कहा कि "सरकारकी वैदेशिक नीति महाराजाधिराज सम्राट्के श्रद्धेय विचारसे निश्चित होती है और मन्त्रिमण्डलको यह अधिकार नहीं है कि यह बतलावें कि सरकार अब किस नीतिका अवलम्बन करेगी।" इस प्रकारसे कुछ देरके लिए इतोने सभासदोंको चुप करा दिया।

परन्तु बात यह है कि मन्त्री सम्राट्के नामकी ओटमें छिपनेका कैसा ही प्रयत्न क्यों न करें, और लोगोंकी मनो-

वृत्तिसे लाभ उठानेमें कितनी चालाकी क्यों न कर जायँ, वे अपने स्थानपर तभीतक रह सकते हैं, जबतक सर्वसाधारण एक होकर उन्हें पदच्युत करनेपर तैयार नहीं होते। उनकी जो कमजोरियाँ और गलतियाँ होंगी वे किसी न किसी दिन प्रतिनिधि परिषद्के चतुर और सावधान सभासदोंकी प्रश्न-परम्परासे सर्वसाधारणके सामने आ ही जायँगी। ऐसी अवस्थामें धर्मपरिषद्, सर्वसाधारण और कभी कभी मन्त्रि-परिषद्के सभासद भी सरकारपर ऐसा दबाव डालते हैं कि अन्तमें मन्त्रिमण्डल ही बदल जाता है।

अब सम्राट्की सेवामें आवेदनपत्र भेजनेके अधिकारका विचार करें। यूरोपके सङ्गठित राजसत्तात्मक राष्ट्रोंमें इस अधिकारका प्रयोग प्रायः नहीं होता। परन्तु जापानमें इस अधिकारका भी वैसा ही महत्त्व है; जैसा कि प्रश्न करनेके अधिकारका। एक तो इस कारणसे कि जापानियोंके संस्कार ही कुछ ऐसे हैं, और दूसरा कारण यह कि सरकार केवल अनुत्तरदायी ही नहीं, प्रत्युत सम्राट्के नामके पीछे छिपने-वाली है! इन दोनों कारणोंसे धर्मसभा विशेषतः प्रतिनिधि-परिषद् सरकारको तङ्ग करनेके लिए इस अधिकारका उपयोग करती है और यह अधिकार भी राजनैतिक महत्त्व का है।

जब शासन-पद्धति-सम्बन्धी आन्दोलनके दिनोंमें राष्ट्रीय-सभा स्थापनार्थ संयुक्तसंघ (युनाइटेड् असोसियेशन) ने सम्राट्की सेवामें अपना आवेदनपत्र उपस्थित करना चाहा तो एक सरकारी कर्मचारीने उसे यह कहकर फेंक दिया कि लोगोंको राजनीतिक आवेदनपत्र भेजनेका कोई अधिकार नहीं है। वर्तमान पद्धतिके पूर्व सर्वसाधारणको सम्राट्से अपनी आकांक्षाएं और आवश्यकताएं बतानेका कोई प्रत्यक्ष

या अप्रत्यक्ष साधन नहीं था, सिवाय इसके कि वे मन्त्रि-मण्डलसे या न्यायालयके कर्मचारियोंसे जो कुछ कहना हो, कहें। पर अब इस नवीन पद्धतिसे यह हो गया है परिषद् स्वयं अपने ही प्रधान अथवा सभापतिद्वारा सम्राट्के पास आवेदनपत्र भेज सकती है। अबतक जिन मन्त्रियोंने सम्राट्से मिलने और बात करनेका अधिकार ले रखा था उनकी यहाँ दाल नहीं गलती। पर इससे कोई यह न समझे कि राष्ट्रीय-सभा इस आवेदनपत्रसे राज्यकी नीतिमें हस्तक्षेप करने या उसे बदल देनेकी सलाह भी सम्राट्को दे सकती है। ऐसा नहीं है। इस अधिकारसे सम्राट्के मनपर कुछ प्रभाव पड़ता हो, सो भी नहीं, प्रत्युत इसका रहस्य यही है कि सर्वसाधारणपर इसका एक प्रकारका विशेष प्रभाव पड़ता है। जापानके राजकार्यमें सम्राट्का नाम भी बड़ा काम करता है, जो इसका उपयोग जितनी ही उत्तमताके साथ करेगा उसका उतना ही राजनीतिक प्रभाव बढ़ता है। इसी कारण राष्ट्रीय सभा और सम्राट्के प्रत्यक्ष सम्बन्धका विशेष गौरव है। जापानियोंकी परम्परागत राजनीतिक कल्पनाओंके अनुसार राष्ट्रके मन्त्रियोंका प्रधान कर्त्तव्य यह था कि वे सम्राट्के लिए देशको सुरक्षित रखें और प्रजाजनोंको सम्पन्न और सुखी बनावें। इस कर्त्तव्यमें चूकना और सम्राट्के प्रिय प्रजाजनोंके असन्तोष और दुःखका समाचार सम्राट्के कानोंतक पहुँचाना मन्त्रियोंके हक़में बड़ा भारी राजद्रोह समझा जाता था जिसका परिमार्जन आत्महत्या(हाराकिरी)से ही हो सकता था। पहले भी और अब भी सर्वसाधारणका यही ख़्याल है कि अपने प्रजाजनोंको अपने बच्चोंके समान पालन करना और सुखी और सन्तुष्ट रखना ही सम्राट्का एकमात्र काम है।

इसीलिए, जैसा कि पहले हम कह चुके हैं, राजमन्त्री प्रायः अपने किये हुएका समर्थन करने या अपनी जिम्मेदारीको टाल देनेके लिए सम्राट्का नाम ले दिया करते हैं। मन्त्रियोंकी इस कार्यवाहीका प्रतिकार करनेके लिए राष्ट्रीय सभा सम्राट्के पास अपने आवेदनपत्र भेजनेके अधिकारका उपयोग करती है। प्रायः आवेदनपत्र (अभिनन्दन पत्रोंको छोड़कर) इसी उद्देशसे सम्राट्की सेवामें भेजे जाते हैं कि शासन कार्यकी त्रुटियाँ और असन्तोषजनक परिस्थिति उनपर प्रकट हो और लोगोंपर भी यह प्रकट हो जाय कि मन्त्रिगण सम्राट्की इच्छाका पालन नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार उनपर जो आक्षेप किये जाते हैं, उनका यदि वे निराकरण न करें तो उनपरसे सर्वसाधारणका विश्वास उठ जाता है। यही नहीं बल्कि वे उस सम्राट्के मन्त्री हैं जो सम्राट् अन्याय या प्रमाद कभी कर नहीं सकते इस ख्यालसे उन्हें या तो यह सिद्ध करना चाहिए कि प्रतिनिधि सभा झूठी है या अपनी त्रुटियोंको ही स्वीकार कर लेना चाहिए, इनमेंसे यदि पहली बात हो तो प्रतिनिधि सभा ही भङ्ग कर दी जाती है* और सर्व-

---

* परन्तु यहाँ ध्यान रहे कि प्रतिनिधि सभा भङ्ग करके देशसे न्याय माँगना वैसा नहीं है जैसा कि इंग्लिस्तानमें। जापानमें दलबद्ध सरकार (पार्टी गवर्नमेंट) नहीं होती यद्यपि प्रतिनिधि सभामें सरकारके पक्षके और विपक्षके भी लोग होते हैं। सम्राट्के पास सरकारपर आक्षेप करनेमें यद्यपि सर्वसाधारणका साथ नहीं होता तो भी प्रतिनिधिसभा भङ्ग होनेपर जो दूसरी सभा संगठित होती है वह फिरसे वही काम नहीं करती। सरकारको भी सभा-भङ्गसे पाँच महीने तकका समय मिल जाता है (संघटनानुसार) जिस बीचमें वह प्रतिनिधिसभाकी रोकटोकसे स्वतंत्र रहकर काम कर सकती है और नयी प्रतिनिधिसभासे सामना करनेकी भी तैयारी कर लेती है। पर यदि सभा भङ्ग होनेपर सर्वसाधारणमें सरकारका घोर विरोध रहता है तो मन्त्रिगण पद त्याग करते हैं। ऐसे समय प्रिवीकौन्सिल उसपर बहुत दबाव डालती है।

साधारणको उस विषयमें निर्णय करनेका अधिकार दिया जाता है। यदि दूसरी बात हो तो सब मन्त्री या कुछ मन्त्री त्यागपत्र दे देते हैं और सर्वसाधारणसे क्षमा प्रार्थना कर कहते हैं कि हम लोग यथायोग्य शासन करने तथा सम्राट्को अनावश्यक चिन्तासे बचानेमें असमर्थ हैं।*

इस प्रकार राष्ट्रीयसभाको विशेषकर प्रतिनिधिपरिषद्को सम्राट्की सेवामें आवेदन करनेका जो अधिकार है वह सरकारपर दोषारोप करनेके काममें ही बहुत ठीक तरहसे आता है। संवत् १९४७के बाद बीस वर्षमें प्रतिनिधि सभाके अनुभवमें ७ बार सभा भङ्ग हुई है, जिनमें चार बार मन्त्रि-मण्डलपर प्रतिनिधिपरिषद्द्वारा दोषारोप ही कारण हुआ है। सरकारपर दोषारोप करनेकी जितनी मनोरञ्जक घटनाएँ हुई हैं, उनमें सबसे अधिक आश्चर्यजनक घटना संवत् १९६० में हुई जिसका परिणाम उसी वर्षके पौष (दिसम्बर १९०३ ई०) मासके प्रतिनिधि सभाके टूटनेमें हुआ। इस वार सम्राट्के पास जो आवेदनपत्र गया था, वह साधारण दोषारोपका पत्र नहीं था।† परिषद खोलनेके अवसरपर सम्राट्की

---

* जापानमें मन्त्रियोंकी जिम्मेदारी समष्टिगत नहीं होती। इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि कभी सन्त्री एकसाथ ही पदत्याग करें। कभी कभी अध्यक्ष मन्त्री और ऐसे विभाग मन्त्री, जिनपर दोषारोप हुए हों, पदत्याग करते हैं और सब मन्त्री पूर्ववत् ही काम करते हैं।

† यह अभिनन्दनपत्र सम्राट्को भेंट करनेके पूर्व जब प्रतिनिधि-सभामें अध्यक्ष कोनो हिरोनाकाने उसे पढ़कर सुनाया तो उस समय सभासदोंने उसके शब्दोंपर ध्यान नहीं दिया। यही समझ लिया कि मामूली अभिनन्दन पत्र है। इसमें राजनीति-की कोई बात नहीं और यह समझकर उसके अनुकूल अपना मत दे दिया। पीछे से जब सभासदोंको यह मालूम हुआ कि उस अभिनन्दनपत्रमें कुछ ऐसे भी शब्द थे। जिनका अभिप्राय मन्त्रिमण्डलपर दोषारोप करना था तब वे कर ही क्या सकते थे?

वक्तृताके उत्तरमें जो अभिनन्दनपत्र दिया जानेवाला था उसमें सभाके अध्यक्ष (स्पीकर) और उसके दलके नेताओंने बड़ी चालाकीसे सरकारपर दोष आरोपित किये थे। अबतक अभिनन्दनपत्रोंमें कोई राजनीतिक बात नहीं रहती थी क्योंकि ऐसे प्रसङ्ग केवल शिष्टाचारके होते हैं। परिषद्‌ने इस शिष्टाचारका उल्लङ्घन किया जिससे सरकार चिढ़ गई और प्रतिनिधिसभा भङ्ग हो गयी। दो बार इन दोषारोपक आवेदन पत्रोंसे मन्त्रिमण्डलको भी बदल जाना पड़ा है। इन आवेदन पत्रोंसे प्रतिनिधि-सभाका क्या लाभ होता है, इसका यह एक दृष्टान्तहै इसके अतिरिक्त परिषद्‌के नववें, चौदहवें, अठारहवें और बाईसवें अधिवेशनमें सभाने दोषारोपके आवेदनपत्र परिषद्‌में निश्चित कराने चाहे थे, पर मताधिक्यके विरोधसे निश्चित न हो सके।

आवेदनपत्र भेंट करनेका अधिकार केवल मन्त्रिमण्डलपर दोषारोपण करनेके सम्बन्धमें ही नहीं है। राष्ट्रीय सभाका अधिकार सम्राट्‌की अन्तर्निहित सत्ताका सहव्यापी है। अर्थात् राष्ट्रीयसभा उन सब विषयोंके सम्बन्धमें सम्राट्‌से आवेदन कर सकती है जो सम्राट्‌के अधिकारके अन्दर हैं। कभी राष्ट्रीय-सभाका अधिवेशन काल बढ़ानेके लिए भी इस अधिकारका उपयोग किया जाता है। क्योंकि राष्ट्रीय सभा स्वयं ही अपना अधिवेशन काल नहीं बढ़ा सकती। कभी राजकार्यमें नैतिक भाव बढ़ानेके लिए इसका उपयोग किया

सरकारको जब मालूम हुआ कि इस इस तरहका आवेदन पत्र उपस्थित किया जानेवाला है तो सरकारने प्रतिनिधि-सभासे उसपर पुनर्विचार करानेका प्रयत्न किया। पर ऐसा होना असम्भव देख सरकारने सम्राट्-परिवार-विभागसे कोनोको दरबारमें जानेसे रोक दिया और साथ ही प्रतिनिधि परिषद्‌को भङ्ग करनेकी आज्ञा दी।

जाता है क्योंकि इन आवेदनपत्रोंका सर्वसाधारणपर बहुत प्रभाव पड़ता है। शासन-पद्धति सम्बन्धी वादग्रस्त प्रश्न भी कभी कभी इन आवेदनपत्रोंद्वारा सम्राट्के सामने उपस्थित किये जाते हैं।

अब सम्राट्के पास निवेदन पत्र भेजनेके अधिकारका विचार रह गया। यह स्मरण रखिए कि इस समय इंग्लिस्तानकी पार्लमेंटमें जो व्यवस्थापनका कार्य होता है, उसका पूर्वरूप सम्राट्से प्रार्थना करना ही था। 'मध्य युगमें' परिषदस्थ सम्राट् ही शासन-संचालक थे, न्याय करने और विधि बनानेका अधिकार उनको ही था। आनसन् महाशय कहते हैं, कि "पहले प्रतिनिधि-सभाको व्यवस्थापन-कानून बनानेका कोई अधिकार नहीं था। परिषदस्थ राजा अपने कानून बतलाते और शासन संबन्धी परिवर्तन किया करते थे। कभी कभी वे मुख्य मुख्य सरदारोंसे परामर्श करके ही ये सब काम कर लेते थे और कामन्स अर्थात् प्रतिनिधि सभाकी बिलकुल उपेक्षा कर देते थे।......यदि कामन्स सभाके सभासदोंको कोई नया कानून बनानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई तो वे खुद कानून नहीं बनाते थे बल्कि उसके लिए प्रार्थना करते थे, राजा अपने परिषद्में बैठकर इन प्रार्थना पत्रोंको देखते और कानून बनाते थे।" इन प्रार्थना पत्रोंका रूप पीढ़ी दर पीढ़ी बदलता गया और वह प्रार्थनाका अधिकार सहकारी अधिकार हो गया और इसी अधिकारसे आगे बढ़ते बढ़ते पार्लमेंट अर्थात् प्रतिनिधि-सभा द्वारा व्यवस्थापन होनेकी पद्धति आविर्भूत हुई है।

सम्राट्के पास निवेदनपत्र भेजनेका परिषद्का अधिकार महत्वका है। खासकर इसलिए यह दोषारोप करनेके अधिकारका काम देता है। मन्त्रिमण्डलके स्वैर शासनका प्रति-

कार करनेवाली यह प्रबलशक्ति है। सम्राट्की सेवामें निवेदन-पत्र अथवा व्यवस्थापनसंबन्धी प्रार्थनापत्र उपस्थित करनेका अधिकार इसलिए महत्वका है कि इससे आवश्यक कानून बन सकते हैं।

इस निवेदनपत्रको हम अप्रत्यक्ष आवेदनपत्र कह सकते हैं, क्योंकि यह मन्त्रिमण्डलके द्वारा सम्राट्के पास जाता है। निवेदनपत्र भेजनेका उद्देश्य प्रायः सरकारको परामर्श या सूचना देना होता है। निवेदनपत्र लिखे तो होते हैं सम्राट्के नाम, पर अभिप्राय उनका सम्राट्की अपेक्षा सरकारसे ही अधिक होता है। प्रतिनिधिसभा बार बार इस अधिकारका उपयोग करती है और नये आवश्यक कानून बनानेकी ओर सरकारका ध्यान दिलाती है। चूँकि राष्ट्रीय सभाको स्वयं कानून बनानेका अधिकार है, इस कारण इस प्रकारसे सरकारका ध्यान नये कानून की आवश्यकतापर आकर्षण कराना व्यर्थका काम बढ़ाना है, तथापि जिन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है उनको देखते हुए यही सबसे सुगम और सुन्दर मार्ग है। जापानकी राष्ट्रीयसभाकी सामयिक स्थितिको देखते हुए प्रतिनिधि-सभासे कोई बिल पेश हो और वह बिना सरकारकी सहायताके कानून बन जाय इसकी सम्भावना बहुत कम है। इसलिए स्वयं कानूनका मसविदा तैय्यार करनेका कष्ट उठानेकी अपेक्षा नवीन कानूनके लिए सरकारसे प्रार्थना करना उसीके द्वारा बिल तैयार कराना और उसे प्रतिनिधि सभामें उपस्थित कराना ही कानून बनवानेका सबसे लंबा पर वास्तवमें देखनेमें सबसे छोटा मार्ग है, जबतक कि सभा मन्त्रिमण्डलके अधीन है और मन्त्रिमण्डल उसका उत्तरदायी नहीं है।

प्रार्थनापत्र स्वीकार करना, सरकारसे प्रश्न करना, सम्राट्-

की सेवामें आवेदन तथा निवेदनपत्र भेजना इत्यादि अधिकारोंके अतिरिक्त और भी कई छोटे मोटे अधिकार परिषद्को हैं।* परन्तु सभी लोकतन्त्र-शासन-पद्धतियोंमें जो अधिकार होते हैं ये वे ही हैं, कोई नये नहीं, इसलिए उनके सम्बन्धमें कुछ न लिखकर अब हम परिषद्की दोनों सभाओंके परस्पर सम्बन्ध और अधिकारका ही विचार करेंगे।

शासन-सम्बन्धी विधान तथा उसके कोड (नियमों) से परिषद्को धर्मविधान-सम्बन्धी अर्थात् नये कानून बनानेके जो कुछ अधिकार प्राप्त हैं वे दोनों परिषदोंको समान रूपसे मिले हैं, अन्तर केवल यही है कि आगामी वर्षकी आय-व्यय-गणना पहले प्रतिनिधि परिषदमें करनी पड़ती है। इसलिए दोनों सभाएँ समकक्ष समझी जाती हैं, कोई किसीसे ऊँची या नीची नहीं समझी जाती, धर्मविधानमें दोनों समान अधिकारी और सहकारी समझी जाती हैं। परन्तु वस्तुतः यह तो तब सम्भव था, जब दोनों सभाओंका सङ्गठन एक ही ढङ्गसे हुआ होता और दोनोंके राजनीतिक आचार विचार एकसे होते। परन्तु सरदारपरिषद् और प्रतिनिधिपरिषद्की रचना परस्पर बिलकुल भिन्न है। दोनोंके समाज अलग हैं और स्वार्थ (हेतु) भी अलग अलग हैं। इसलिए मेलकी अपेक्षा विरोध ही अधिक है और विरोधका परिणाम यही हुआ करता है कि दोनोंका परस्पर व्यवहार ही बन्द रहे या एक दल दूसरे दलके सरपर चढ़ बैठे।

जहाँ धर्मविधानके दो अङ्ग होते हैं, वहाँ एक परिषद्

---

* गिरफ़ार न हो सकनेके अधिकार, वाद-विवादमें भाषणकी स्वतन्त्रता, परिषद्की पुष्टिके लिए यथायोग्य प्रबन्ध कर सकना, अपना कार्यक्रम नियमित कर सकना अपना स्वत्व कायम रखनेके लिए दण्ड दे सकना और निकाल बाहर कर सकना इत्यादि हैं।

दूसरी परिषद्से, सब बातोंमें नहीं तो कुछमें तो अवश्य ही, बढ़कर होती है।

उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी शासन-पद्धतिके सम्बन्धमें अध्यापक डायसी कहते हैं—"आधुनिक शासन-सम्बन्धी नीतिका यह बहुत ही उत्तम सिद्धान्त है कि धर्मविधानके कार्यमें लॉर्ड-सभाको अन्तमें कामन्स सभाका निर्णय ही स्वीकार कर लेना चाहिए।" सं० १७२८में लॉर्डोंने अर्थसम्बन्धी मामलेमें कामन्स सभाका ही सम्पूर्ण प्राधान्य स्वीकार कर लिया था और फिर सं० १९१७ में कागज़-करवाले झगड़ेमें लॉर्डोंने हार मान ली और वे कागज़पर कर नहीं लगा सके। संयुक्त राष्ट्रीय शासन-पद्धतिने तो प्रतिनिधि सभाहीको आयवृद्धिके बिल बनानेका अधिकार दे रक्खा है, और सन्धि करने तथा कुछ उच्च-पदस्थ कर्मचारियोंको नियुक्त करनेका अधिकार राष्ट्रपति और शिष्टसभा अर्थात् प्रेसिडेंट और सिनेटको दिया है। परन्तु वास्तवमें शासनपद्धतिके रचना-वैचित्र्यके कारण प्रतिनिधि-सभाका बिना विचार किये राष्ट्रपति और शिष्ट-सभा (प्रधान न्यायालय) अर्थात् प्रेसिडेंट और सिनेट ही सुप्रीम कोर्टके ९ न्यायाधीशोंमेंसे ५ की सहायतासे समस्त राज्यशासन स्वयं कर सकते हैं।

संवत् १९३२ का फ्रान्सका शासनविधान जापानके वर्तमान शासनविधानसे कई अंगोंमें मिलता है। यथा प्रत्येक क़ानूनपर राष्ट्रीय सभा, प्रतिनिधि परिषद् और सरदारपरिषद्की स्वीकृति होनी चाहिए। दोनों सभाएँ अलग क़ानूनके प्रस्ताव कर सकती हैं। पर वार्षिक आय-व्ययका प्रस्ताव पहले प्रतिनिधि-सभामें उपस्थित किया जायगा।" पर जब हम दोनों देशोंके वास्तविक शासनशैलीपर विचार करते हैं तो विधानों-

के शब्दोंकी समानता होते हुए भी कार्यप्रणालीमें बहुत अन्तर पाते हैं।

इस समय फ्रान्सकी कार्यप्रणाली ऐसी है कि प्रतिनिधि-ओंका (डेप्युटियोंका) सभाके ही वार्षिक आयव्ययके चिट्ठेपर एकमात्र पूरा अधिकार है, और इस तरह मन्त्रिमण्डल उसी-के सामने उत्तरदायी है। यद्यपि विधानानुसार मन्त्रिगण दोनों परिषदोंके सम्मुख उत्तरदायी है फिर भी फ्रान्सकी दोनों सभाओंका उद्गम एक ही स्थानसे होता है। अर्थात् सार्वजनिक निर्वाचन—एकका निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है और दूसरेका अप्रत्यक्ष। इसलिए हम कह सकते हैं कि फ्रान्समें राज्यसत्ता-का चरम अधिकार लोगोंके ही हाथमें होता है।

अब शासनविधानके शब्दोंको छोड़कर राष्ट्रीय-परिषद्की दोनों सभाओंके परस्पर सम्बन्ध और अधिकारका विचार करें। इसके लिए हम समझते हैं कि शासनपद्धतिके निर्मा-ताओंके इरादेका पहले विचार करना सबसे अच्छा होगा।

सरदार-परिषद् बनानेमें निर्माताओंका मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रतिनिधि-सभाके राजनीतिक दलोंका उद्योग बढ़ने न पावे। उनकी यह इच्छा थी कि "एक देशीय आन्दोलनके प्रभाव" और प्रतिनिधि-सभाके "बहुसंख्यक सभासदोंके यथेच्छाचार"के नीचे मन्त्रिमण्डल दब न जाय। उन्होंने यह सोचा कि यह सरदार-परिषद् जिसमें कि "समाजके बड़े बड़े लोग" ही होंगे, प्रतिनिधि-सभाकी इस भयंकर आँधीको रोकेगी और उसके आक्रमणसे सरकारकी रक्षा करेगी। इतो कहते हैं, "यदि सरदार-परिषद् अपना काम ठीक ठीक करे तो उससे राजनीतिक दलोंमें समानता रहने, बिना समझे बूझे व्यर्थका वादविवाद (प्रतिनिधि सभामें) करनेकी कुप्रवृत्ति

रोकने और शासक और शासितमें मेल बनाये रखनेमें इसका बहुत ही अच्छा उपयोग होगा।"

परन्तु दोनों सभाओंमें राजनीतिक अधिकारका बराबर होना व्यवस्थापन कार्यमें पूर्ण रुकावट ही समझना चाहिए। निर्माताओंकी यह इच्छा कदापि नहीं थी। वे चाहते थे कि प्रतिनिधि सभामें यदि सुसङ्गठित राजनीतिक दल खड़े हो जायँ तो सरदार-परिषद्के द्वारा उनका दमन हो और राष्ट्रीय-सभापर सरकारका पूरा अधिकार रहे। पर प्रश्न यह है कि सरदार-परिषद्से यह काम निकलता भी है ?

सरदार-परिषदके ३६८ सभासदोंमेंसे २०१ परम्परागत अधिकारी और सरदार-प्रतिनिधि हैं, १२२ सम्राट्के मनोनीत हैं और ४५ अधिकतम कर देनेवालोंके प्रतिनिधि हैं। यह कहनेकी शायद कोई आवश्यकता नहीं है कि ये २०७ सरदार अपना बड़प्पन और अपनी राजनीतिक मर्यादा बनाये रखना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और यह नहीं चाहते कि सर्वसाधारणको राजकार्यमें कुछ विशेष अधिकार न दिये जायँ। यदि किसी विशेष अवसरपर देशभक्तिका ही उनके हृदयमें सञ्चार हो जाय तो बात दूसरी है। ये सरदार जब एक हो जाते हैं तो सरदार-परिषद्में इनका ही मताधिक्य होता है। इनके बाद संख्यामें सम्राट्के मनोनीत सभासदोंका नम्बर है। ये प्रायः सरकारी कर्मचारी, नीम सरकारी कर्मचारी या भूतपूर्व सरकारी कर्मचारी होते हैं और उनके भाव और विचार सरकारके ही होते हैं। सरकारकी बदौलत ही वे सरदार-परिषद्के सदस्य होते हैं। कानूनके शब्दानुसार तो सम्राट् विद्या या विशेष राज्यसेवा करनेके कारण इन्हें मनोनीत करते हैं, परन्तु यह कार्य उस मन्त्रिमण्डलके परामर्शके अनुसार होता

है जो सर्वसाधारणके सामने उत्तरदायी नहीं। ये मनोनीत सभासद जीवनभर सभासद रहते हैं और सरदार-परिषद्‌में ये ही सबसे योग्य होनेके कारण अपना प्रभुत्व जमाये रहते हैं।

स्वभावतः ये मनोनीत सभासद और सरदार अपनी सभाको श्रेष्ठ समझते हुए निचली सभाकी एक बात भी मान लेना नहीं चाहते। इसका एक बड़ा ही रोचक उदाहरण यह है कि २२ फाल्गुन संवत् १९५८ में (तारीख ५ मार्च १९०२) महाशय नेमोतोने प्रतिनिधि-परिषद्‌में एक व्याख्यान देकर सरदार परिषद्‌के सुधारकी आवश्यकता बतलायी। कई मनोनीत सभासदोंकी उन्होंने निन्दाकी और उनके आजीवन सभासद रहनेकी हालतपर बहुत ही शोक प्रकट किया। सरदारोंको बहुत ही बुरा लगा और उन्होंने नेमोतोके व्याख्यानपर भर्त्सनासूचक प्रस्ताव पास किया और कहा कि यह सरदार-परिषद्‌का अपमान हुआ तथा ऐसे व्याख्यानका किसी व्यवस्थापक सभामें होना न्याय और नीतिके विरुद्ध है।*

सरदार-परिषद्‌के अन्य ४५ सभासद अधिकतम कर देनेवाले होते हैं। यह सरदारोंकी कुल संख्याका आठवाँ हिस्सा है। ये लोग रुपयेके धनी होते हैं, विद्याके नहीं इसलिए इनका प्रभाव भी अन्य सभासदोंकी अपेक्षा बहुत ही कम होता है।

सरदार-परिषद्‌के इस वर्णनसे उसके राजनैतिक विचारों और प्रवृत्तियोंका निर्देश हो जाता है। सरदार-परिषद् मन्त्रि-

---

* प्रतिनिधि-सभाने सरदार-सभाके इस प्रस्तावकी कोई परवा नहीं की। परन्तु प्रतिनिधि-सभाके अध्यक्षने सभाको एक (मेमोरण्डम) स्मृतिपत्र पढ़ सुनाया जिसमें उन्होंने लिखा था कि दोनों सभाओंको चाहिए कि परस्पर सभ्यताका व्यवहार करें, अब रही सभाके अधिकारोंकी बात, सो प्रत्येक सभाको अपने अपने स्थानपर पूरा अधिकार है; किसी सभाको दूसरी सभाके भाषणों या कार्योंमें दखल देनेका कोई अधिकार नहीं है।

मण्डल या सरकारका ही प्रायः पक्ष लेती है, मन्त्रिमण्डलमें कोई हों, जबतक वे अधिकारीवर्गके परम्परा प्राप्त प्राधान्यको मानते हैं और प्रतिनिधि-परिषद्के राजनीतिक दलोंसे अलग रहते हैं, तबतक सरदार-परिषद् उसीका पक्ष करेगी।* परन्तु यदि मन्त्रिमण्डलके सभासद प्रतिनिधि-सभाके किसी राजनीतिक दलसे जा मिलें तो सरदार-परिषद् सरकारका विरोध करने लग जाती है, संवत् १६५७ में इन्होंने जब मन्त्रिमण्डलकी रचनाका पुराना ख्याल छोड़कर नवसङ्गठित पुराने राजनीतिक दलका नेतृत्व ग्रहण किया और कुछ कुछ दलवद्धताके सिद्धान्तपर मन्त्रिमण्डल बनाया तब एकाएक सरदार-परिषद्के सब दल एक हो गये और उन्होंने मन्त्रिमण्डलका विरोध करनेपर कमर कसी, क्योंकि एक तो यह दलबद्ध सरकार (पार्टी गवर्नमेंट) हुई, और दूसरे इतोने अपना पहला ढङ्ग बदल दिया और राजनीतिक दलोंके वशमें आ गये। सरदार-परिषद्ने इस दृढ़ताके साथ सरकारका विरोध किया कि संवत् १६५८ का वार्षिक आयव्ययका चिट्ठा पास करानेके लिए इतोने लाख सिर पटका पर वह पास न हो सका, आखिर इतोको झगड़ा मिटानेके लिए सम्राट्के आज्ञा-पत्रसे काम लेना पड़ा।

परन्तु जबतक मन्त्रिमण्डल अधिकारीवर्गका पक्षपाती और अनुत्तरदायी शासक बना रहता है तबतक सरदार-सभामें उसके पक्षके लोगोंकी कमी नहीं होती। प्रतिनिधि-सभासे कोई बिल पास हुआ और सरकार चाहती है उसमें अमुक

* कामन्स-सभाके मुकाबले लॉर्ड-सभाको बहुत ही थोड़ा अधिकार है। परन्तु जापानमें सरदार-सभा और प्रतिनिधि-सभा दोनोंके अधिकार (संघटनाके अनुसार) बराबर हैं।

परिवर्तन हो या वह बिल रद्द हो जाय तो सरदार-परिषद् उस बिलमें संशोधन करती है या उसे विचाराधीन रखकर उसका जीवन नष्ट कर देती है। कई गलाघोंटू क़ानून, यथा संवत् १९३९ का सभा-समिति-विधान; १९४० का प्रेस-विधान और १९४४ का शान्तिरक्षा-विधान, शासन-विधानके पूर्व सर्व-साधारणकी राजनीतिक क्रांतिके प्रयत्नोंको रोकनेके लिए बनाये गये थे, शासनविधानके बाद भी कई वर्षोंतक बने रहे, क्योंकि प्रतिनिधि-परिषद्के करने हीसे क्या होता है, यहाँ तो सरकार और सरदार-परिषद् मिली हुई थी। कई अधिवेशनोंमें प्रतिनिधि-परिषद्में कभी बहुमतसे और कभी एक-मतसे इन क़ानूनोंके रद्द करने या इनमें संशोधन करनेवाले बिल पास किये। परन्तु सरदार-सभाने उन्हें हवामें उड़ा दिया। इसी सरदार-परिषद्को यह यश है कि संवत् १९५५ तक शान्तिरक्षाका क़ानून रद्द न हो सका। भूमि-कर कम करने, भूमिका मूल्य कम करने, क़ानून संशोधित करने तथा निर्वाचन पद्धतिको सुधारनेके सम्बन्धमें इन सभाओंमें (यथाक्रम प्रथम और तृतीय अधिवेशनमें, चतुर्थ और पञ्चम अधिवेशनमें, तथा अष्टम, द्वादश, त्रयोदश और चतुर्दश अधि-वेशनमें) परस्पर खूब कलह और वादविवाद हुआ। इसकलह और वादविवादसे भी सरकार और सरदार-परिषद्का प्रति-निधि-परिषद्से कैसा व्यवहार है, यह स्पष्ट प्रकट होता है।†

† भूमि तथा कृषकोंका हिताहित देखनेवाले सभासद प्रतिनिधि सभाहीमें विशेष होते हैं, क्योंकि जापानमें इंग्लैंडके समान जमीनपर सरदारोंका ही अधिकार नही है। इसलिए जमीनका लगान घटानेके सम्बन्धमें प्रतिनिधिसभाके सभासद ही विशेष अनुकूल रहते हैं और सरदार-सभा तथा सरकार प्रतिकूल रहते हैं। क्योंकि जमीनके लगानसे ही सरकारको सबसे अधिक आमदनी होती है।

विशेषकर ऐसे अवसरपर जब कि प्रतिनिधि-सभा वार्षिक आय व्ययके चिट्ठेपर व्ययके अङ्क कम कर देती और सरकारको तंग करती है, सरदार-परिषद् सरकारकी बहुत सहायता कर सकती है, क्योंकि उसे भी इस विषयमें परिषद्के बराबर ही अधिकार हैं। प्रायः सरदार-परिषद् पहलेके अङ्क ही पुनः उद्धृत कर देती है और पुनर्विचारके लिए प्रतिनिधि-परिषद्के पास भेज देती है। प्रतिनिधि-परिषद्को सरदार-परिषद्की यह दस्तन्दाज़ी पसन्द नहीं आती। तब प्रतिनिधि-परिषद् दोनों सभाओंको संयुक्त अधिवेशन करानेके लिए कहती है। इस अधिवेशनमें दोनों सभाओंके समसंख्यक प्रतिनिधि होते हैं। शायद यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ऐसे अधिवेशनके दोनों सभाओंके प्रतिनिधि अपना अपना पक्ष समर्थन करनेका यथाशक्ति यत्न करते हैं। परन्तु अन्तमें प्रतिनिधि परिषद्के सभासद् बड़े सङ्कटमें पड़ते हैं, उन्हें या तो विरुद्ध पक्षकी कुछ बातें स्वीकार कर लेनी पड़ती हैं या प्रतिनिधि परिषद्के विसर्जनके लिए तैयार होना पड़ता है। सरदार परिषद्को इस प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना कभी नहीं करना पड़ता। इससे यह स्पष्ट है कि बराबरीका झगड़ा नहीं है और प्रतिनिधि परिषद्को ही परास्त होना पड़ता है।

कहनेको तो सरदार-परिषद् प्रतिनिधि-परिषद्से अधिक दृढ़ बनायी गयी है और उसको सुविधाएँ भी बहुत अधिक हैं। यदि सरदार-परिषद्को सरकारका साहाय्य हो या सरकारको सरदार-परिषद्का सहारा हो तो उनमेंसे कोई भी प्रतिनिधि-परिषद्पर अपना प्रभुत्व जमा सकता है, पर मन्त्रिमण्डल चाहे कि सरदार परिषद्को अपने वशमें कर ले तो प्रतिनिधि- परिषद्का साथ होते हुए भी उसके लिए यह ज़रा

टेढ़ी खीर ही है! कैसा ही महत्वपूर्ण या आवश्यक कानून हो, सरदार-परिषद् उसे पास होनेसे रोक देती है, और तब भी सभाको कोई भङ्ग नहीं कर सकता। यह सच है कि मन्त्रि-मण्डल सम्राट्से कहकर सामान्य संख्याके अतिरिक्त कई मनोनीत सभासद बनाकर सरदार परिषद्में अपने अनुकूल मतोंकी संख्या बढ़ा सकता है, पर विसर्जनका सा सीधा-सादा काम यह नहीं है और न सुगमतासे हो ही सकता है।

तथापि सरदार-परिषद्को एक बातकी बड़ी असुविधा यही है कि वह सर्वसाधारणसे बहुत दूर है। चाहे शासन-विधानका सिद्धान्त प्रजासत्ताक हो या राजसत्ताक, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि राष्ट्रके राजनीतिक उत्कर्षका अन्तिम साधन सर्वसाधारणमें ही है। शासनविधानने सरदार-परिषद्को प्रतिनिधि-परिषद्के बराबर अधिकार दिया और आसन उससे भी ऊँचा दिया सही, पर सरदार-परिषद् लोकप्रतिनिधियोंकी परिषद् नहीं है, और उसकी तो यही बड़ी भारी दुर्बलता है। दिन दिन प्रतिनिधि-परिषद्हीपर लोगोंका अधिक अधिक आक्रमण हो रहा है। परन्तु प्रतिनिधि-परिषद्के लिए यह बड़ा ही कठिन है कि वह सरदार-परिषद्पर अपना प्राधान्य और गौरव जमा ले क्योंकि इस समय तो अधिकारीचक्र और सरदार-परिषद् दोनों एक दूसरेका बराबर साथ देते हैं। जबतक यह कार्य न हो लेगा तबतक शासनपद्धतिका शान्तिपूर्वक चलना असम्भव है।

❀ ❀ ❀ ❀

चतुर्थ परिच्छेद

निर्वाचन-पद्धति

शासनपद्धतिके निर्माण करनेवालोंकी बुद्धिमत्तासे हो या केवल देखा देखी ही हो, जापानमें निर्वाचनका विधान शासन विधानसे स्वतन्त्र रक्खा गया है यह बड़ी सौभाग्य-की बात है। क्योंकि शासनविधानमें परिवर्तन करना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है । और यद्यपि नूतन प्रकारकी शासनप्रणालियोंका एक बड़ा आवश्यक अंश निर्वाचनकी शैली है तथापि आवश्यकतानुसार इसमें सदा परिवर्तन करना ही पड़ता है। इस कारण इस सम्बन्धमें जो कायदे कानून हों उनको अपरिवर्तनीय शासनविधानसे अलग ही करना उचित है और जापानमें ऐसा ही किया गया है।

संवत् १६२४से अंगरेजी सङ्घटनमें निर्वाचनप्रणालीके परिवर्तनसे अधिकारकी तुल्य बलता कैसे नष्ट हुई, इस सम्बन्धमें आंग्लदेशकी शासनपद्धतिका उदाहरण लेना शिक्षा-प्रद होगा। संवत् १६२४ के शासन प्रकारसे यदि तुलनाकी जावे तो आज बहुत अन्तर मालूम पड़ता है। परन्तु शासन-शैली जिन विधानोंपर स्थित है—उनमें कुछ भी अन्तर नहीं हुआ है। अन्तर केवल निर्वाचनकी शैलीमें हुआ है। निर्वा-चकोंकी संख्या दिनपर दिन बढ़नेके कारण शासन प्रकारहीमें अन्तर मालूम पड़ने लगा है। कहाँ पहले यह कहा जाता था कि कामन्स सभा मन्त्रियोंको चुनती है और उनपर अपना अधिकार रखती है और सभामें बहस करके सरकारके काम-

पर प्रभाव डालती है।* कहाँ अब यह हालत है कि निर्वाचक गण वास्तवमें मन्त्रियोंको चुनते हैं और मन्त्री-मण्डल यह निश्चय करता है कि किन बातोंपर और कहाँतक कामन्स सभा बहस करे।† इस समय वहाँपर निर्वाचन-विधानोंके कारण निर्वाचकोंकी संख्या बहुत बढ़ गई है। अब लोग इस कारण किसीके लिए अपना मत नहीं देते कि हमसे यह अधिक योग्य है और अच्छी राय देकर सरकारी काममें सहायता देगा। अब लोग यह समझकर किसीके लिए मत देते हैं कि यह अमुक मन्त्रीका साथ देगा और अमुक अमुक विधानोंके पक्षमें अपना मत देगा क्योंकि वे ही अपने दलको प्रिय हैं।

शासनपद्धतिके निर्म्मातात्र्योंने सं० १९४६ में निर्वाचन कानूनका मसविदा तय्यार किया और उसी वर्ष वह कानून बना। नवीन शासनपद्धतिकी घोषणा भी उसी वर्ष हुई है। जब निर्वाचन कानून जारी हुआ तब उसके दोष दृष्टिगोचर होने लगे। निर्वाचक तथा निर्वाचित दोनोंकी हैसियत इतनी बड़ी रक्खी गयी थी कि बहुतसे राजनीतिज्ञ इस कानूनसे बहुत ही असन्तुष्ट हुए। तथापि कानूनका सुधार होनेके पूर्व छः साधारण निर्वाचन हुए थे। सं० १९५७ में यह कानून संशोधित किया गया और उसी संशोधित कानूनके अनुसार इस समय जापानमें निर्वाचनका कार्य होता है।

सं० १९४६ के पुराने कानूनके अनुसार एक एक सभासदको चुननेवाले छोटे छोटे निर्वाचनक्षेत्र बनाये गये थे। प्रत्येक (फू या फेन) नगर कई निर्वाचकक्षेत्रोंमें बँट गया था,

* वेजहाट † अनसन।

और कुछ बड़े क्षेत्रोंको छोड़कर इन सबसे एक एक सभासद चुना जाता था। क्षेत्रोंमें वैचित्र्य-रचनाके कारण और विभाग करना असम्भव था। उन क्षेत्रोंको दो सभासद चुननेका अधिकार दिया गया था।

प्रतिनिधि-सभाके सभासदोंकी संख्या ३०० रक्खी गयीथी और प्रथम निर्वाचनके समय २७ असाढ़ संवत् १९४७में (ता० १ जुलाई १८९०) ४५०००० और छठे निर्वाचनके समय १७ श्रावण संवत् १९५५ में (१ अगस्त १८९८) ५०१४५७ निर्वाचक थे। यही सं० १९५५ वाला निर्वाचन पुराने कानूनके कालका अन्तिम निर्वाचन था! उस समय जापानकी जन-संख्या ४ करोड़ २० लाख थी। प्रतिनिधिका कार्यकाल चार वर्षका था।

पुराने कानूनके अनुसार निर्वाचक होनेके लिए ये शर्तें थीं। एक तो निर्वाचक पुरुष (स्त्री नहीं) होना चाहिए, दूसरे वयस् २५ वर्षसे कम न हो (पागल, जड़बुद्धि, अपराधी, बागी, दिवालिया, या फौजी सिपाही न हो), निर्वाचन-क्षेत्रमें कमसे कम वह एक वर्ष रह चुका हो और निर्वाचकोंकी फेहरिस्त बननेके दिनके पूर्ववर्षमें कमसे कम १५ येन (लगभग २२॥ रु०) सरकारको वार्षिक कर दे चुका हो। यह फेहरिस्त स्थानिक सरकारद्वारा श्रावण मासमें बनायी जाती थी।

मेम्बरीके उम्मेदवारोंके लिए भी ये ही शर्त्तें थीं, केवल वयस् में इतना अन्तर था कि २५ के बदले इनका वयस् ३०के ऊपर हो।

इस निर्वाचनकानूनमें सबसे विचित्र बात, जिसे जानकर पाश्चात्य देशवासियोंको कुतूहल होगा यह है कि शिन्तो या बौद्ध पुरोहित, ईसाई पादरी और धर्मोपदेशक उम्मेदवार नहीं

हो सकते थे। इसका कारण यह था कि राजकाजमें धार्मिक झगड़े न उपस्थित हों। सं० १९५७ के संशोधित कानूनमें भी यह शर्त रक्खी गयी है। और इसके अनुसार प्राथमिक शालाओंके शिक्षक और सरकारका काम ठेकेपर करनेवाले ठेकेदार भी उम्मेदवार नहीं हो सकते।

पुरानी निर्वाचन-पद्धतिमें निर्वाचन क्षेत्रोंमें मत देनेवालों-का बेहिसाब बँटवारा, निर्वाचकोंकी हैसियतका परिणाम, निर्वाचनक्षेत्रोंके विभागोंकी सङ्कीर्णता, उम्मेद्वारोंकी हैसियत और मुकामकी शर्त्त और प्रकट वोट देनेकी पद्धति इत्यादि मुख्य दोष थे।

मालूम होता है कि शासनपद्धतिके निर्माताओंको यह ठीक ठीक अन्दाज नहीं था कि निर्वाचनपद्धतिका शासनपद्धतिकी कार्यप्रणालीपर क्या परिणाम होता है। उन्होंने पाश्चात्य देशोंकी देखादेखी एक निर्वाचन-कानून बना डाला। निर्वा-चकों और निर्वाचितोंका विभाग तथा उनकी योग्यताके संबन्धमें विचारसे काम नहीं लिया गया। उन्होंने निर्वाचकों और निर्वाचितोंके लिए यह १५ येन (लगभग २२५ रु०) वार्षिक करकी शर्त्त रख दी और यह विचार नहीं किया कि ऐसा करनेसे किन लोगोंको अधिक वोट मिलेंगे और किनको कम। उन्होंने अपना सीधा हिसाब सामने रक्खा और प्रत्येक नगरके निर्वाचित क्षेत्र मर्यादित किये और उन्हें एक लाख बीस हजार मनुष्योंके पीछे एक प्रतिनिधिके हिसाबसे एक या दो प्रति-निधि चुननेका अधिकार दे दिया। उन्होंने स्थानिक प्रभेद तथा लोगोंके मानसंभ्रम और योग्यताका सूक्ष्म विचार नहीं किया। जिन प्रदेशोंकी जनसंख्या एक लाखसे दो लाखतक

थी उन्हें एक और जिनकी २ से ३ लाख थी, उन्हें दो सभासद चुननेका अधिकार दिया गया।

परिणाम यह हुआ कि कहीं केवल ५२ या ५३ मतदाता ही सभासदको निर्वाचित करते थे और कहीं ४३०० से भी अधिक मतदाता होते थे, और दोनोंके लिए प्रतिनिधि-सभामें एक ही एक सभासद चुननेका अधिकार था। इस बेहिसाब बँटवारेके कारण प्रायः ऐसा होता था कि अल्पसंख्यक निर्वाचकोंसे ही अधिक सभासद आते थे, और राजनीतिक दलोंके भिन्न भिन्न स्थानोंमें अनेक मत होते हुए भी उनका एक भी सभासद निर्वाचित न होने पाता था। उदाहरणार्थ, प्रथमही अधिवेशनमें कावागासे प्रागतिक (गि-इन-शिङ-काजिओ) दलका एक ही आदमी चुना गया जिसके १२४७ मत थे और जिस उदारवादी (जियू-कुराबू) दलके ११३० मत थे, उसके तीन आदमी चुने गये। येहिमे प्रदेशमें प्रागतिक दलके ३५४२ मतों पर दो आदमी चुने गये। और उदारमतवादियोंके ३२६७ मतोंपर ६ आदमी चुने गये। दूसरे निर्वाचन- में नागासाकीमें ८१७मतोंपर पुनराष्टोलक (रिफ्रक्शनिस्ट, चिकओ-को ओकाई) दलके पाँच आदमी चुने गये और उदारमतवादियोंके (यायोइ-क्लब) १३२१ मतोंपर नारामें दो ही आदमी निर्वाचित हुए, इत्यादि। छः अधिवेशनोंमेंसे ऐसे और कितने ही दृष्टान्त दिये जासकते हैं।

दूसरा दोष पुरानी पद्धतिका यह था कि हैसियतकी शर्त लगी रहनेके कारण भिन्न भिन्न कक्षाके लोगोंमें प्रतिनिधि-निर्वाचनका अधिकार यथोचित प्रकारसे विभक्त न हो सका था। सं० १९४६ में (जिस वर्ष निर्वाचनका कानून बना) सरकारकी जितनी आय हुई थी उसका दो तिहाई हिस्सा ज़मीन

की लगानसे वसूल हुआ था। परन्तु व्यवस्थापकोंने इस बातका विचार नहीं किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि निर्वाचकोंमें भूमि स्वत्वाधिकारोंकी संख्या ही प्रधान हो गयी। इसके अतिरिक्त म्युनिसिपेलिटियोंका (टोकियो, क्योटो और ओसाकाको छोड़कर) स्वतन्त्र निर्वाचन क्षेत्र कोई न होनेके कारण ग्रामवासी निर्वाचकोंके आगे नगरवासी निर्वाचकोंको हार ही जाना पड़ता था। फलतः प्रतिनिधिसभामें भूमि-स्वत्व और भूमिस्वत्वाधिकारियोंके सभासद ही अधिक होते थे और शिल्प तथा व्यापार-वाणिज्यके प्रतिनिधि बहुत ही कम। सं० १६५७ में कुमामोतोके वणिक्-मण्डलीमें व्याख्यान देते हुए उस समयके प्रतिनिधि सभाके मुख्य मन्त्री महाशय हायाशिदाने कहा था कि प्रतिनिधि सभाके ३०० सभासदोंमें वणिक्वर्गके प्रतिनिधि केवल १७ हैं।

पुराने क़ानूनका एक और दोष यह था कि बहुतसे लोग जो बड़ी योग्यताके साथ प्रतिनिधिका कर्तव्य कर सकते थे, इस क़ानूनके कारण निर्वाचित नहीं हो सकते थे, १५ येन वार्षिक कर तथा एक वर्षतक स्थानविशेषमें निवासकी जो शर्त थी उससे बहुतसे योग्य पुरुष प्रतिनिधित्वके उम्मेदवार न हो सके। जापानमें ऐसे बहुत लोग हैं, जो बुद्धिमान् और सामर्थ्यवान् होते हुए भी दरिद्रावस्थामें पड़े हुए हैं। जापान-में केवल धनी ही शिक्षित और सभ्य नहीं होते। वहाँ विद्या-का धनसे अधिक आदर है। अस्तु। उस समय बहुतसे बुद्धिमान् राजनीतिक सामुराइयोंमें थे जोकि पहले क्षत्रियका ही कार्य किया करते थे। तालुकेदारोंके प्राधान्य कालमें सामु-राई अपने मालिकके आश्रयमें रहकर उनसे वार्षिक वृत्ति पाते थे। और उन्हें धन बटोरनेकी चिन्ता कभी न होती थी।

बहुतसे निर्धन ही थे और बहुत थोड़े ऐसे थे जिनके पास ज़मीन जायदाद होगी। इसलिए शोगून शासनके नष्ट होनेपर सामुराइयोंको वारवार स्थान बदलना पड़ता था। इस प्रकार स्थायी निवास न रहनेके कारण बड़े बड़े कुशल राजनीतिज्ञ उम्मेद्वार नहीं हो सकते थे।

निर्वाचनक्षेत्रके सङ्कीर्ण विभागोंके कारण निर्वाचनमें पक्ष-भेदकी मात्रा अधिक होती थी। स्थानिक अधिकारियों और बड़े बड़े ज़मींदारोंके सामने विद्वान् और योग्य पुरुषोंको प्रायः हार जाना पड़ता था, क्योंकि गाँवों और कसबोंमें अधिका-रियों और ज़मींदारोंका ही प्राधान्य होता है। इसके अतिरिक्त दो दो सभासदोंके एक साथ निर्वाचित करनेकी विधि होनेके कारण प्रायः बहुत ही अयोग्य सभासद भी चुने जाते थे, क्योंकि निर्वाचकगण योग्य सभासदोंके साथ इनके भी नाम एक ही पर्चेपर लिख देते थे।

पुरानी पद्धतिमें शिकायतकी एक बात यह भी थी कि निर्वाचक गुप्तरूपसे अपना मत नहीं दे सकते थे, क्योंकि निर्वाचन अध्यक्षोंके सामने ही उन्हें हस्ताक्षर करना पड़ता था और इस प्रकार मत पहले ही प्रकाशित हो जाते थे।

वालास महाशयने बेनथमके सुख दुःखके उपयोगितावाद तथा मिलके बौद्धिक चरित्रवादकी दृष्टिसे गुप्त और प्रकट मतदान पद्धतिके गुणदोषोंकी बहुत ही योग्यताके साथ आलो-चना की है और यह परिणाम निकाला है कि, प्रत्यक्ष भय दिख-लानेके अतिरिक्त, मतसंग्रह करनेकी आवाज़, निर्वाचनेच्छु-विशेषके मित्रोंकी उत्तेजना, उसके विरोधियोंके चेहरोंपर जीतकी झलक और स्थानिक अधिकारियोंकी अप्रसन्नताके अस्पष्ट सङ्केत, इन सबके सामने मनुष्यकी बुद्धि बेचारी

विमूढ़ हो जाती है।" वास्तवमें, जापानको भी उस बातका अनुभव हो चुका है कि प्रकट मत देनेकी पद्धतिसे मत दाताओंका मत अस्थिर रहता है, मत प्रार्थीके शब्द, कर्त्तव्यका स्मरण, स्थानीय रईसोंका रोबदाब, अफसरोंके मूक सङ्केत और मतप्रार्थीका भय, ये सब ऐसी बातें हैं जिनके होते हुए मत देनेवाला मनुष्य अपने अधिकारका उपयोग ठीक तरहसे नहीं कर सकता। मतोंके प्रकट करनेकी पद्धतिने घूसखोरीको कम करनेके बदले और भी बढ़ाया है। प्रकट-मतपद्धतिमें घूससे बहुत काम निकलता है; क्योंकि घूस देनेवालोंको यह मालूम हो जाता है कि जिसे घूस दी गयी थी उसने किसको अपना मत दिया है।

१६५२ वि०में प्रतिनिधि-सभाके लोक-प्रतिनिधियोंने निर्वाचन सुधार-बिल सभामें पेश किया था। इस बिलमें हैसियतवाली शर्तमें १५ येनके वार्षिक करके बदले ५ येन कर दिया था और आयकरकी मर्यादा ३ येन रक्खी थी और निर्वाचक वयस्की मर्यादा २५ से घटाकर २० और उम्मेदवारकी ३० से २५ की गयी थी। मतदाताओंकी संख्याका विचार न करें तो यह बड़े महत्त्वका बिल था। इनकी संख्या चौगुनी कर देना इस बिलका हेतु था। सरकारने इस बिलका विरोध किया तो भी प्रतिनिधि-सभामें यह बहुमतसे पास हो गया। पर सरदार-सभामें यह अस्वीकृत हुआ—कारण यह बतलाया गया कि ऐसे महत्त्वका बिल बहुत सोच विचार कर पास करना पड़ता है और अभी निर्वाचनाधिकारका क्षेत्र बढ़ानेका समय भी नहीं आया है।

परन्तु तीन वर्ष बाद फिर निर्वाचन-सुधार-बिल प्रतिनिधि-सभामें पेश हुआ। इस बार लोकप्रतिनिधियोंने नहीं,

इतोका बिल पहले बिलसे अधिक पूर्ण था और उससे निर्वाचन-संस्था आमूल सुधार हो जाता। इसकी मुख्य विशेषताएँ ये थी कि निर्वाचन-क्षेत्र बड़े थे और निर्वाचकोंको एक ही मत देनेका अधिकार था तथा वह अधिकार अपरिवर्त्तनीय था, निर्वाचकोंकी सम्पत्ति-मर्यादा कम होकर निर्वाचकोंकी संख्याकी वृद्धि हो गयी थी (पहलेके बिलके अनुसार ही) ५ लाख बस्तीसे अधिककी म्युनिसिपैलिटियोंके लिए स्वतन्त्र निर्वाचनसंस्था था, प्रतिनिधियोंकी संख्या ३०० के स्थानमें ४७२ हो गयी थी, और उम्मेदवारोंके सम्बन्धमें हैसियत और स्थिर निवासकी शर्त रद्द हो गयी थी इसमें सन्देह नहीं कि पुरानी निर्वाचनपद्धतिके अनेक दोषोंको निकालनेवाला यह बिल था। परन्तु था यह आमूल परिवर्तन करनेवाला ही। इतो चाहते थे कि अभी जो ४५०००० निर्वाचक हैं सो २० लाख हो जायँ। प्रतिनिधि-सभासे तो कुछ छोटे मोटे परिवर्त्तनोंके साथ यह बिल पास हो गया; परन्तु सरदार-सभामें अभी यह बिल उपस्थित भी न हुआ था जब भू-कर-सम्बन्धी एक अत्यन्त महत्वका सरकारी बिल नामंजूर करनेके लिए प्रतिनिधि-सभा विसर्ज्जित हो गयी। यहीं अधिवेशन समाप्त हुआ और सुधार बिलका भी अन्त हो गया।

१८५६ में फिर एक बिल प्रतिनिधि-सभामें पेश हुआ। इतोके बिलसे और इससे बड़ा फरक था और यह यामागाताके मन्त्रिमण्डलने पेश किया था।

यामागाताके राजनीतिक चरित्रसे जहाँतक पता लगता है उससे तो यही मालूम होता है कि इस बिलके पेश करनेमें निर्वाचन-संस्थाके सुधारकी इच्छाकी अपेक्षा अपना राजनीतिक मतलब निकालना ही यामागाताका उद्देश्य था। यामा-

गाताका नाम मेज़ीयुगके सुधारोंमें इतोके साथ बारम्बार, आता है तथापि ये महाशय सर्वसाधारणके राजनीतिक अधिकार बढ़ानेके पक्षमें कभी भी नहीं थे। एक सूत्रसे यह मालूम हुआ है जब इतोने (उस समयके अध्यक्ष मन्त्री) देखा कि प्रागतिक और उदारमतवादी दोनों एक हो गये हैं और अब दोनों मिलकर सरकारका घोर विरोध आरम्भ किया ही चाहते हैं तब उन्होंने एक ऐसा राजनीतिक दल सङ्घटित करनेकी आवश्यकता बतलायी कि जो सरकारका पक्ष ले। इसपर (१० मिथुन १८५५ के दिन प्रिवी कौन्सिलकी सभामें) इन्होंने सङ्घटनको कुछ कालके लिए रद्द कर देनेको कहा था! पर १८५६ में जब इन्होंने ओकूमा इतागाकी मन्त्रिमण्डलके टूट जानेके बाद उदारमतका मन्त्रिमण्डल बनाया तो इन्होंने दलको यह वचन देकर कि दलसे मतमें जो राजनीतिक सुधार करने हैं उनमेंसे कई करा दिये जायँगे—उनसे सरकारकी सहकारिताका वादा करा लिया। यह बड़ी विचित्र बात है कि जिस पुरुषने इतोके राजनीतिक दलकी सहकारिता करनेकी सूचनाका तीव्र प्रतिवाद किया और कहा कि सरकारको राजनीतिक दलोंसे अलग रहना चाहिए, वही पुरुष जब अधिकारपर आता है तो तुरन्त ही प्रमुख राजनीतिक दलकी सहकारिता पानेके लिए व्यग्र हो उठता है। यामागाताने उदारमतवादियों को भी सहकारिता पानेके लिए जो वचन दिया था उसीको अंशतः पूरा करनेके निमित्त उन्होंने यह निर्वाचन सुधार बिल पेश कर दिया।

प्रतिनिधि-सभामें बिलपर बहुत देर तक वादविवाद हुआ, कुछ संशोधन भी किये गये और तब बिल पास हुआ। संशोधनोंमें सबसे महत्वपूर्ण संशोधन निर्वाचककी सम्पत्ति-मर्यादा

नियत करने, भू-करकी छोड़ अन्य करोंकी ३ येन से ५ येनतक वृद्धि तथा म्युनिसिपल-निर्वाचन-संस्थाओंको दिये हुए स्थान (६८ से ७३) कम करने के सम्बन्धमें थे। इन संशोधनोंका कारण समझना कुछ कठिन नहीं है। सभाके अधिक सभासद् देहातोंके प्रतिनिधि थे। वे निर्वाचनका क्षेत्र बढ़ानेके पक्षमें अवश्य थे, परन्तु अपने पक्षके सभासदोंसे दूसरे पक्षके सभासदोंकी संख्या बढ़ानेके प्रयत्नका विरोध करना भी उनके लिए स्वभाविक ही था।

सरदार-सभामें जब ये बिल पहुँचा तो वहाँ फिर उसकी वही शकल हो गई जोकि पहले थी। तब दोनों सभाओंके प्रतिनिधियोंकी कानफरेन्स हुई। पर दोनों ही दल अपनी अपनी बातोंपर अड़े रहे पर अन्तको विल वैसा ही पड़ा रह गया।

इसके बाद परिषद्का जब फिर अधिवेशन हुआ यामागाता-मन्त्रिमण्डलने फिर एक बिल पेश किया जो पूर्ववर्षके बिलसे कुछ बहुत भिन्न नहीं था। इस बार, सरदार-सभा द्वारा एक बड़े महत्वका संशोधन होनेपर भी, दोनों सभाओं में बिल पास हो गया। सरदार-सभाने जो संशोधन किया था वह यह था कि निर्वाचककी कर-मर्य्यादा जो ५ येन रखी गयी थी सो उन्होंने १० येन बना दी। इससे पहले किसी अधिवेशनमें यह सूचना नहीं हुई थी। यह एक विचित्र ही बात हुई कि जिस प्रतिनिधि-सभाने पूर्व अधिवेशनमें सरदार-सभाके जो साधारण संशोधन किये थे उनका इतना विरोध किया कि बिल वैसा ही पड़ा रह गया, उसी प्रतिनिधि-सभाने सरदार-सभाका यह संशोधन—जिससे कि निर्वाचकोंकी संख्या ही आधी होजाती—कैसे स्वीकार कर लिया। हमारी समझ-

में इसके तीन कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि सभाके बहुतेरे सभासदोंने यह नहीं समझा कि निर्वाचन-संस्थापर इस संशोधनका क्या परिणाम होगा; दूसरा यह कि कर अथवा सम्पत्ति-मर्यादा कम करनेसे जिन लोगोंका लाभ था उन्हें कोई परवा नहीं थी; और तीसरा यह कि उदारमतवादी दलका पूरा ज़ोर था।

सङ्घटनकी कार्यप्रणाली और देशके शासनकार्यपर निर्वाचन-संस्थाकी व्यापकताका क्या परिणाम होता है इसका विचार ही जहाँ कुछ नहीं हुआ वहाँ यदि प्रतिनिधियोंने सरदारोंके उक्त संशोधनका पूरा पूरा मतलब नहीं समझा तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। सभामें निर्वाचन-सुधारके सम्बन्धमें जितने बिल पेश हुए उनके काग़ज़पत्र देखनेसे मालूम होता है कि प्रतिनिधि-सभामें बहुत से लोग ऐसे थे जिनको निर्वाचनका विस्तार करानेकी वास्तविक चिन्ता थी। बहुतसे लोग तो उसी कोटिके थे जिस कोटिमें 'प्रतिनिधि नहीं तो कर-निधि भी नहीं' के सिद्धान्तपर स्त्रियोंके लिए मताधिकार चाहनेवाली भोली भाली स्त्रियाँ होती हैं! इसके अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि निर्वाचनका अधिकार बढ़ानेके लिए राजनीतिज्ञ लोग ही कह रहे थे, सर्वसाधारण नहीं, इसलिए सर्वसाधारणसे बिना पूछे ही सभाके बहुसंख्यक सभासद् अपने मनसे निर्वाचनकी कर-मर्यादा निश्चित कर सकते थे, क्योंकि सर्वसाधारणके असन्तुष्ट होनेकी तो कोई बात ही नहीं थी। उदारमतवादियोंने भी, जो पूर्व अधिवेशनमें छोटी छोटी बातोंपर सरदार-सभाके साथ थे, अपनी पॉलिसी बदल दी और बिलका पूर्ण अनुमोदन किया। पुराणप्रिय (कानसरवेटिव) सरकारने तो बिल ही पेश किया

था और उसने भी निर्वाचकोंकी संख्याको और भी मर्यादित करनेवाले संशोधनपर कोई आपत्ति नहीं की। इस प्रकार बिल पास होकर क़ानून बन गया।

इस नवीन क़ानूनके अनुसार निर्वाचनके क्षेत्र बड़े किये गये जिनमें एक ही मत देने और उसको दूसरेको न देनेका सिद्धान्त प्रचलित हुआ; और अपना मत गुप्त रखनेकी रीति भी प्रचलित हुई; उम्मेद्वारोंके लिए करसम्बन्धी जो शर्तें उठा दी गयीं; और ३०००० से अधिक बस्तीवाली म्युनिसिपैलिटियों के लिए स्वतन्त्र निर्वाचन-क्षेत्र निर्म्माण किया गया। इस प्रकारसे जापानमें ४७ ग्रामगत निर्वाचन-क्षेत्र हैं जिनमेंसे हर एकको उसकी जन-संख्याके हिसाबसे ४ से १२ तक प्रतिनिधि निर्वाचित करनेका अधिकार है; और ६१ नागरिक निर्वाचन-क्षेत्र हैं जो प्रतिक्षेत्र एक अथवा दो प्रतिनिधि चुन सकते हैं। इन क्षेत्रोंमें तोकिओ, ओसाका और क्योतो नहीं हैं जिनके निर्वाचन-क्षेत्र अलग हैं और जो यथाक्रम ११, ६ और ३ प्रतिनिधि चुन सकते हैं।

नवीन क़ानूनसे निर्वाचन-संस्थाका बहुत कुछ सुधार हुआ है; प्रतिनिधिका निर्वाचन निर्वाचकोंकी अपनी इच्छापर निर्भर होनेसे और प्रकट मतप्रणालीके बन्द हो जानेसे देशके प्रतिनिधि परिषद्‌के सभासद हो सकते हैं और सब प्रकारसे पहलेकी अपेक्षा इस कानूनने बड़ा सुभीता कर दिया है। निर्वाचकोंकी संख्या भी बढ़ी है; पहले ५ लाख निर्वाचक थे, अब १७ लाख हैं। अब इस क़ानूनके प्रत्यक्ष अनुभव तथा निर्वाचन-संस्थाकी कार्यवाहीके सम्बन्धमें हम तृतीय भागके 'निर्वाचन' प्रकरणमें और भी कुछ बातें कहेंगे।

पञ्चम परिच्छेद

जापानी प्रजाजनोंके स्वत्व और अधिकार

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य, स्वत्व और अधिकारका प्रश्न स्वातन्त्र्य को मर्यादा या आधार का प्रश्न है। जबतक हमारे यहाँ पाश्चात्य राजनीतिके तत्वज्ञानका प्रवेश नहीं हुआ था तबतक पाश्चात्य देशमें नागरिकोंके स्वत्व और अधिकारका जो अर्थ है उस अर्थमें हमारे यहाँ उनके सदृश राजनीतिक सिद्धान्तों-का बिलकुल अभाव था। जापानियोंके राजकार्यमें तीन तत्व प्रधान थे—एक सम्राट्, अर्थात् राजसिंहासनके चिरकालीन अखण्ड अधिकारी जिनसे राज्याधिकारकी उत्पत्ति हुई और जो "अपने प्रजाजनोंपर कभी कोई अन्याय नहीं कर सकते" दूसरा अधिकारीवर्ग जिनको सम्राट्से वंशपरम्परातक नहीं प्रत्युत् कुछ कालके लिए अधिकार मिला; परन्तु जो कभी कभी सम्राट्के नामसे अपना अधिकार भी चलाते थे; तीसरा, जनसाधारण, जिनके हितकी रक्षा करनेवाले और जिनका पालन करनेवाले स्वयं सम्राट् थे और जिनका अस्तित्व वास्तवमें उनकी अपनी अपेक्षा सम्राट्के अर्थ ही अधिक समझा जाता था। अतः सम्राट् लोगोंके स्वत्वों और अधि-कारोंके आधार नाममात्रके लिए थे पर वस्तुतः उन राजकर्म-चारियोंकी इच्छा ही सब कुछ थी जोकि साम्राज्यके लाभालाभ की दृष्टिसे प्रायः शासनकार्य किया करते थे।

अब वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें सङ्घटनके निर्माताओं की जो कल्पना थी वह विगत शताब्दीकी कल्पना थी। उनकी

कल्पना प्रत्यक्ष नहीं किन्तु नास्तिपक्ष बतलानेवाली थी। नागरिकोंके स्वत्व या स्वातन्त्र्यका अर्थ वे यह समझते थे कि लोक-तन्त्र-स्वतन्त्र सरकारके अन्यान्य हस्तक्षेपसे उनका बचना ही मानों उनका स्वातन्त्र्य है। लोकतन्त्र देशमें वैयक्तिक स्वातन्त्र्यका जो अर्थ समझा जाता है और जिस स्वातन्त्र्यका आधार समाजकी स्वतःसिद्ध शक्ति (जिसे "लोकमत" कहते हैं) होती है उसे ये ग्रहण नहीं कर सके थे। अतः सङ्घटनके निर्माताओंने जापानी प्रजाजनोंके जिन स्वत्वों और अधिकारोंको निर्धारित किया वह इस विचारसे कि लोकतन्त्रस्वतन्त्र सरकारके अन्यायोंसे वैयक्तिक उद्योगोंका नाश न हो।

इस प्रकार जापानी प्रजाजनोंके विशिष्ट स्वत्व (रक्षणोपाय), सङ्घटनके अनुसार, दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं—एक वैयक्तिक (ज़ाती) और दूसरा सम्पत्ति-सम्बन्धी।

वैयक्तिक स्वत्वोंके सम्बन्धमें सङ्घटनकी धाराएँ इस प्रकार हैं—जापानी प्रजाजनोंको वासस्थान तथा उनको परिवर्तन करनेका वैध (कानूनी) अधिकार होगा, कोई जापानी कानूनके ख़िलाफ न पकड़ा जायगा, न हवालातमें रखा जायगा, न उसपर मुकदमा चलेगा और न उसे सज़ा होगी, कोई जापानी कानूनसे नियत जजोंके इजलासमें मुकदमा चलाये जानेके अधिकारसे वञ्चित न होगा, जापानी प्रजाजनोंको शान्ति और मर्यादामें वाधा न डालते हुए तथा प्रजाके कर्त्तव्योंका उल्लङ्घन न करते हुए धार्मिक मतोंके अवलम्बनमें स्वाधीनता रहेगी, जापानी प्रजाजनोंको कानूनकी सीमाके अन्दर भाषण करने, लिखने, छापकर प्रकाशित करने तथा सभा

समिति करनेका स्वातन्त्र्य रहेगा; और जापानी प्रजाजनोंको शिष्टाचारयुक्त प्रार्थनापत्र भेजनेका अधिकार होगा, इत्यादि।

सम्पत्तिसम्बन्धी स्वत्वोंके बारेमें शासनपद्धतिमें लिखा है कि, प्रत्येक जापानी प्रजाजनका सम्पत्तिसम्बन्धी स्वत्व अक्षुण्ण रहेगा, और सार्वजनिक हितके लिए जिन उपायोंकी आवश्यकता होगी वे कानूनसे निर्धारित किये जायँगे; किसी जापानी प्रजाजनके पत्र फाड़े न जायँगे; कानूनमें निर्दिष्ट अवस्थाओंको छोड़कर और किसी अवस्थामें किसी जापानीकी तलाशी, उसकी इच्छाके विरुद्ध न ली जायगी।

हम इस परिच्छेदमें इन सब स्वत्वोंका परीक्षण कर एक एकका अर्थ और सन्दर्भ लगानेका उद्योग न करेंगे यद्यपि सङ्घटनहीमें कई धाराएँ बहुत ही सन्दिग्ध हैं। परन्तु इन स्वत्वोंका एक एक करके परीक्षण करनेके बदले हम उन सबकी समान मर्यादा और उनकी आधारभूत समान अवस्थाका यहाँ विचार करना चाहते हैं।

ध्यान देकर देखिए कि सङ्घठनकी इन सब धाराओंमें एक भी ऐसी नहीं है जिसमें "कानूनके खिलाफ" या कानूनमें निर्दिष्ट अवस्थाओंको छोड़कर अथवा "कानूनके अनुसार" ये शब्द न आये हों। इन शब्दोंका अर्थ क्या है? क्या इनका अर्थ यह नहीं है कि कानूनके परिवर्तनके साथ साथ इन स्वत्वों और अधिकारोंका अर्थ और सन्दर्भ भी बदल जायगा अथवा यों कहिये कि इन स्वत्वोंका आधार सङ्घटन नहीं बल्कि कानून है? उदाहरणार्थ सङ्घटन यों है कि "कोई जापानी कानूनके खिलाफ न पकड़ा जायगा, न हवालातमें रक्खा जायगा, न उसपर मुकदमा चलेगा और न उसे सज़ा दी जायगी।" अब मान लीजिए कि एक ऐसा कानून बना या आज्ञा पत्र निकला कि

जिस किसीपर सरकारको इस बातका सन्देह हो कि उसने सरकारके किसी कार्यकी खुल्लमखुल्ला निन्दा की है तो वह बिना वारण्टके पकड़ा जायगा और जन्म भरके लिए कैद किया जायगा तो ऐसे मनुष्यका इस तरह पकड़ा जाना सङ्घटनके विरुद्ध है। ऐसे कानून या आज्ञापत्रको ही सङ्घटनके विरुद्ध कह सकते हैं।

सच पूछिये तो सं० १९३९ (सन् १८३२) के सभासमिति कानून स० १९४० (सं० १८३३) के प्रेसऐक्ट और सं० १९४२ (ई० १८८७) के शान्ति-रक्षा कानूनसे भाषण, लेखन, प्रकाशन और सभासमिति सङ्गठनके काममें जापानियोंकी जो दुरवस्था थी वह सङ्घटनसे कुछ भी नहीं सुधरी। यद्यपि सङ्घटनमें इन सब बातोंके लिए कुछ गुञ्जायश थी, तथापि उनका कुछ उपयोग नहीं हुआ। सं० १९४२ का शान्ति-रक्षा कानून, जो एक अन्यायपूर्ण कानून था, सङ्घटनात्मक शासनके प्रवर्त्तनके उपरान्त भी जारी ही रहा। आठ बर्ष लगातार सरकार और सरदार सभासे झगड़कर प्रतिनिधि-सभा बड़ी मुश्किलोंसे उसे सं० १९५५ में रद्द करा सकी।

वि १९५१ (ई० १८९४) में चीन-जापान युद्धके समय सरकारने एक आज्ञापत्र निकाला जिससे मुद्रण और प्रकाशनका स्वातन्त्र्य बहुत कुछ नष्ट हो गया था। उसी वर्ष वह कानून रद्द भी हुआ। यह किसीने न पूछा कि जो सरकार परिषद्के तन्त्रसे सर्वथा मुक्त है उसका यह स्वेच्छाचार सङ्घटनके अनुकूल था या प्रतिकूल। वि० १९६२ में रूस जापान युद्धके समयमें सरकारने फिर शान्तिरक्षा कानूनका भाई "आगाही कानून" और "विशिष्ट मुद्रण और प्रकाशन विधान" निकाला। परन्तु इससे लोकमत इतना उत्तेजित हो

गया कि सरकारको तीन ही महीनेमें उनका जीवन समाप्त करना पड़ा। तब प्रतिनिधिने सरकारपर यह अभियोग लगाया कि सङ्गटनकी आठवीं धाराके अनुसार सरकारको चाहिये था कि अपने आज्ञापत्र परिषद्‌में पेश करती, पर वह उसने नहीं किया। पर यह एक प्रकारसे कल्पित लड़ाई थी अर्थात् उसका कोई परिणाम नहीं हुआ, क्योंकि सर्वसाधारण-के स्वत्वों और अधिकारोंको अनुचित रीतिसे घटानेका अभि-योग सरकारपर नहीं लगाया जा सकता।

तात्पर्य यह है कि सङ्गटनने जापानी प्रजाको जो अधिकार दिये हैं वे कानूनके अधिकाराधीन हैं। नागरिकोंके स्वत्वों और अधिकारोंके सम्बन्धमें सङ्गटनने कोई अनन्य अधिकार नहीं दिये हैं, अर्थात् उसने इन अधिकारोंको रखनेके लिए सरकार या परिषद्‌का अधिकार मर्यादित नहीं किया है जैसा कि संयुक्तराज्योंके सङ्गटनने किया है। संयुक्त-राज्योंका सङ्गटन ऐसा है कि वहाँकी कांग्रेस किसी ऐसे अपराधीपर कि जो प्रमाणादिके अभावसे अथवा प्रचलित कानूनके बलसे अपराधी साबित न हो सकता हो, स्वयं कोई बिल पास कर उसपर सभामें अभियोग नहीं चला सकती और इसी तरहका कोई घटनानुगामी कानून भी नहीं बना सकती।

सरकार सनदको युद्ध-कालको छोड़ कभी दूर नहीं कर सकती और बिना किसी योग्य कारणके गिरफ़ारी या तलाशी-का वारण्ट नहीं निकाल सकती, इत्यादि। परन्तु जापानी सङ्गटनामें ये बातें नहीं हैं और सरकार कानून बनाकर लोगों-के स्वत्व और अधिकार कम कर सकती है। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि जापानी सरकार सर्वसाधारण या परि-

षद्‌के अधीन नहीं है और न सङ्घटनके निर्माताओंकी ऐसी इच्छा ही थी।

ऐसी अवस्थासे सङ्घटनके निर्म्माता क्योंकर सन्तुष्ट रहे इसका कारण सर्वथा दुर्बोध नहीं है। जब शोगूनों का शासन था तब साधारण कानून और परिपाटीको छोड़कर सर्व-साधारणके स्वत्वों और अधिकारोंका कोई विधान नहीं था। इसलिए सङ्घटनमें इन्हें प्रत्यक्ष, स्थायी और सुदृढ़ स्थान देना देश, काल, पात्रके अनुकूल न जान पड़ा होगा। राजकर्म-चारियोंके अन्यान्य कार्योंसे सर्वसाधारणकी रक्षाके लिए उन्होंने कानूनको ही यथेष्ट समझ लिया। इतो अपने भाष्यमें लिखते हैं, "मध्ययुगकी लश्करी राज्यपद्धतिमें सर्वसाधारणसे क्षत्रजातियोंकी विशेष मानमर्यादा थी। राजदरबारके सभी उच्चपद इन्हें तो मिलते ही थे पर इसके साथ ही अन्य लोगों-के स्वत्वों पर भी इनका पूरा अधिकार था। इससे लोग अपने स्वत्वों और अधिकारोंसे वञ्चित ही रहते थे। परन्तु सङ्घटनके इस परिच्छेदकी (द्वितीय परिच्छेद—प्रजाजनोंके स्वत्व और अधिकार) धाराओंसे जापानी प्रजाजन अपने स्वत्वों और अधि-कारोंका वैसा ही उपयोग कर सकते हैं जैसा कि क्षत्रिय लोग" इत्यादि। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उन्होंने या तो भूलसे या जान बूझकर इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि जिस कानूनके भरोसे उन्होंने सर्वसाधारणको छोड़ दिया उस कानूनके बनानेवाले कौन हैं; जिन्होंने इतना ही केवल सोचा कि लोकतन्त्रस्वतन्त्र सरकारकी बुराइयोंसे सर्वसाधारणके स्वत्वों और अधिकारोंकी रक्षा करनेके लिए कानून काफ़ी है।

तत्वतः सम्राट् ही व्यवस्थापनके मुख्य देवता हैं, यही नहीं किन्तु वे इसके कर्त्ता और वार्तिककार भी हैं। परन्तु

वस्तुस्थिति यह नहीं है। सम्राट्ने जो शासनपद्धति प्रजाको दी वह उन्हींकी बनायी हुई नहीं थी और सं० १९४९ में सरदार-सभाकी अपीलपर सम्राट्ने सङ्घटनकी ५५वीं धाराका जो वार्त्तिक प्रकट किया था वह स्वयं उनका नहीं बल्कि प्रिवी कौन्सिलके ही निर्णयकी प्रतिध्वनि थी। इन बातोंसे यह प्रकट होता है कि सम्राट् वस्तुगत्या न तो सङ्घटनके कर्त्ता हैं और न उसके वार्त्तिककार ही। इससे कोई यह न समझे कि साम्राज्यके शासन वा व्यवस्थापनसे सम्राट्का कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। हम जानते हैं कि जापानमें एक भी ऐसा व्यक्ति न होगा जो केवल राजकार्यमें ही नहीं बल्कि लोकचारित्र्यमें सम्राट्के अमौलिक प्रभावपर सन्देह करता हो। राष्ट्रीय जीवनके कठिन प्रसङ्गोंपर सम्राट्का यह प्रभाव ही जापानियोंके मनका प्रधान संकल्प होकर व्यवस्थापन और समाज-शासनका मुख्य सञ्चालक हो सकता है। पर साधारण अवस्थामें सम्राट्का प्रभाव ही कानूनका सञ्चालक नहीं होता यद्यपि उसका बल निःसन्देह, बहुत होता है। तब इस सङ्घटनके अनुसार व्यवस्थापनका वास्तविक अधिकार किसको है।

सङ्घटनमें लिखा है कि सम्राट् राष्ट्रीय परिषद्की सम्मतिसे व्यवस्थापनाधिकारका उपयोग करेंगे। सङ्घटनने परिषद्को सम्राट्-परिवार-कानून तथा सङ्घटन-संशोधन को छोड़कर व्यवस्थापनमें विधान उपस्थित करनेका अधिकार भी दिया है। परन्तु द्वितीय और तृतीय परिच्छेदमें हम दिखला चुके हैं कि यह अधिकार क्या है और यह भी दिखला चुके हैं कि प्रतिनिधि-सभा सरकारकी सहायता विना कोई कानून बना नहीं सकती और सरकार विना परिषद्से पूछे भी बना सकती है।

इसलिए जापानी प्रजाजनोंके स्वत्व और अधिकार सङ्घटनान्तर्गत कानूनकी मर्यादासे सुरक्षित हैं यह कहना भी घुमा फिराकर यही कहना है कि जापानियोंके स्वत्व और अधिकार उस सरकारके कर्मचारियोंकी इच्छापर निर्भर हैं जो कि लोकतन्त्रके अधीन नहीं हैं। सच पूछिये तो सङ्घटनका यह भाग कि जिसमें सर्वसाधारणके स्वत्वों और अधिकारोंकी चर्चा है, केवल निर्जीव अलङ्कारमात्र हैं; क्योंकि जबतक सरकार लोकतन्त्रके अधीन नहीं होती तबतक उसका उपयोग ही क्या हो सकता है। प्रेस-कानून, शान्ति-रक्षा-कानून, आज़ादीका कानून इत्यादि बातोंसे हमारा यह कथन सिद्ध हो चुका है।

जापानी लोग कुछ कुछ अंगरेजोंके समान हैं; वे सामाजिक, रीतनीत और पूर्वपरम्पराके बड़े अभिमानी होते हैं और उनमें वीरोचित न्यायप्रियता होती है, राजनीतिक बातोंमें फ्रांसीसी सिद्धान्तियोंकी अपेक्षा वे "साम्राज्यवादी" होना अधिक पसन्द करते हैं। यद्यपि पुराने शासन कालमें हमारे यहाँ नागरिक स्वत्वों और अधिकारोंका कोई विधान ग्रन्थ नहीं था तथापि लोग उन स्वत्वों और अधिकारोंको भोगते थे और जापानी व्यक्तिमें जन्मतः जो न्यायप्रियता होती है उससे और सामाजिक रीतिनीतिसे वे कुशलमङ्गलके साथ जीवन व्यतीत करते थे। पर अब हमारे यहाँ कानून चला है और युरोपीय ढङ्गके न्यायालय भी स्थापित हुए हैं और हमारे जज और वकील जर्मन अदालतकी तालीम पाये हुए तथा जर्मन सिद्धान्तोंके संस्कारोंसे भरे हुए हैं। अब यह कायदा भी हो गया है कि जो कोई जजीकी सिविल परीक्षा पास करे वह जज हो सकता है। अतः आजकल हमारे न्यायालयोंके सभी जज नौजवान हैं जिन्हें पुस्तकी ज्ञान तो रहता है पर जिन्हें

संसारका अनुभव कुछ भी नहीं होता। ये युवा जज कानून-का अर्थ समझनेमें तो एक एक शब्दके बालकी खाल खींच लेते हैं और कानूनके अनुसार काम करनेमें टससे मस नहीं होते पर इन्हें अभियोग विशेषकी परिस्थितिका कुछ भी ध्यान नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि हमारे स्वत्व और अधि-कार व्यापक होनेके बदले सङ्कीर्ण ही होते जा रहे हैं। शोगून-शासनकालमें विधि विधानके अभावका हमें दुःख था पर अब इस न्याय और शासन पद्धतिमें हमें विधि विधानका अजीर्ण ही दुःख दे रहा है!

तृतीय भाग

संङ्घटनकी कार्य-प्रणाली

प्रथम परिच्छेद

सङ्घटनात्मक राजसत्ता

द्वितीय भागमें हमने सङ्घटनके मूल तत्वोंका, विशेषतः इनके तात्विक स्वरूपोंका विचार किया। अब इस भागमें हम राष्ट्रके २० वर्षकी प्रतिनिधिक संस्थाके अनुभवसे सङ्घटन-की प्रत्यक्ष कार्य-प्रणालीका अनुसन्धान करनेका प्रयत्न करेंगे।

इस परिच्छेदमें हम सम्राट्की स्थितिका विचार करेंगे और यह देखेंगे कि उनकी तात्विक सत्ता और संस्कार-सम्बन्धी अधि-कारके बाहर उनका वास्तविक दख़ल कहाँतक होता है।

हम मानते हैं कि यह कार्य बहुत ही कठिन है, क्योंकि जापानी राष्ट्रकी ऐतिहासिक विशेषताएँ ही कुछ ऐसी हैं।

अनेक जापानी अब भी सम्राट्को "देवता" समझते हैं। वे इस बातकी चर्चा करना कि सम्राट् क्या करते हैं और क्या नहीं करते, अब भी देवनिन्दा, राजद्रोह और अधर्म सम-झते हैं। एक मित्रने हमसे अपना हाल कहा कि, "जब मैं ७० वर्षका था तो एक दिन अपने पिताके साथ तोकियो गया था। राजधानीमें मार्गपर चलते हुए दूरसे पिताजीने ही सम्राट्का प्रासाद दिखलाया। मैंने बालकोंकीसी जिज्ञासासे प्रासादकी ओर उँगलीसे इशारा करके पितासे पूछा कि यही महाराजका महल है। उँगली दिखलानेसे पिताजी मुझपर बहुत क्रुद्ध हुए और इस अश्रद्धाके लिए मुझपर बहुत ही बिगड़े। उस समयका पिताजीका रूप मुझे कभी न भूलेगा"। आज इतना तो नहीं है पर इससे पता लग आता है कि

जापानियोंको बचपनसे कैसी शिक्षा मिलती है और सम्राट् तथा सम्राट्-परिवारके प्रति उनके क्या भाव होते हैं।

बहुतसे जापानी सम्राट्के नामको पवित्र और दिव्य समझते हैं जैसा कि सङ्घटनकी तीसरी धारामें लिखा है। १६५० में मन्त्रिमण्डलसे सम्राट्की प्रतिष्ठा सुरक्षित रखनेमें कुछ असावधानी हो गयी जिसपर मन्त्रिमण्डलके खूब कान मले गये। ८ मार्ग० १६४६ वि० को लाबेना नामक अंगरेज़ी जहाज़से जापानी जङ्गी जहाज़ चिशिमाइयोको खाड़ीमें कहीं टकरा गया। जापानी सरकारने याकोहामाके अंगरेजी राज-दूतालयमें पी० ओ० कम्पनीपर मुकद्मा चलाया और पी० ओ० कम्पनीने शाङ्घाईके सुप्रीम कोर्टमें जापानी सरकारपर मुकद्मा चलाया। दोनों अदालतोंमें मामला चला। जब यह पता लगा कि जापान-सरकारकी ओरसे पैरवी करनेवाले अंगरेज़ी वकीलने कोर्टमें सम्राट्का नाम ले दिया तो प्रति-निधि सभामें बड़ी उत्तेजना फैली। सम्राट्का नाम और वह विदेशी कोर्टमें विचारार्थ लिया जाना उस नामका अपमान समझा जाता था।

अध्यक्ष मन्त्री मारक्विस कत्सूराने क्वाम्पो नामक सर-कारी समाचारपत्रमें सम्राट्का एक घोषणापत्र प्रसिद्ध किया। क्वाम्पो पत्रको लोग विशेष नहीं पढ़ा करते, उसे उसी दृष्टिसे देखते हैं जिस दृष्टिसे लन्दन में 'लन्दन गज़ट' देखा जाता है। ऐसे अप्रचरित पत्रमें सम्राट्का घोषणापत्र और वह भी बिना किसी पूर्व सूचनाके, देखकर लोग बहुत सन्तप्त हुए और तोयाबी महाशयने तो इस असावधानीके लिए मारक्विस कत्सूराकी खुल्लमखुल्ला घोर निन्दाकी। यह कहा गया कि बेमौके सम्राट्का पवित्र घोषणापत्र निकालना उनकी प्रतिष्ठा

कम करना है, मार्क्विस कत्सूराने तो उसकी पवित्रताकी रक्षा करनेमें और भी असावधानी की है।

इङ्गलिस्तानके राजाकी स्थितिका परीक्षण करते हुए सिडनी लो महाशय कहते हैं, "इसमें बड़ा गुन्ताला है, बड़ा रहस्य और बड़ी कृत्रिमता है; इसकी बनावट इतनी नाजुक और इतनी अद्भुत है कि कृत्रिमताका भाव उदय हुए बिना इसका परीक्षण ही नहीं हो सकता।" इङ्गलैण्डके राजा "मर्य्यादित राजा" हैं और सैकड़ों वर्षोंके पार्लमेण्टके इतिहासमें तरह तरहकी घटनाएँ हुई हैं और उनसे राजाकी स्थिति बहुत कुछ ठीक मालूम हो जाती है; परन्तु तौभी मि० लो जैसे सूक्ष्मदर्शी राजनीतिज्ञको सङ्कटनके अन्दर राजाका कौनसा स्थान है यह ठीक ठीक बतलानेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। वास्तविक कठिनाई यह है कि राजाके जो तत्वतः अधिकार हैं और उनमें वस्तुतः वह किन अधिकारोंका उपयोग कर सकता है और इस भेदको दिखलानेवाली कोई एक अङ्कित की हुई सीमा नहीं रखी है, और इसीलिए अपने मन्त्रियों और प्रजाजनोंपर राजाका जैसा प्रभाव हो वही उसके वास्तविक अधिकारकी सीमा है। अब राजाके 'प्रभाव'का सूक्ष्म निरीक्षण करना तो असम्भव ही है, क्योंकि जैसा राजा होगा और प्रजाजनोंकी जैसी मनोरचना होगी उतना ही उसका (राजाका) प्रभाव राजकार्यपर पड़ सकता है। अमरीकाकी नवीन पीढ़ी शायद यह न समझ सकेगी कि राजकुमारी जुलिआनाके जन्मपर डच लोगोंको कितना आनन्द हुआ था और इसका मतलब क्या है। तथापि राजनीतिक मनोविज्ञान शास्त्रका विद्यार्थी अवश्य ही समझता है कि वंश परम्परासे "राजा सहित राजसिंहासन" की जो संस्था चली आती है उसमें उन प्रजाजनोंको—जिनको ऐसी संस्थाके

सहवाससे स्नेह हो गया है—वश करनेकी ऐसी शक्ति है कि वह राजकार्यमें एक अत्यन्त असाधारण मूल्यवान् और शक्ति युक्त विलक्षण भाव उत्पन्न होता है।

जापानके सम्राट् तत्वतः "अमर्याद राजा" हैं। कोई प्रथा या कानून, (लिखा या बेलिखा) अथवा सङ्घटन ही उनके अनन्य सत्ताधिकारको मर्यादित नहीं कर सकता। महाशय वाल्टर वैजहाट कहते हैं कि महारानी विक्टोरियाने बुद्धिमत्ता-से आजीवन सरदार बनानेका प्रयत्न किया और लार्डसभाने मूर्खतासे उनके इस हकको न माना। जापानमें वर्तमान सङ्घटनके रहते हुए ऐसी बात कभी नहीं हो सकती। किसी-की मजाल नहीं जो सम्राट्की इच्छा-अधिकारका विरोध करे, चाहे यह इच्छा बुद्धिमत्ताकी हो चाहे मूर्खता की। सम्राट् सर्वसत्ताधारी और साम्राज्यके एकमेवाद्वितीय अधि कारी हैं।

परन्तु कोई समझदार मनुष्य यह नहीं समझता कि सम्राट् खुद सब कारबार देखते हैं, यद्यपि यह कहना शिष्टता है कि सरकारके सब कार्य सम्राट्के तत्वावधान में होते हैं और उन्हींकी आज्ञानुसार होते हैं। तथापि यह साहस किसीमें नहीं है कि यह भी पूछे कि सम्राट् स्वयं शासनकार्यकी देख-भाल कहाँतक करते हैं, हम समझते हैं कि इन सब बातोंका जानना सङ्घटनकी भविष्य प्रगति निर्धारित करनेके लिए बहुत ही आवश्यक है। यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि होजुमी, ताकादा, कुदो, शिमिजू, सायजीमा, तानाका जैसे बड़े बड़े सङ्घटनसम्बन्धी लेखकोंमेंसे किसीने भी इस महत्त्वके प्रश्नकी चर्चा नहीं की।

जापानी पार्लमेंटके २० वर्षके उद्योगपूर्ण इतिहासको जब

हम राजसिंहासनकी दृष्टिसे देखते हैं तो वह इतिहास प्रायः घटनाशून्य ही दिखाई देता है। प्रातिनिधिक शासनप्रणाली-की स्थापनासे सर्वसाधारणके सामाजिक और राजनीतिक जीवनमें तथा सरकारके व्यवस्थापन और शासनके काममें बड़ा भारी अन्तर हुआ। पर जब सम्राट् और उनकी स्थितिको देखते हैं तो सङ्घटनसे कोई नयी बात नहीं दिखायी देती। हमारी सङ्घटनात्मक शासनकी प्रणालीमें यह एक विशेष बात देखनेमें आती है कि सरकार और परिषद्‌में परस्पर बारबार इतना विवाद, विरोध, धक्काधुक्की और सङ्घर्ष-विघर्ष हुआ पर तो भी सम्राट्, सर्वसाधारण और सरकारमें सदा ही सम्बन्ध बना रहा।

जापानी मन्त्रिमण्डलका मन्त्री यही कहता है कि मैं सम्राट्‌की आज्ञासे राज्यव्यवस्था करता हूँ। १५ मीन १९६४ वि० को जर्मन रीगस्टकमें प्रिन्स ब्यूलोने कहा था "जबतक सम्राट्‌का मुझपर विश्वास है और जबतक मेरी विवेकबुद्धि इसके अनुकूल है तबतक मैं यह काम करूँगा।" जापानमें भी जापानी मन्त्री प्रायः ऐसे उद्गार निकालते हैं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि दोनोंके देशों मन्त्रियोंका अपने अपने सम्राटोंसे एकसा ही सम्बन्ध है। दोनों देशोंमें इस सम्बन्धमें परस्पर पूर्व पश्चिमका अन्तर है।

जर्मनीके सम्राट् द्वितीय विलियमने जैसे वान केप्रिवीको चुनकर बिस्मार्कके स्थानपर बैठा दिया वैसे जापानमें कभी नहीं होता। यह बतलाया जाता है कि विलियमने वान कैप्रिवीको बिस्मार्ककी जगह इसलिए दी कि वे राजसिंहा-सनके सामने सिर नीचा किये रहेंगे। हम जहाँतक समझते हैं, जर्मनीके राजकार्यमें जर्मन सम्राट्‌का जो स्थान है वह

एशियाके राजघरानेके सम्मानपर उतना निर्भर नहीं है जितन
कि सम्राट् विलियमके अद्भुत व्यक्तित्वपर। यह भी सुन
जाता है कि सम्राट् विलियम अपनेको सरकारके रूपमें प्रकट
करना और शासनसम्बन्धी प्रत्येक कार्यको अपने हाथमें लेन
बहुत पसन्द करते हैं। यह भी लोग कहते हैं, कि जर्मन सम्रा
स्वयं सर्वसत्ताधारी बनकर संसाररूपी नाटकमें चक्रवर्तीक
भूमिका लेना चाहते हैं। यह कहाँतक सच है यह कहना त
बहुत ही कठिन है पर इसमें सन्देह नहीं कि "क्रूगरका ता
सन्देश" तथा "लार्ड थीडमाउथको लिखा हुआ पत्र" इत्यादि
बातें इस बातको सिद्ध करती हैं कि चान्सलर जो कुछ हैं स
हैं ही, सम्राट् विलियम भी साम्राज्यके राजकार्यमें कुछ क
भाग नहीं लेते।

जापानमें इसके विपरीत एक भी उदाहरण ऐसा
मिलेगा जब सम्राट् मित्सुहितोने राजमन्त्रियोंकी सम्मति
बिना एक भी काम अपने मनसे किया हो। जापानमें सम्राट
की स्थितिका दृढ़ीकरण सम्राट्के व्यक्तित्वपर उतना निर्भ
नहीं है जितना कि राजसिंहासनके अनोखे इतिहास औ
परम्परा पर। अध्यापक यामागुचीने लिखा है कि "राज
सिंहासन राजसत्ताका भण्डार है और देश और प्रजा
अधीन है। शासक और शासितकी प्रभेदरेखा जापानमें शत
ब्दियों पूर्वसे ही स्पष्ट अङ्कित हो चुकी है। साम्राज्यक
सत्ता राजसिंहासनसे विलग नहीं सकती। यह सत्ता सम्राट
वंशके ही साथ साथ अनन्त कालतक रहेगी।" इस प्रका
सम्राट्को यह दृढ़ विश्वास रहता है कि चाहे कोई मन्त्री ह
किसी दलके हाथमें शासन कार्य हो, सम्राट्का जो अ
पवित्र राजसिंहासन है वह सदा ही सुरक्षित रहेगा। मन्

पदपर चाहे कोई फाक्स आवे, चाहे एडिंग्टन या पिट आवे, उससे राजसिंहासनका कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं। सम्राट् मित्सुहितोकी बुद्धिमत्ताका भी इसमें भाग हो सकता है कि उन्होंने किसी मन्त्रिमण्डलका चाहे वह इतोका हो या यामागाता वा ओकुमा अथवा ईतगाकीका हो, कभी विरोध या पक्षपात नहीं किया; पर इसका बहुत बड़ा भाग सम्राट्के इस विश्वासका भी हो सकता है कि राजसिंहासनको कोई भय नहीं है।

जब कोई नया मन्त्रिमण्डल बनता है तब सम्राट् सङ्घटनके अनुसार (तत्वतः) चाहे जिसको मन्त्रिपद दे सकते हैं, अथवा जब वे चाहें चाहे जिस मन्त्रीको निकाल सकते हैं। पर कार्यतः यही समझा जाता है कि वे अध्यक्ष मन्त्री ही जिनका कि कार्यकाल समाप्त हो चुका है, सम्राट्को बतला देते हैं कि अब कौन अध्यक्ष मन्त्री होना चाहिए, अथवा प्रिवी कौन्सिल या 'वृद्ध राजनीतिज्ञ' एकत्र होकर सोच लेते हैं कि अब शासन-कार्यका भार किसके सिरपर देना चाहिए और सम्राट्को सूचित करते हैं। इस सम्बन्धमें इंग्लिस्तानके राजा जितने स्वच्छन्द हैं उनसे अधिक स्वच्छन्दता जापानके सम्राट् की नहीं दिखलाते। प्रायः सम्राट् उसी पुरुषको बुला भेजते हैं जिसपर कि सबकी राय हो और नवीन मन्त्रिमण्डल सङ्गठित करनेके लिए कहते हैं।

सम्राट्की सबसे श्रेष्ठ परामर्शदात्री-सभा प्रिवी कौन्सिल है उसके सभासद भी अध्यक्षमन्त्री अथवा 'वृद्ध राजनीतिज्ञोंमेंसे' चुने हुए लोगोंकी रायसे नियुक्त और पदच्युत किये जाते हैं। वि० १९४८ के मार्ग० मासमें अध्यक्षमन्त्री मात्सुकाताकी सम्मतिसे सम्राट्ने ओकुमाको पदच्युत कर

मूलक पद्धतिपर शासन कार्य सङ्गठित करना चाहा और उन्हें नौसेना तथा जङ्गी आफिसके लिए मन्त्रियोंका मिलना असम्भव हो गया तब सम्राट्ने वाईकाउण्ट (अब मारक्विस) कत्सूराको युद्धमन्त्री और मारक्विस सायगोको नौसेनाका मन्त्री बना दिया और उनसे नवीन शासन कार्यमें ओकुमा और इतागाकीसे मिलकर रहनेकी कृपापूर्ण आज्ञा दी।

यह एक विशेष बात है कि इतने गुण, इतनी बुद्धिमत्ता और ऐसी आकर्षण-शक्तिके रहते हुए भी सम्राट्ने कभी स्वयं शासन करनेकी इच्छा ज़रा भी नहीं दर्शायी। पार्लमेण्टके काग़ज़पत्र अथवा समाचार पत्रोंकी फाइल देखनेसे चतुर पाठक यह तुरन्त ही ताड़ लेंगे कि समस्त शासनभार मन्त्रि-मण्डलके सभासदोंपर है और साम्राज्यकी नीतिके लिए वे ही जिम्मेदार हैं।

व्यवस्थापत्र कार्यमें तो सम्राट् और भी कम दखल देते हैं क्योंकि व्यवस्थापकसभासे उनका सम्बन्ध ही बहुत कम होता है।

परिषद्में सम्राट् एक ही दिन अर्थात् उसके खुलनेके अवसरपर आते हैं। उनकी जो वक्तृता होती है वह प्रथा पूरी करनेके लिए ही होती है। उसका एक उदाहरण नीचे देते हैं—

"सरदार सभा और प्रतिनिधि सभाके सज्जनों, मैं अब राष्ट्रीयपरिषद्के खोलनेकी विधि करता हूँ और सूचना देता हूँ कि राष्ट्रीय परिषद्का कार्य आरम्भ हुआ।*

* यह ध्यान देनेकी बात है कि सम्राट्ने सरदार-सभा व प्रतिनिधि-सभा दोनोंके सभासदोंको सज्जनों कहकर ही संबोधन किया है, और न कि "मेरे सरदारो और प्रतिनिधि सभाके सज्जनों, क्या सरदार और क्या साधारण, दोनो ही सम्राट्का समान प्रजा हैं और इसलिए संबोधनमें कोई पंक्तिप्रपंच नहीं किया गया है।

"मुझे इस बातका बहुत सन्तोष है कि समस्त सन्धिबद्ध शक्तियोंके साथ मेरे साम्राज्यका बहुत ही स्नेह सम्बन्ध रहा है।

"मैं मन्त्रियोंको आज्ञा देता हूँ कि वे आगामी वर्षका आय-व्ययका लेखा तय्यार करें और अन्य आवश्यक विधि विधान कर अन्य लोगोंके सम्मुख उपस्थित करें।

मुझे विश्वास है कि आप लोग प्रत्येक विधिपर साव-धानीके साथ विचार करेंगे और अपना कर्तव्य पालन करेंगे।"

परिषद्के कानूनके अनुसार परिषद्की दोनों सभाओंके प्रेसिडेण्ट, और वाइस-प्रेसिडेण्ट सम्राट् ही मनोनीत करते हैं। परन्तु यह भी एक विधिमात्र है, क्योंकि परिषद्की दोनों सभाएँ जब अपना अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुन लेती हैं तब सम्राट् उन्हींको मनोनीत करते हैं।

प्रतिनिधि-सभाके अध्यक्षको मनोनीत करनेका सम्राट्का जो अधिकार है उसके सम्बन्धमें एक बड़ी रोचक बात है। वि० १९५० में प्रतिनिधि-सभाने अपने ही अध्यक्षपर एक भर्त्सना-पत्र सम्राट्की सेवामें भेजा।[1] दिमाग तो ठिकाने थे ही नहीं जो प्रतिनिधि-सभा सोच सकती कि अध्यक्षको जब हमने निर्वाचित किया है तो हमीं उसे निकाल भी सकते हैं। उसने यह सोचा कि सम्राट्ने उन्हें मनोनीत किया है तो वे ही हमारा प्रार्थनापत्र पाकर अध्यक्षको पदच्युत करनेकी हमें आज्ञा देंगे। परन्तु सम्राट्ने इसके जवाबमें सम्राट्-परिवार-विभागके मन्त्री द्वारा उससे यह पूछा कि सभा क्या चाहती है, वह सम्राट्से अध्यक्षको पदच्युत करनेके लिए कहती है या ऐसे

---

* उस समय होशी महाशय अध्यक्ष थे। इनपर यह सन्देह था कि टोकियो स्टाक एक्सचेंजके कुछ सभासदोंसे इनका अनुचित सम्बन्ध है।

अयोग्य अध्यक्षको निर्वाचन कर लेनेके लिए क्षमा चाहती है तो स्पष्ट स्पष्ट लिखे, और यह भी आज्ञा दी कि सभा सब बात ठीक ठीक फिरसे सोच ले। यह उत्तर पाकर सभाके होश दुरुस्त हुए और अपनी भूल मालूम कर उसने सम्राट्से अपने अविचारपर क्षमा प्रार्थना की। अध्यक्षकी बात मर्य्यादा-रक्षा-दण्डकी कमेटीके पास भेजी गई और अध्यक्ष सभासे निकाल दिये गये।

द्वितीय भागके तृतीय परिच्छेदमें हमने कहा है कि सम्राट्की सेवामें प्रार्थनापत्र भेजनेका परिषद्को जो अधिकार है, व्यवस्थापन कार्यमें उसका भी बहुत दख़ल होता है। प्रतिनिधि-सभाकी ओरसे यह प्रार्थनापत्र भेजा गया हो तो इसका परिणाम या तो सभाका ही विसर्जन हो जाता है या मन्त्रि-मण्डलको पदत्याग करना पड़ता है। सङ्घटनका सिद्धान्त तो यह है कि सम्राट् ही सभाको भङ्ग कर देते हैं; पर वस्तुतः यह एक मानी हुई बात है कि सम्राट् अध्यक्षमन्त्रीकी सलाहसे यह काम करते हैं। अध्यक्ष मन्त्री सभाविसर्जनकी सब जिम्मेदारी भी अपने ही ऊपर लेते हैं और प्रायः सार्वजनिक रीत्या सभा विसर्जन करनेके कारण भी बतला देते हैं।

व्यवस्थापनके कार्यमें सम्राट्का प्रत्यक्ष अधिकार नहीं बल्कि उनका जो प्रभाव है उसके सम्बन्धमें एक बात विशेष देखनेमें आती है। मन्त्रिमण्डल और परिषद्का परस्पर-सम्बन्ध विच्छेद हो गया है और सब सम्राट्के घोषणापत्रने फिर वह सम्बन्ध जोड़ दिया। ऐसा दो बार हुआ एक वि० १९५० में और दूसरा वि० १९५८ में। पहली बार प्रतिनिधि-सभाने और दूसरी बार सरदार-सभाने बजटके कई अङ्क इस प्रकार घटा दिये कि मन्त्रिमण्डलके लिए

यह संशोधन स्वीकार करना असम्भव हो गया। मन्त्रि-मण्डलने सभाको बहुत लालच दिया और कई तरहसे समझाया पर कोई फल नहीं हुआ। तब सम्राट्ने घोषणापत्र निकाला जिसमें उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि सभा सरकारके मसविदोंको मंजूरी दे दे जिसमें शासनका काम न रुक जाय। तुरन्त सभाकी नीति बदल गयी और उसने बिल पास करना स्वीकार कर लिया।

परन्तु प्रश्न यह है कि इन दोनों अवसरों पर सम्राट्के काममें सम्राट्का हाथ कहाँ तक था? सूक्ष्म अवलोकन करनेसे मालूम हो जाता है कि यह अध्यक्ष मन्त्रीकी सम्मतिका ही फल था। अध्यक्ष मन्त्री मारक्विस (बादको प्रिन्स) इतोने २६ फाल्गुन १८५७ के घोषणापत्रके सम्बन्धमें सरदार-सभाके अध्यक्ष प्रिन्स कोनोयीको जो चिट्ठी लिखी है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट्ने इतोकी सम्मतिसे ही अपना आज्ञापत्र निकाला, क्योंकि इतो अपनी चिट्ठीमें ही स्वीकार करते हैं कि उस आज्ञापत्रके लिये वे ही जिम्मेदार थे। २८ माघ १६४६ का घोषणा पत्र निकला था उस समय मारक्विस इतो अध्यक्ष मन्त्री भी थे। इस घोषणापत्रमें प्रतिनिधि सभासे प्रत्यक्ष आग्रह किया गया है कि वह सरकारका आय-व्यय लेखा स्वीकार करे।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट् मित्सुहितोका प्रत्यक्ष अधिकार शासनमें हो चाहे व्यवस्थापनमें हो, महाराज सप्तम एडवर्डसे अधिक प्रकट नहीं होता। जापानके सम्राट् राजाकी नीतिको स्वयं निर्धारित नहीं करते; वे इस कामको मन्त्रिमण्डलके सुपुर्द कर देते हैं। वे अपने देशके राजकार्यमें फँसे हुए नहीं हैं; उससे स्वतन्त्र और उससे पृथक् हैं।

अतएव क्या तत्वतः और क्या वस्तुतः राजाकी नीतिके लिए वे जिम्मेदार नहीं, वे कोई अन्याय अपराध नहीं करते।

जापानी सङ्घटनमें यह कोई नयी बात नहीं पैदा हुई है। लश्करी जागीरदारोंका शासन काल उदय होनेसे पहले, दरबारके सरदार सम्राट्की सम्मति मात्र लेकर राज्यकी नीति निर्द्धारित किया करते थे और शासन कार्यकी सब जिम्मेदारी अपने ऊपर रखते थे। तालुकेदारोंके शासन कालमें शोगून शासन करते थे: और सम्राट् राज्यशासनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई भाग नहीं लेते थे: पर यह किसीको अस्वीकार नहीं था कि राजसिंहासनकी स्थापना करनेवालेके वंशज सम्राट् ही साम्राज्यके मुख्य मालिक हैं: जिस शोगूनने एक प्रकारसे उनका राज्य ही छीन लिया था वह भी अपने अन्तःकरणमें धर्म्म-बुद्धिपूर्वक सम्राट्को मानता था।

जापानके राजसिंहासनकी सुदृढ़ता और महत्व सम्राट्की व्यक्तिगत परीक्षा पर नहीं बल्कि राजसिंहासनके अनुपम इतिहास और परम्परागत देश धर्मपर ही प्रधानतः निर्भर है। यह सच है कि १६२४ की पुनः स्थापना, सम्राट् मुत्सुहितोके पुण्य प्रताप और बुद्धिबल, तथा उनके सुदीर्घ सुखसमृद्ध राज्यने जापान देश और उस देशके राजसिंहासनके इतिहास और परम्परागत देशधर्मको सर्वसाधारणमें जागृत करके सम्राट्की स्थितिको बहुत ही सुदृढ़ कर दिया है। परन्तु यदि कोई सम्राट्की प्रतिमाको ही सारा यश देता हो तो कहना पड़ेगा कि उसने जापानके राजत्वका वास्तविक स्वरूप ही नहीं पहचाना। साम्राज्यकी निरवच्छिन्नता और राष्ट्रकी अखण्डता व एकताके साथ, जापानियोंके मनमें, जो पदार्थ सम्बद्ध है वह कोई सम्राट्रूप व्यक्तिविशेष नहीं प्रत्युत सम्राट्का राज-

सिंहासन ही है। अतः जिस प्रतिमाको देखकर जापानियोंके मनमें साम्राज्यके भूत और वर्तमान अस्तित्वका चित्र अङ्कित हो जाता है और राष्ट्रीय बन्धुभाव जागृत होता है वह प्रतिमा सम्राट्के राजसिंहासनकी प्रतिमा है।

जापान देशवासीमात्र इस सिद्धान्तको मानता है कि हम वंशपरम्परागत राजसिंहासनके मालिक सम्राट्की प्रजा हैं। अध्यक्ष मन्त्रीका जो कुछ अधिकार है वह उस पदका अधिकार है जिसपर कुछ कालके लिए वे विराजते हैं। वे कितने ही बड़े और बुद्धिमान् क्यों न हों, उस पदसे च्युत होने पर उनका कुछ भी अधिकार नहीं रह जाता। परन्तु सम्राट्का जो अधिकार है वह वंशपराम्परा से है; उनकी स्थिति ध्रुव और अनुल्लङ्घनीय है। राजवंशका राजपुत्र ही राजसिंहासन पर विराजमान हो सकता है। वह चाहे बुद्धिमान् हो चाहे, बुद्धिहीन, वह लोगोंका शीर्षस्थानीय है और उसकी जो इज्जत है उसका सानी नहीं है। अध्यक्ष मन्त्रीके शब्द जब सम्राट्के मुखारविन्दसे प्रकट होते हैं तो उन शब्दोंका प्रभाव और गौरव बढ़ता है और वे शब्द प्रमाण समझे जाते हैं। यदि वे शब्द वास्तवमें विवेकपूर्ण हुए तो अध्यक्ष मन्त्री सम्राट्के विश्वासपात्र हो जाते हैं और उनकी लोकप्रियता बढ़ती है; परन्तु यदि ऐसा न हुआ तो सारा दोष अध्यक्ष मन्त्रीके माथे सम्राट्से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

आप चाहे भले ही कहें कि जापानियोंमें बुद्धि नहीं है और इस विषयमें वे निरे बुद्धू हैं। परन्तु वे मनुष्यप्राणी हैं। "अंगरेजका घर" नामक नाटकने राष्ट्रकी रक्षाके लिए अंगरेजोंको जैसे उत्तेजित कर दिया वैसी उत्तेजना किसी तर्क वितर्कसे न उत्पन्न होती। सर्वसाधारणका यह कायदा है कि

वे निराकारकी अपेक्षा साकार वस्तुसे अधिक अनुप्राणित होते हैं। परिवर्त्तनशील मन्त्रिमण्डलकी अपेक्षा उन्हें राज-सिंहासन ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है। किसी अंगरेजके अन्तः-करणपर कभी कभी "यूनियन फ्लैग"के दर्शनका जो प्रभाव पड़ेगा वह ब्रिटिश साम्राज्यसम्बन्धी देशभक्तिपूर्ण वक्तृताका नहीं पड़ सकता। मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है। जापानके इति-हासका सूक्ष्म अवलोकन करनेसे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि राजसिंहासनका वास्तवमें अनिर्वचनीय उपयोग होता है। धारा प्रवाहके साथ साथ बराबर राष्ट्रका पैर उन्नतिमार्गमें आगे बढ़ता जाना और किसी प्रकारकी उद्दण्डतापूर्ण राज्य-क्रान्तिका न होना राजसिंहासनके अस्तित्वका ही परिणाम है। राजनीति शास्त्रके गूढ़ सिद्धान्तोंका स्वप्न देखनेवाले संसारसे आँखें बन्द कर भले ही अपने विशुद्ध तर्कशास्त्रकी स्वरचित सृष्टिके स्वप्न देखनेमें मग्न रहें। पर राजनीति शास्त्रके विद्यार्थी तो मनुष्यस्वभावकी बातोंको नहीं भूल सकते।

द्वितीय परिच्छेद

सरदार-सभाकी अधिकार-मर्यादा

महाशय (अब वाइकाउन्ट) कानेको जोकि शासनविधानके निर्म्माताओंमेंसे एक हैं, बतलाते हैं कि, शासन-निर्माणकी सनद जब तैयार हो गयी तो अमलमें आनेके पहले उसकी एक प्रति इंग्लिस्तान जाकर हमने महाशय हर्बर्ट स्पेन्सरको दिखलायी; और स्पेन्सरने सनदकी कई बातोंकी खासकर सम्राट्-सत्ताके सुरक्षित रखनेके भावकी बहुत प्रशंसाकर कहा, "इस सङ्गठनका उपयोग अथवा दुरुपयोग जो कुछ हो, उसकी जिम्मेदारी राष्ट्रीयसभा के दोनों अंगोंके सिर रहेगी। प्रातिनिधिक शासनप्रणालीके प्रवर्त्तनका साहस करनेवाले और नवीन सङ्गठनका बेड़ा पार लगानेकी चिन्ता करनेवाले एक तरुण पूर्वीय राष्ट्रके प्रतिनिधिसे स्पेन्सर महाशयने जब ये शब्द कहे तब उनका क्या अभिप्राय था, हम नहीं जानते और न हम यही जानते हैं कि उस महान् पण्डितके इन शब्दोंसे कानेकोने क्या अभिप्राय समझा। परन्तु यदि कोई शासन-विधानको अच्छी तरहसे देखे तो उसे उसकी कार्यसाधनताका पता लगानेमें बहुत ही परेशान होना पड़ेगा।

हम यह पहले भी कह चुके हैं कि राष्ट्रसभाकी दोनों सभाओंके अधिकार बराबर हैं, परन्तु उनका संगठन भिन्न भिन्न प्रकारका है। बैजहाट महाशय कहते हैं कि "दो विषम स्वभाववाली सभाओंकी अधिकार-समानताका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष है। प्रत्येक सभा प्रतिपक्षीय सभाके प्रत्येक

विधानको रोक सकती है, और फिर बिना विधानके काम भी नहीं चलता है।" यदि एक सभा दूसरी सभाका विरोध कर बैठे तो व्यवस्थापनका कार्य ही आगे चल नहीं सकता। और संगठनमें कोई ऐसा उपाय भी निर्दिष्ट नहीं है कि जिससे एक सभा अपना निर्णय दूसरी पर लाद सके। ऐसी अवस्थामें व्यवस्थापन कार्यको पुनः ठिकाने ले आनेके लिए एक ही उपाय है और वह यह कि सरकार बीचमें दखल दे। जिस सरकारपर कि परिषद्का कोई ज़ोर नहीं। मन्त्रिमण्डल सम्राट्के अनियन्त्रित अधिकारका उपयोग कर काउण्टसे ऊँचे दर्जेके सरदार नियुक्त करके और सम्राट्के मनोनीत निर्वाचन द्वारा सरदार-सभामें अपना बहुमत कर काम निकाल सकता है। यदि प्रतिनिधि-सभाकी बात हुई तो मन्त्रिमण्डल उसे भङ्ग कर सकता है, जिससे कि पुनर्निर्वाचनमें ऐसे प्रतिनिधि निर्वाचित हो सकें जिनके राजनीतिक विचार पहले प्रतिनिधियोंसे भिन्न हों। परन्तु हर बार इस उपायसे काम नहीं चलता। क्योंकि यदि पुनर्वारके निर्वाचनमें वे ही प्रतिनिधि-निर्वाचित हो जायँ तो मन्त्रियोंको हाथ मलके ही रह जाना पड़ता है। और अगर कहीं दोनों सभाओं ने मिलकर सरकार-का विरोध किया तो क्या मन्त्री और क्या सम्राट् शासन-विधानके आधारपर कुछ भी नहीं कर सकते।

परन्तु इस परिच्छेदमें शासनविधानकी तात्त्विक बातोंका विचार नहीं करना है बल्कि यह देखना है कि प्रातिनिधिक शासनके २० वर्षोंके इतिहासमें व्यवस्थापक विभागकी एक शाखाके नाते सरदार-सभाकी क्या अधिकार मर्यादा रही है।

पहले ही यह समझ लेना अच्छा होगा कि जापानकी सरदार-सभाकी नयी सृष्टि की गयी है, इंग्लिस्तानकी लार्ड-

सभाके समान वह पहलेसे खाली नहीं आरही है। इसलिए लार्ड-सभाके समान इसमें इतनी गड़बड़ नहीं है। उसकी रूप-रचना देखिये तो लार्ड-सभासे वह अधिक सुसङ्गठित और विधिसंगत है, समाजके भिन्न भिन्न वर्गोंके प्रतिनिधियोंका समावेश भी इसमें अच्छा होता है। कुल ३६८ सभासदोंमेंसे १२७ तो ऐसे हैं जो सरदार नहीं हैं और सरदारोंमेंसे केवल $\frac{1}{5}$ को ही सरदार सभामें स्थान मिलता है।

जिन सरदारोंको अंगरेज़ सरदारों (लार्डों) के समान, सरदारसभामें बैठनेका अधिकार जन्मतः प्राप्त है ऐसे सरदार तीन प्रकारके होते हैं, राजवंशके (इम्पीरियल) प्रिन्स, प्रिन्स और मारक्विस। इनके अतिरिक्त और जितने सरदार हैं यथा काउण्ट, वाइकाउण्ट और बेरन, वे स्काटलैंडके सरदारोंके समान अपने अपने प्रतिनिधियोंको प्रति सात वर्षके उपरान्त निर्वाचित करते हैं। इन प्रतिनिधियोंकी संख्या सम्राट्के आज्ञापत्र द्वारा निश्चित रहती है जिसमें प्रत्येक श्रेणीके सरदारोंके प्रतिनिधि इसी हिसाबसे रहें कि सरदारोंकी संख्याके $\frac{1}{5}$ से उनकी संख्या अधिक न हो जाय। इस समय १७ काउण्ट, ७० वाइकाउण्ट और १०५ बेरन हैं जिनमेंसे ४० सम्राट्के मनोनीत हैं। अन्य सभासद "साधारण" हैं जिनमें से ८२ सम्राट्के मनोनीत और ४५ सबसे अधिक कर देनेवालों-के प्रतिनिधि हैं।

सबसे अधिक कर देनेवालोंके प्रतिनिधियोंका चुनाव यों होता है कि ७५ आदमी जो जमींदारी या व्यवसाय-वाणिज्य-पर सबसे अधिक कर देते हों, एक एक प्रतिनिधि चुनते हैं। यह निर्वाचन सात सात वर्षपर हुआ करता है। प्रतिनिधि प्रायः बड़े धनी जमींदार या व्यापारी होते हैं। ये लोग केवल

अपने धनकी बदौलत देशके बड़े बड़े मानी पुरुषोंके साथ साथ सरदार-सभामें बैठते हैं।

सम्राट्के मनोनीत सभासद वे लोग होते हैं जिन्हें सम्राट् किसी विशेष कारगुजारी या राज्यसेवाके पुरस्कारमें सरदार-सभाका आजीवन सभासद बनाते हैं। सम्राट् उन्हें मन्त्रियोंकी सम्मतिसे मनोनीत करते हैं और मन्त्री ही यह समझ सकते हैं कि कौन सभासद होने योग्य है और कौन नहीं। मन्त्री उन्हीं लोगोंको चुनते हैं जो कि इस पदके योग्य भी हैं और अपनी बात माननेवाले भी हैं। यह सम्भव नहीं है कि वे किसी ऐसे व्यक्तिको चुनें जिसके विचार कुछ दूसरे ही हों, चाहे वह धर्म्मविधान कार्यमें कितना ही निपुण क्यों न हो। हमारे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि मन्त्री स्वार्थी होते हैं। वह परिस्थिति ही ऐसी है कि उन्हें ऐसे ही आदमीको चुनना पड़ता है जो उनका सहायक हो।

यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि सम्राट्के मनोनीत प्रायः दूसरी श्रेणीके सरकारी कर्म्मचारी होते हैं। ये चाहे भूतपूर्व कर्म्मचारी हों या वर्त्तमान, राजदूत हों या सैनिक अफसर, या विश्वविद्यालयके अध्यापक—विश्वविद्यालय भी नीमसरकारी ही होते हैं—अथवा सरकारके गुमाश्ते (प्रतिहस्त), इन्हीं लोगोंमेंसे उक्त प्रकारके सभासद चुने जाते हैं। ये लोग समझदार और अनुभवी होते हैं और केवल पूर्वज परम्परा या लक्ष्मीकी बदौलत पद पानेवाले सभासदोंसे ये अधिक प्रभावशाली और योग्य होते हैं इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आख़िर वे स्वेच्छाचारी सरकारके ही कर्म्मचारी ठहरे, इसलिए सरकारसे विपरीत हो नहीं सकते।

इनकी संख्या घटती बढ़ती रहती है। १६४७ में अर्थात्

प्रथम अधिवेशनमें इनकी संख्या ६१ थी और इस समय १२२ है अर्थात् समस्त सभासदोंकी संख्याका एक तृतीयांश। कानून सिर्फ़ इतना ही बतलाता है कि सम्राट्के मनोनीत और सबसे अधिक कर देनेवालोंके प्रतिनिधि मिलाकर इनकी संख्या सरदारवर्गसे अधिक न होनी चाहिए। यही इसकी सीमा है, इसके अन्दर और कोई संख्या निर्धारित नहीं की गयी है।

अच्छा अब यह देखें कि सरदार-सभाका सभासद कौन नहीं हो सकता। शिन्तो धर्म्माचार्य, ईसाई पादरी और किसी धर्मके उपदेशक सभासद नहीं हो सकते। इसलिए इंग्लिस्तानकी लार्ड सभाके समान जापानकी सरदार-सभामें कोई धार्मिक सरदार नहीं है। दुश्चरित्र, दिवालिये, पागल और जन्ममूर्ख भी न प्रतिनिधि-सभाके सभासद हो सकते हैं, न सरदार-सभाके ही।

सभासदोंके लिए जो नियम हैं उनके पालनमें जितनी कठोरता प्रतिनिधि-सभा करती है उतनी ही सरदारसभा भी, क्योंकि दोनोंका कानून—राष्ट्रीयपरिषद्की सभाओंका कानून—एक ही है। प्रतिनिधि-सभासदोंके समान ही सरदार-सभाके सभासद भी सभाधिवेशनसे अनुपस्थित नहीं रह सकते, चाहे किसी अधिवेशनके कार्यमें उनका मन लगे या न लगे। उनकी उपस्थिति सभामें अनिवार्य्य है। राष्ट्रीय परिषद्के कानूनकी ८२ वीं धारा है कि, "किसी सभाका कोई सभासद अध्यक्षको योग्य कारणोंके सूचित किये बिना किसी सभा या समिति ग़ैरहाज़िर नहीं हो सकता।" अध्यक्ष उचित समझें तो सभासदको एक सप्ताहसे कमकी छुट्टी दे सकते हैं; एक सप्ताहसे अधिक छुट्टी देनेका अधिकार बिना सभाकी अनुमतिके अध्यक्षको नहीं है। इस

नियमका सम्यक् पालन इसलिए आवश्यक होता है कि सभामें कमसे कम तृतीयांश सभासद् उपस्थित रहें, क्योंकि इसके बिना सभाके समितिकी गणपूर्ति नहीं होती। सरदार प्रतिनिधि, सम्राट्-मनोनीत और सबसे अधिक कर देने-वालोंके प्रतिनिधि त्रैमासिक अधिवेशनका २००० येन (लग-भग ३०३७ रुपये) वेतन पाते हैं (इतना ही प्रतिनिधि-सभाके सभासदोंको भी मिलता है) और उनपर यह लाज़िमी है कि वे सभामें नियमपूर्वक उपस्थित रहें।

जिसका ऐसा सङ्गठन है और जिसमें ऐसे ऐसे सभासद् हैं, लोग कहेंगे कि यह सभा संयुक्त राज्योंकी सिनेट सभाके समान ही, प्रतिनिधि-सभासे मज़बूत होगी। परन्तु गत बीस वर्षोंका इतिहास यह नहीं बतलाता कि यह प्रतिनिधि-सभासे मज़बूत है या इसने उससे अधिक अधिकार चलाया है। इसके विपरीत, वह दुर्बल ही विशेष है। यह माना कि इसने कभी प्रतिनिधि-सभाकी अधीनता नहीं स्वीकार की, परन्तु इसकी नीति साधारणतः अप्रत्यक्ष और मौन ही रही है और अब भी वैसी ही है। इसने कभी वह उत्साह, उद्योग, चैतन्य और प्राणबल नहीं दिखलाया जो कि प्रतिनिधि-सभाने दिख-लाया है। यह ठीक है कि १९४९ वि० में इसने प्रतिनिधि-सभाके प्रतिवादकी कोई परवा न करके करादि बढ़ानेका अधिकार धारण कर लिया और सङ्गठनकी ४५ वीं धाराका सम्राट्से अभिप्राय प्रकट कराकर अपना अधिकार प्रमाणित भी करा लिया; और उसी प्रकार १९५८ में इसने इतोके मन्त्रि-मण्डलको जैसा तङ्ग किया था वैसा प्रतिनिधि-सभाने भी आजतक किसी मन्त्रिमण्डलको तङ्ग नहीं किया है। परन्तु पहले उदाहरणमें सरदार-सभा प्रतिनिधि-सभाका घोर विरोध

इस कारण कर रही थी कि प्रतिनिधि-सभाको सरदार-सभाके उस पूर्वप्राप्त अधिकारसे इन्कार था जो कि सङ्गठनने उसे दिया था अथवा यों कहिये कि सङ्गठनके निर्मातात्रों-ने देना चाहा था। दूसरेमें यह बात थी कि इतोने "मन्त्रि-मण्डलकी स्वाधीनता" का सिद्धान्त छोड़ दिया था इसलिए सरदार-सभा बजटके अंक कम करके इतोके मन्त्रिमण्डलको तङ्ग कर रही थी; परन्तु इस झंझट और परेशानीका अन्तमें परिणाम क्या हुआ सिवाय इसके कि बिल पास होनेमें विलम्ब हुआ।

इन दो विशेष अवसरोंको छोड़कर और किसी अवसर-पर प्रतिनिधि-सभासे या मन्त्रि-मण्डलसे सरदार-सभाकी टक्कर नहीं हुई। जबतक मन्त्रि-मण्डल परिषद्के अर्थात् प्रति-निधि-सभाके अधीन नहीं है तबतक सरदार-सभा उससे झगड़कर सिवाय परेशानीके और कुछ पा नहीं सकती, क्योंकि उसके प्रभावशाली सभासदोंमें ऐसे ही बहुत निकलेंगे जो राज-कर्मचारियोंके ही अधिक समानशील हैं। वह प्रति-निधि-सभासे भी उसी महत्त्वके प्रश्नपर नहीं झगड़ सकती क्योंकि मन्त्री स्वयं ही प्रतिनिधि-सभासे लड़ा करते हैं। यदि प्रतिनिधि-सभा कोई भारी प्रस्ताव पास कर देती है और सरकार भी उससे सहमत है तो सरदार-सभाको भी अनुकूल सम्मति देनी ही पड़ती है।

इस समय तो सरदार-सभा सरकारके ही तन्त्राधीन मालूम होती है। प्रतिनिधि-सभासे जो प्रस्ताव पास होकर आते हैं उसमें यह सभा प्रायः कुछ न कुछ ऐसा संशोधन करती ही है कि जिससे सरकारको सुभीता हो, या उस प्रस्ताव-पर विचार करनेमें विलम्ब करती है या उसे नामंजूर ही कर

देती है। इससे यह न समझना चाहिए कि सरदार-सभा सरकारकी आज्ञाका पालन ही किया करती है और स्वयं कोई काम नहीं करती। यहाँ हम उसकी सामान्य कार्यनीति देख रहे हैं, न कि विशेष अवसरोंपर किये गये उन विशेष कार्यों को जिनमें सरदार-सभा बहुधा मन्त्रि-मण्डलसे बिलकुल अलग रही है। तथापि उसके बहुसंख्यक सभासद ऐसे हैं जिनके विचार सरकारी कर्मचारियोंके विचारोंसे अधिक मिलते हैं और यही कारण है कि सरदार-सभाको सरकारसे सहानुभूति रखकर उसकी सहायता करनी ही पड़ती है।

प्रतिनिधि-सभासे सरदार-सभामें चैतन्य कम है। यह बात इसी बातसे प्रकट है कि सरदार-सभाका कार्य बहुत अल्प समयमें हो जाता है। उसका नित्य अधिवेशन एक घण्टेसे अधिक नहीं होता और प्रतिनिधि-सभाका अधिवेशन कमसे कम तीन चार घण्टे होता है। इन दोनों सभाओंकी परिस्थिति परस्पर कितनी भिन्न है इसका वर्णन एक समाचारपत्रने यों किया है, "दोनों सभाओंके दृश्य परस्पर कितने भिन्न हैं! कहाँ प्रतिनिधि-सभाकी दाँताकिटकिट, कोलाहल और उत्तेजनापूर्ण वाद-विवाद और कहाँ सरदार-सभाकी शान्त, सम्भ्रान्त और सूत्रवत् वक्तृताएँ। यदि कोई एक सभासे बीचकी दीवारको लाँघकर दूसरीमें प्रवेश करे तो उसे वसन्तकी बहार और शिशिरकी पतझड़ या दिन और रात का भेद दिखाई देगा। सरदार-सभामें तो ऐसा मालूम होता है कि मानो वक्ताको बात जल्दी समाप्त करनेकी चिन्ता लगी हुई हो और सुननेवाले भी इस फ़िक्रमें हैं कि किसी तरह यह व्याख्यान शीघ्र समाप्त हो।" व्यवस्थापक-सभाका तो वाद-विवाद ही प्राण है। वाद-विवाद जितना ही कम

होगा उतना ही उसका प्रभाव कम होगा और अधिकारका उपयोग भी उसी हिसाबसे कम होगा।

सरदार-सभामें कोई सुसङ्गठित राजनीतिक दल नहीं है इससे भी उसकी दुर्बलता और अकर्मण्यता प्रकट होती है। सभामें दल तो कई एक हैं, यथा, केङ्किउक्वाई, मोकुओक्वाई, दोयोक्वाई, चिआवाक्वाई-फुसोक्वाई इत्यादि, परन्तु ये राजनीतिकदल नहीं हैं—राजनीतिक कारणसे यह दलविभाग नहीं हुआ है बल्कि सामाजिक मानमर्यादा, पदवी या प्रतिष्ठाके कारणसे है। तत्वतः सरदार-सभाको कितना ही बड़ा अधिकार क्यों न हो, वह उसका उपयोग तबतक नहीं कर सकती जबतक कि वह प्रतिनिधि-सभाका अनुकरण कर अपने सब सभासदोंमेंसे चुने हुए लोगोंकी एक सामान्य समिति नहीं बना लेती। सुसङ्गठित राजनीतिक दलोंके लाभालाभके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहना है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सुसङ्गठित राजनीतिक दलोंके बिना कोई विविध-विचारयुक्त और विशाल प्रातिनिधिक संस्था केवल बहुमतसे ही किसी कार्य विशेषके लिए सम्मिलित उद्योग करनेमें समर्थ नहीं हो सकती।

व्यक्तिशः देखिए तो सरदार-सभाके सभासद प्रतिनिधि-सभाके सभासदोंसे योग्यता अथवा प्रभावमें कम नहीं होते, पर समष्टि रूपसे सरदार-सभाकी योग्यता और कार्यकुशलता कम ही है इसे कोई अस्वीकार न करेगा। सरदार-सभाका कोई सभासद लीजिए, उसकी पदवी सरकार-दरबारमें उसकी प्रतिष्ठा और उसकी धनवानताका परदा उसपरसे हटा दीजिए और प्रतिनिधि-सभाके किसी सभासदसे उसको मिला देखिए। लोगोंकी दृष्टिमें वह प्रतिनिधि-सभाके सभा-

सदके सामने बिलकुल ही दब जायगा, वह उससे बड़ा आदमी भले ही हो पर एक व्यवसायके नाते लोग उसे विशेष महत्त्व नहीं देते। "डेली-टेलीग्राफ" पत्रका वाशिङ्गटनस्थ संवाददाता लिखता है, "संयुक्तराज्योंमें सिनेटर बड़ा आदमी समझा जाता है, कांग्रेसका सभासद कुछ नहीं।" यह एक आश्चर्यकी बात मालूम होती है क्योंकि कांग्रेसका सभासद तो सर्वसाधारण द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे निर्वाचित होता है और सिनेटका निर्वाचन प्रत्यक्ष रूपसे नहीं होता। पर जब सिनेटका असाधारण अधिकार और प्रभाव हम देखते हैं तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता। सिनेटमें वमोण्ट और ओक्लामा जैसे छोटे छोटे राज्य भी न्यूयार्क या पेन्सिलवानियाके बड़े राज्योंके साथ ही समान ही सम्मान और अधिकारके भागी होते हैं; परन्तु कांग्रेसमें सब छोटे छोटे राज्य मिलकर भी न्यूयॉर्क या पेन्सिलवानियाकी बराबरी नहीं कर सकते। साठ सत्तर वर्ष पहले 'राज्याधिकार' का प्रश्न उठा था और सिनेटमें ही उसका निर्णय हुआ था और आज भी सिनेट ही राष्ट्रीय व्यवस्थापनका केन्द्र है। इसलिए प्रत्येक राज्यके (संयुक्त राज्यान्तर्गत) अधिवासियोंका हिताहित जितना उस राज्यके सिनेटरोंपर निर्भर है उतना कांग्रेसवालों पर नहीं। जापानमें सरदार-सभा केवल सार्वजनिक निर्वाचनसे ही बरी नहीं है वल्कि व्यवस्थापन कार्यमें वह शायद ही कभी लोगोंका पक्ष लेती हो। इसलिए लोग उस सभाका समाचार जाननेके लिए उत्सुक नहीं रहते।

एक बार हमने किसीको यह कहते सुना था कि "अंगरेज लार्ड सभाके क्षीण वल होनेका एक कारण यह भी है कि उसमें मज़दूर दलके कोई प्रतिनिधि नहीं हैं।" इस चमत्कारजनक

अभिप्रायमें कुछ सत्यांश भी है। जिस प्रतिनिधिको लोगोंने चुना है और जिसने लोगोंका हित करनेमें अपनी शक्ति खर्च करनेकी प्रतिज्ञा की है वह उचित या अनुचित किसी न किसी प्रकारसे उद्योग अवश्य ही करता रहता है, और लोग भी उसके कार्योंपर दृष्टि लगाये रहते हैं क्योंकि उसके लिए अपनी इच्छा देशपर प्रकट करनेका तो एकमात्र वही साधन है। लार्ड सभाके सभासद्का किस्सा दूसरा है। वह किसीका प्रतिनिधि नहीं है, अपनी बुद्धिके अनुसार राष्ट्रके लिए कुछ करना चाहिए इसी भावसे वह जो कुछ करे उतना ही बहुत है। लाइसन्स बिल या शिक्षासम्बन्धी विधान जैसे प्रस्तावों-का विरोध करते हुए इनके चैतन्यका सञ्चार हो भी जाय तो लोगोंकी अनुकूलता उन्हें तबतक नहीं प्राप्त हो सकती जबतक कि उनके विरोध करनेका कोई सत्य कारण न हो। तात्पर्य यह कि प्रातिनिधिक व्यवस्थापक सभाकी शक्ति उसके पृष्ठ-पोषक लोगोंके संस्था बलपर निर्भर करती है। सरदार-सभा-में सर्वसाधारणकी ओरका कोई प्रतिनिधि नहीं है। अतएव यह सभा बहुत दृढ़ या बहुत सामर्थ्यवान नहीं हो सकती।

यह एक प्रकारसे देशका सौभाग्य ही है कि सरदार-सभा बहुत दृढ़ नहीं है। तत्वतः प्रतिनिधि-सभा के समान अधिकार इसको भी प्राप्त हैं और इसकी परिस्थिति भी बड़े सुभीते की है। यदि यह बहुत दृढ़ हो जाय तो यह प्रतिनिधि सभाका बल तोड़ सकती है या ऐसा सङ्घर्ष उपस्थित कर सकती है कि संगठन शासन ही स्थापित हो जाय। स्पेन्सर महोदय ने कानेकोसे जब परिषद्की दोनों सभाओंकी जिम्मेदारी की बात कही थी तब शायद उन्हें भी यही आशङ्का हुई थी।

परन्तु एक बातमें सरदार-सभाका सिर ऊँचा है, वह यह

कि, ज़मीन जगह वगैरहमें उनका कोई स्वार्थ नहीं है, उनमें कोई धार्मिक झगड़े नहीं हैं और स्थानीय अथवा पक्षपात-जन्य कलह भी कुछ नहीं है।

इंग्लिस्तानमें जब कभी जमीन और जमीनके लगान या करका प्रश्न उपस्थित होता है तो लार्ड सभा बेचैन हो जाती है, यद्यपि अर्थ सम्बन्धी बिलोंमें परिवर्त्तन करनेका उसे कोई अधिकार नहीं है। आस्ट्रिया और प्रशियाके सरदार-मण्डलोंकी यही दशा है। और इन सब महान् पुरुषोंकी सभाओंमें धर्म्म-सम्बन्धी कलह तो बहुत ही भयङ्कर होते हैं। संयुक्त राज्यकी सिनेट-सभामें और स्विज़रलैंडकी स्टेट-कौन्सिलमें स्थानीय अथवा पक्षभेद जनित विवाद बहुत तीव्र होते हैं। परन्तु सौभाग्यवश जापानकी सरदार-सभा इन सब मुसीबतोंसे बची हुई है।

सरदार-सभामें, सबसे अधिक कर देनेवाले बड़े बड़े जमींदारोंके भी प्रतिनिधि हैं पर जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सभामें इनका कुछ भी प्रभाव नहीं है। सभामें, बस ये ही जमींदार हैं, और नहीं। हमारे पुराने सरदार जोकि पहले तालुकेदार थे उनके तो अब कोई जयदाद नहीं है। उन्होंने अपनी सब रियासत पुनः स्थापनाके समय सम्राटको दे दी। सच पूछिये तो सरदार-सभासे प्रतिनिधि-सभाहीमें जमीनसे सम्बन्ध रखनेवाले अधिक हैं।

यह भी एक विशेषता है कि जापानके पुराने सरदार लोग बहुत धनी नहीं हैं और व्यवसाय-वाणिज्यकी ओर भी उनका बहुत ही कम ध्यान है। जो नवीन सरदार बनाये गये हैं उनमें कुछ बहुत धनाढ्य हैं और उनके बड़े बड़े कारोबार हैं; परन्तु

सभामें अभी उनका भी कुछ प्रभाव नहीं है। इस प्रकार सभा अभी लक्ष्मीपुत्रोंके प्राधान्यके गड़बड़से बची हुई है।

यूरोपियनोंको यह देखकर कुछ आश्चर्य्य जरूर होगा कि हमारे यहाँ जापानमें सरदार-सभामें न तो कोई धार्मिक झगड़े हैं और न स्थानिक प्रश्नोंपर ही विशेष कलह होता है। जापानके राजकाजमें; क्या सरदार-सभामें और क्या प्रतिनिधि-सभामें, पक्षाभिमान शायद ही कभी प्रकट होता हो। उसी प्रकारसे जापानके राजकाजसे 'धर्म' बिलकुल ही हटा दिया गया है। जापानियोंके सजातित्व, समान आचार विचार और राष्ट्रके अविशाल क्षेत्रताने जापानको इन सब आपत्तियोंसे बचाया है।

परन्तु यह नहीं है कि सरदार-सभा कुसंस्कार और दुराग्रहसे बिलकुल ही बची हो। सरदारोंका व शासकोंका अपने बड़प्पनका भाव, इस समय जापानके अन्तःराज-काजका सबसे बड़ा दोष है और सरदार-सभामें यही भाव प्रधान है।

जापानके शासनमें अधिकारीवर्ग—शासकवर्गका प्राधान्य ही मुख्य अङ्ग है। राजकर्मचारियोंका अमर्यादित अधिकार है, उन्हींकी सब बात और इज्जत है। उन्हींके लिए, उनके लड़कों और रिश्तेदारोंके लिए ही राज्यके सब आनन्द हैं; इस प्रकार-वे सर्वसाधारणमें वास नहीं करते हैं, बल्कि उनसे पृथक् रहते हैं। वे देशकी सेवा नहीं करते, बल्कि उसपर हुकूमत करते हैं। वास्तवमें अब भी कई ऐसे राजकर्मचारी मिलते हैं जो मनमें इसी बातको जमाये हुए हैं कि, "लोग सरकारके भरोसे रहें, पर सरकार क्या करती है सो जानने न पावें।" बहुतसे जापानी राजकर्मचारी 'पद-मर्य्यादा' की बड़ी लम्बी बातें करते हुए दिखाई देते हैं। वे युक्तिसे नहीं बल्कि "पद-

मर्य्यादा" से देशका शासन करना चाहते हैं। अभी थोड़े दिनकी बात है कि सरकार समस्त राजकर्मचारियोंको यूनि-फार्ममें रखनेका विचार कर रही थी; क्योंकि ऐसा करनेसे 'पद-मर्यादा'की रक्षा होगी। अधिकारपदकी मर्यादा भी एक गुण है यह हम मानते हैं, और राजकर्मचारीमें उसका होना भी आवश्यक है। परन्तु 'पदमर्यादाके शासन' का अर्थ तो यही है कि लोग सिर्फ़ ताबेदारी किया करें। इससे लोगोंकी स्वशासनशक्तिका बढ़ना रुक जाता है और राजकर्मचारियों-की एक नयी जाति ही पैदा हो जाती है जिसका होना प्राति-निधिक शासनप्रणालीके सर्वथा प्रतिकूल है।

इस समय जापानमें शासकधर्मका ऐसा प्राधान्य और अधिकार हो गया है कि बहुतसे राजनीतिक निराशावादी हमारी प्रातिनिधिक संस्थाओंका भविष्य सोचकर उदास हो जाते हैं और कहते हैं कि जापानमें सङ्गठनात्मक शासनप्रणाली न चल सकेगी। सरदार-सभा इस दुरवस्थाको घटानेके बदले और बढ़ाती है। सभाके अधिक सभासद अर्थात् नवीन सरदार और सम्राट्के मनोनीत सभासद जोकि सर्वथा स्वतन्त्र सरकारकी ही बदौलत सरदार-सभामें स्थान पाते हैं, स्वभावतः ही उस सरकारसे सहानुभूति रखते और जाने या बेजाने प्रतिनिधि-सभाकी शक्ति घटाने तथा शासकवर्गको दृढ़ करनेमें बहुत बड़ी मदद करते हैं। इस प्रकार सङ्गठना-त्मक शासनकी प्रगतिके मार्गमें सरदार-सभा बड़ी भारी रुकावट है।

किसी पार्लमेण्टकी द्वितीय सभा या सरदार-सभाका यही उपयोग होता है कि निम्न सभाके आकस्मिक प्रस्तावोंके पास होनेमें विलम्ब करे या उनमें संशोधन या संस्कार करे।

परन्तु सरदार-सभा इस मसरफ़की भी नहीं है। यह सही है कि कभी कभी वह इन कामोंको करती है, परन्तु इस समय तो इस बातकी कोई आशङ्का ही नहीं है कि प्रतिनिधि-सभाके बहुमतकी अधीरता या उग्रतासे शासनचक्रकी गति ही बदल जाय। सरकार जो प्रतिनिधि-सभासे बिलकुल आज़ाद है, वह स्वयं ही यदि "बहुमतका अत्याचार" हो तो उसे रोकनेमें समर्थ है। इस समयकी शासनप्रणालीमें जो कुछ आपत्ति है वह प्रतिनिधि-सभाके बहुमतकी, आक्रमणकारिता नहीं, बल्कि मन्त्रियोंकी पूर्ण स्वेच्छाचारिता असाधारण सत्ता अथवा यों कहिये कि, शासकवर्गकी बुराइयाँ ही हैं। इसका इलाज सरदार-सभा कदापि नहीं कर सकती। जबतक मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधि-सभाके अधीन नहीं होता, तबतक सरदार-सभाकी वास्तविक उपयोगिताकी क़दर नहीं हो सकती।

तृतीय परिच्छेद

मन्त्रिमण्डल और राजनीतिक दल

हमारे शासनविधानकी सनद्का वचन है कि सम्राट राष्ट्रीय परिषद्की सम्मतिसे व्यवस्थापनके अधिकारका उपयोग करते हैं। अंगरेजी सङ्गठनका विधिवद्ध वचन यह है कि प्रत्येक विधि पार्लमेण्टकी सम्मति और स्वीकृतिसे इंग्लिस्तानके राजा द्वारा निर्मित होती है। परन्तु इन दोनों विधिवचनोंमें वास्तविक स्थितिका निदर्शन नहीं होता। महाशय सिडनी लो लिखते हैं, "कामन्स सभामें बहुमतकी सम्मति और अल्पमतकी असम्मतिसे मन्त्रिमण्डलद्वारा नये कानून बनाये जाते हैं। राजाको इसमें कुछ भी नहीं करना पड़ता, और लार्ड सभा को जो कुछ करनेका अधिकार है वह बहुत ही अल्प है—महत्वके अवसरों पर उसका बहुत ही कम उपयोग होता है। वह अधिकार प्रस्तावित कानूनके बननेमें विलम्ब कर सकने मात्रका है। विरुद्ध दल हर तरहसे विरोध करता रहता है परन्तु इससे अधिक कुछ कर नहीं सकता: और गैरसरकारी पक्षके नेता कानूनके कार्यक्रममें (सिद्धान्तमें नहीं) कुछ परिवर्त्तन करा लेनेके अतिरिक्त और कोई बात करनेमें असमर्थ होते हैं।" इंग्लिस्तानके समान जापानमें भी मन्त्रिमण्डल ही वास्तविक शासन और व्यवस्थापनका मुख्य सूत्रधार है। परन्तु इन दो देशोंका, मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापन सभाओंका परस्पर-सम्बन्ध अवश्य ही भिन्न भिन्न है।

इंग्लिस्तानमें साधारण निर्वाचनमें बहुसंख्यक निर्वाचकोंकी प्रत्यक्ष इच्छाके अनुसार जिस दलका बहुमत कामन्स सभामें

होता है उसी दलका मन्त्रिमण्डल बनता है। अतः मन्त्रि-मण्डल भी पार्लमेंटके बहुमतसे अपनी नीतिको कार्यान्वित करनेमें समर्थ होता है। निर्वाचनके समय निर्वाचकोंकी यह प्रतिज्ञा प्रकट हो जाती है कि वे सरकारके प्रस्तावोंको वोट (मत) देंगे। पर जापानमें प्रतिनिधि-सभाके राजनीतिक दलों-से मन्त्रिमण्डलका निर्माण नहीं होता। इसलिए यह कोई नहीं कह सकता कि मन्त्रिमण्डलकी नीतिको प्रतिनिधि-सभा-में बहुमत प्राप्त होगा—हो भी सकता है और नहीं भी। तथापि जबतक राष्ट्रीय परिषद् वर्त्तमान है तबतक सरकारके लिए यह आवश्यक है—हर हालतमें आवश्यक है—कि प्रति-निधि-सभामें उसे बहुमत प्राप्त हो क्योंकि उसके बिना उसका काम ही नहीं चल सकता।

अब यह प्रश्न उठता है कि, इस बहुमतको प्राप्त करनेके लिए मन्त्रिमण्डल क्या उपाय करती है? क्या सदैव प्रति-निधि-सभाके सभासदोंको खुश करनेसे यह बहुमत मिल जाता है? यदि नहीं तो कैसे और किस उपायसे? क्या कोई ज़बरदस्ती की जाती है या दबाव डाला जाता है, या आग्रहसे काम लिया जाता है अथवा कोई अनुचित कार्यवाही होती है?

किसी भी सुसङ्गठित राज्यके राजनीतिक दलों और मन्त्रिमण्डलके परस्पर-सम्बन्धका ठीक ठीक वर्णन करना बड़ा ही कठिन काम है। विशेष करके जापानके सम्बन्धमें, जहाँ कि सङ्गठनात्मक शासन अभी बाल्यावस्था में है। ऐसी अवस्थामें इस समय मन्त्रिमण्डल और राजनीतिक दलोंका परस्पर-सम्बन्ध क्या है सो बतलानेके लिए पहले यह बत-लाना होगा कि यह सम्बन्ध पहले क्या था, फिर, वर्त्तमान सम्बन्ध क्या है तो ठीक ठीक ज्ञात हो जायगा। इसलिए इस

विषयको हम ऐतिहासिक दृष्टिसे देख लें अर्थात् जापानकी प्रातिनिधिक संस्थाके २० वर्षके इतिहासका सिंहावलोकन करके कालानुक्रमसे देखें कि मन्त्रिमण्डल और राजनीतिक दलोंका परस्पर-सम्बन्ध क्या रहा है।

ऐतिहासिक घटनाक्रम

जापानकी प्रातिनिधिक संस्थाओंके इन २० वर्षोंके इतिहासमें मुख्यतः राजनीतिक दलोंके साथ मन्त्रिमण्डलके झगड़ेका ही वर्णन है। मन्त्रिमण्डल इसलिए झगड़ता रहा कि शासनाधिकार अपनी ही मुट्ठीमें रहे और राजनीतिक दल इसलिए कि उस अधिकारको छीन लें। परन्तु यह लड़ाई राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनासे अर्थात् सं· १६४७ से ही नहीं आरम्भ हुई है। इसकी जड़ तो प्रातिनिधिक शासन-प्रणालीके आन्दोलनके आरम्भमें ही दिखाई देती है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सात्सुमा, चोशिऊ, तोसा और हिज़न, इन चार पश्चिमी दामिओंके प्रधान उप-नायकोंने अपने मालिकोंकी सहकारितासे पुनः स्थापनाके कार्यमें अग्रभाग लिया था और यही कारण है कि नवीन शासनव्यवस्थामें सब बड़े पदोंपर इन्हीं चार दामिओंके लोग आ गये। परन्तु सं० १६३० में कोरिया-प्रकरणके कारण कौन्सिलमें जो फूट पड़ गयी उससे सात्सुमा और चोशिऊ वालोंके ही हाथमें सब सत्ता आ गयी, और इसीके साथ साथ कौन्सिल छोड़कर बाहर आये हुए लोगोंने सङ्गठनान्दोलन आरम्भ कर दिया जो सत्रह वर्ष बाद राष्ट्रीय परिषद्के रूपमें परिणत हुआ। इस प्रकार राष्ट्रीय परिषद्की स्थापनाके पूर्व १७ वर्ष इन दो दलोंमें बराबर लड़ाई होती रही, जो

सरकारी कार्यौंसे पृथक् हुए थे वे अधिकार पानेके लिए झगड़ रहे थे और जो अधिकारी थे वे अधिकारकी रक्षा करनेके लिए लड़ रहे थे। पूर्वोक्त पुरुषोंने राजनीतिक दल कायम किये और सरकारको डराने लगे, अन्य अधिकारियोंने अधिकारिवर्ग कायम कर लिया और शासनकार्य अपने हाथमें कर लिया।

जब सङ्गठनात्मक शासन प्रवर्त्तित हो चुका तब तो यह झगड़ा और भी बढ़ गया। अबतक तो अधिकारिवर्गके नेताओंको कोई रोकनेवाला न था और वे, हर तरहसे राजनीतिक दलोंको दबा देनेकी चेष्टा करना बायें हाथका खेल समझते थे; यदि दलोंने बहुत उपद्रव किया तो ये अधिकारी पुलिसके असाधारण अधिकार-बल और कठोर कानूनकी सहायतासे इन दलोंको तोड़ देते और उन्हें निर्बल कर देते थे। परन्तु राष्ट्रीय परिषद्की स्थापना हो जानेसे राजनीतिक दलवालोंको कमसे कम सभाधिवेशनमें बोलनेकी स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी और सरकारकी नीति और कार्यौंकी तीव्र आलोचना करने और उनमें दखल देनेका उन्हें अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। तब अधिकारिवर्गने एक नवीन सूत्रका आविष्कार किया जिसे शोजुनशुगी अर्थात् "सरकारकी स्वाधीनता" कहते हैं। इस सूत्रका अभिप्राय, एडमण्डबर्कने तृतीय जॉर्जके शासनकालमें जिस "कैबाल"* सूत्रका वर्णन किया है उसके अभि-

---

* द्वितीय चार्ल्सके शासनकालमें Clifford, Ashby, Buckingham, Arlington और Lauderdale इस पञ्चायतका एक मन्त्रिमण्डल बना था (१७६०)। प्रत्येक मन्त्रीके नामका प्रथमाक्षर लेकर इस मण्डलका नाम Cabal या कैबाल रखा गया था। यह मन्त्रिमण्डल बड़ा ही कुचक्री था और इसलिए तबसे कैबाल शब्द कुचक्रियोंकी कौन्सिलके अर्थमें ही व्यवहृत होता है।

प्रायसे मिलता जुलता है। एडमण्डवर्कने इस कैबालके सिद्धान्त-सूत्रका अभिप्राय लिखा है कि, "राजनीतिक सम्बन्ध पक्षभेदमूलक होते हैं, इसलिए इनको तोड़ही डालना चाहिए; राज्यव्यवस्था केवल उस व्यक्तिगत योग्यतासे हुआ करती है जो कैबालकी बुद्धिमें जँचे, और जो सार्वजनिक कार्यकर्ताओं-के प्रत्येक भाग और श्रेणी द्वारा गृहीत की गयी हो।"

"इतो" इस समय प्रिवी कौन्सिलके प्रेसीडेण्ट थे और सङ्गठनके स्वीकृत होनेसे चार ही दिन पहले उन्होंने प्रान्तिक समितियोंके अध्यक्षोंकी सभामें कहा था कि, "जब लोगोंमें राजनीतिक विचारोंका प्रचार होता है तब यदि राजनीतिक दल उत्पन्न हों तो इसका कुछ भी इलाज नहीं है, और यदि राजनीतिक दल वर्त्तमान हैं तो परिषद्में लड़ाई झगड़े लगे ही रहेंगे। परन्तु सरकारके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह किसी राजनीतिक दलसे सम्बन्ध न रखे। राज्यकी राज-सत्ता सम्राट्के हाथमें है और इसलिए किसी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध न रखकर उसका उपयोग किया जाना चाहिए जिसमें कि प्रत्येक प्रजाजनका 'समान आदर और कल्याण' हो। यदि सम्राट्की सहायता करते हुए शासनकार्य करनेवाले मन्त्री ही राजनीतिक दलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखें तो उनके लिए यह निष्पक्षता स्थिर रखना असम्भव है।'

इस सूत्रकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे अध्यक्ष मन्त्री कुरोदाने प्रान्तीय शासकोंकी परिषद् निमन्त्रित की और शासकोंको ताकीद की कि वे किसी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध न रखें। उसी वर्षके दिसम्बर मासमें जब कुरोदाके बाद यामा-गाता प्रधान मन्त्री हुए तब फिर प्रान्तीय शासकोंको ताकीद

कारके पक्षवालोंको १३० स्थान मिले और विरुद्ध पक्षको १७०। यह एक बड़े मार्केकी बात है कि जो लोग सरकारके विरुद्ध थे उनके पक्षका नाम 'मिन्तो' अर्थात् लोकपक्ष पड़ गया था, और जो सरकारके पक्षमें थे उन्हें 'रितो' या राज-पक्ष कहा जाता था। लोकपक्षमें लगभग १३० सङ्गठनपक्षीय उदारमतवादी और ४० प्रागतिक थे, और राज-पक्षमें लगभग ७० प्राचीनताप्रिय, ३५ कट्टर प्राचीनताप्रिय और २१ स्वच्छन्दतावादी थे। इसलिए परिषद् के पहले ही अधिवेशनमें, जो कि संवत् १६४७ में (२५ नवम्बर १८६० को) हुआ था, विरुद्ध पक्षसे सरकारको अपनी अल्प संख्याके साथ ही सामना करना पड़ा। जिस सभाके अधिकांश सभासद सरकारके विरोधी थे उस सभाका नियन्त्रण करना वास्तवमें सरकारके लिए बड़ा ही कठिन काम था। सरकारकी नीतिको लक्ष्य करके प्रश्न पर प्रश्न, आलोचना पर आलोचना और आक्रमणपर आक्रमण किये जाने लगे। और राजनीतिक दलोंके दमन करनेमें कारगर होनेवाले मानहानि, शान्तिरक्षा, सार्वजनिक सभासमिति आदिके कानूनसे सरकारका कुछ भी काम न निकल सका। यही नहीं, बल्कि प्रतिनिधि-सभाने शान्ति-रक्षा कानूनको उठा देने और सभासमितिवाले कानूनका संशोधन करनेके लिए एक एक बिल भी पास किया। इन दोनों बिलोंको सरदार-सभाने नामंजूर किया। पर यहीं झगड़ा समाप्त नहीं हुआ। सरकारको अब अपना सब आयव्यय एक ऐसी सभाके सामने स्वीकृतिके लिए पेश करना था जोकि सरकारके बलको ही तोड़ देने पर तुली हुई थी।

आयव्ययकी जाँच करनेवाली प्रतिनिधिसभाकी कमेटीने पहले ही ८ करोड़ ३३ लाख २० हजारके सरकारी

खर्चके चिट्ठेमेंसे ८८ लाख ८० हजार घटा दिया और यह संशोधित बजट सभाके पास भेजा। तब समस्त सभाकी कमेटीने सरकारकी धमकियोंकी कोई परवाह न करके यह संशोधित बजट स्वीकृत कर लिया। तब तो सरकार और प्रतिनिधि सभाके बीच घोर विवाद आरम्भ हुआ। राजपक्षके सभासदोंने बिलको आगे न बढ़नेके लिए खूब उद्योग किया, और साथ साथ सरकारने न केवल सभा भङ्ग करनेकी धमकी दी, बल्कि कहते हैं कि उसने वालपोलकी कूटनीतिका अवलम्बन किया* ।

अन्तको सरकारने ८८ लाख ८० हजारके बदले ६३ लाख ७० हजार ग्रेन आनुमानिक व्ययके बजटमेंसे घटाना मंजूर कर लिया; तब मेल हुआ और प्रथम अधिवेशन शान्तिपूर्वक समाप्त हुआ। हमारे एक मित्र इस अधिवेशनके समय प्रति-निधि-सभाके सभासद थे। उन्होंने सरकारके मेल पर राजी होनेका यह कारण बतलाया कि अधिकारिवर्ग तथा सभाके कई सभासदोंको यह भय था कि यदि पहली ही बार सभा भङ्ग हो गई तो विदेशी समालोचक हमें खूब आड़े हाथों लेंगे†। इस भयने कहाँ तक परिषद्का प्रथम अधिवेशन

---

* वालपोल—पूरा नाम सर राबर्ट वालपोल। ये संवत् १७७८ से १७९९ तक अर्थात् २१ वर्ष इंग्लिस्तानके प्रधान मन्त्री रहे। इनके आयव्ययप्रबन्धकी इतिहासमें, बड़ी ख्याति है। इनकी वैदेशिक नीति भी प्रशंसनीय था। परन्तु पार्लमेंटमे अपना बहुमत करानेके लिए ये सभासदोंको रिश्वत दिया करते थे। यही बड़ा भारी ऐब था।

† वाइकाउण्ट क्ररनेको जोकि इस समय सरदार-सभाके सभासद थे, लिखते हैं, "जापानमें संगठनात्मक शासन प्रवर्तित होनेके समय कई यूरोपियनोंने जापानकी इस कार्यवाहीका यह कहकर उपहास किया था कि संगठनात्मक शासन प्रणाली एशियाई राष्ट्रमें नहीं चल सकती, यह तो उत्तरीय यूरोपके शान्त मस्तिष्कवालोंहीका

शान्तिपूर्वक समाप्त करनेमें मदद की है इस पर हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं। परन्तु जापानके राजकाजको अध्ययन करते हुए हम इस बातको कदापि भूल नहीं सकते कि हमारे राष्ट्रीय जीवनमें जब जब कोई विपत्ति आ पड़ती है तब तब राजकाजमें राष्ट्रीय गौरवका भाव ही प्रधान होता है।

परन्तु बजटमें व्ययका इतना घटाया जाना शासनकार्य्य चलानेवालोंपर तो वज्रपात ही था। यामागाता मन्त्रिमण्डल-को परिषद्के प्रथम अधिवेशन कालमें बड़ी ही दिक्कत उठानी पड़ी। यहाँ तक कि ज्योंही परिषद्का कार्यकाल समाप्त हुआ त्योंही यामागाताने, और उनके बाद काउण्ट मात्सुकाताने भी पदत्याग कर दिया।

परिषद्का दूसरा अधिवेशन संवत् १९४८में (ता० २१ नवम्बर १८९१ को) आरम्भ हुआ। इस बार भी इसे काबूमें रखना आसान नहीं था। लोकपक्षके सभासद नवीन सरकारका विरोध करनेपर पहलेसे अधिक तुले हुए थे। यह नयी सरकार यामागाता मन्त्रिमण्डलके समान मिलनसार नहीं थी। लोक-पक्षने भी सरकारकी अभिलाषाओं और धमकियोंकी कोई परवा न करके सरकारके, बिलपर बिल उसने नामंजूर कर दिये और बजटमें पहले वर्षसे भी अधिक खर्च घटाकर उसे

काम है। और तो और, दक्षिणी यूरोपियन राष्ट्र भी संगठनात्मक शासन नहीं चला सके। तब यह कैसे सम्भव है कि जिस काममें यूरोपके दक्षिणी राष्ट्र भी हार गये उसे एक एशियाई राष्ट्र कर सके? इस प्रकार यह विचार हुआ कि यदि प्रथम ही अधिवेशन-में परिषद् भङ्ग हो गई तो विदेशी टीकाकार बुरी तरहसे खबर लेंगे। इसलिए सरकार और परिषद्में मेल कर लिया गया।"

प्रतिनिधि-सभामें पास करा लिया। पर इस बार सभा भङ्ग हो गयी।

इन दो अधिवेशनोंसे यह बात प्रकट हो गई कि केवल सरकारी हुकुम या धमकीसे प्रतिनिधि-सभा न मानेगी। इसलिए मात्सुकाताके मन्त्रिमण्डलने नवीन परिषद्में राज-पक्षका बहुमत कराना चाहा। इस उद्देश्यको सामने रखकर सं० १६४८ फाल्गुन मासमें जो निर्वाचन हुआ उसमें उसने उचितानुचित या न्यायान्यायका कोई ख्याल न करके निर्वाचनमें अपना पक्ष प्रबल करनेका पूरा उद्योग किया। राष्ट्रमन्त्री वाइकाउण्ट शिनागावाने चुपचाप प्रान्तीय शासकोंसे लोक-पक्षको हरानेके लिए निर्वाचनमें दखल देनेकी सूचना दे दी, और राज-पक्षको जितानेके लिए पुलिस और कठोर कानूनका उपयोग सरकार बेरोकटोक करने लगी। इसका यह परिणाम हुआ कि देश भरमें विद्रोहकी आग भड़क उठी। निर्वाचनके दिनोंमें २५ जानें गईं और ३८८ मनुष्य घायल हुए, एक इसी बात से उस विद्रोहकी कल्पना कर लीजिये।

सरकार इसपर भी लोकपक्षको हरा न सकी। सरकार-परसे लोगोंका विश्वास भी बहुत कुछ उठ गया। राष्ट्रमन्त्री और कृषि-वाणिज्यके मन्त्रीने पदत्याग किया*। तथापि अभी मात्सुकाताका मन्त्रिमण्डल बना रहा।

सं० १६४६ के ज्येष्ठ मासमें जब नवीन अधिवेशन हुआ तो प्रतिनिधि-सभाने चाहा कि निर्वाचन-कार्यमें हस्तक्षेप करने-

* राष्ट्रमन्त्री शिनागावाको लोगोंके दबावसे बाध्य होकर मन्त्रिपद छोड़ना पड़ा था, क्योंकि निर्वाचनमें दखल देनेके काममें ये ही तो असल अपराधी थे। कृषि-वाणिज्यके मन्त्रीके पदत्यागका कारण यह था कि मात्सुकाता मन्त्रिमण्डलकी इस नीतिके वे पहलेसे ही विरोधी थे।

वाले मन्त्रिमण्डलकी मलामत करनेके अभिप्रायसे सम्राट्के पास एक आवेदनपत्र भेजा जाय। परन्तु ३ मतोंकी कमीसे यह प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका, क्योंकि कई सभासदोंकी यह राय थी कि उस 'पवित्रात्मा' को दुःख देना ठीक न होगा। तब आवेदनपत्रके स्थानमें १११ मतोंके विरुद्ध १५४ मतोंसे मन्त्रिमण्डलकी मलामतका प्रस्ताव पास किया गया। पर इससे कुछ लाभ न हुआ। मात्सुकाताका दिमाग़ अभी ऊँचा ही था अतएव उन्होंने कहा कि सभाके प्रस्ताव राज्यके मन्त्रियोंको डरा नहीं सकते।

लोकमत इतना विरुद्ध होनेपर भी मन्त्रियोंकी नीतिमें कुछ फ़रक नहीं हुआ, इसका कारण ढूँढ़नेके लिए बहुत दूर जाना न होगा। अधिवेशनका समय बहुत थोड़ा होता था. 'इतो'ने बड़ी सावधानोसे उसका समय ४० दिन नियत कर रखा था। आलोच्य अधिवेशनमें बजट भी पेश नहीं हुआ (राष्ट्रीय परिषद्में बजट ही प्रायः तूफानका कारण होता है). केवल अर्थसम्बन्धी विशेष बिल पेश हुआ था। सभा भङ्ग हो जानेपर सरकारने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि गत वर्षके बजटसे ही इस वर्ष काम चलाया जायगा। सरकारके और जितने प्रस्ताव थे उनके पास होने न होनेसे कोई क्षति नहीं थी। सभासे जो प्रस्ताव पास हुए थे और जो सरकारको मंजूर नहीं थे उन्हें सरदार-सभाने नामंजूर कर दिया। अर्थ-सम्बन्धी विशेष बिलपर प्रतिनिधि-सभाने सरकारको तङ्ग करना चाहा पर सरकारने सरदार-सभाकी मदद्से आपसमें समझौता कर लिया। यह भी यहाँ स्मरण रखनेकी बात है कि इस समय प्रतिनिधि-सभाके कई सभासदोंने मन्त्रियोंपर बेईमानीका इल्ज़ाम लगाया था।

मात्सुकाता मन्त्रिमण्डल, शासकवर्गका विरोध करनेवाले राजनीतिक दलोंसे खूब लड़ा, पर निर्वाचनके काममें दखल देनेके कारण उसपरसे लोगोंका विश्वास हट गया और परिषद्का अधिवेशन समाप्त होनेके दो ही महीने बाद उसे पद-त्याग करना पड़ा।

अब काउण्ट (बादको प्रिन्स) इतोने नया मन्त्रिमण्डल निर्म्माण किया। इस मन्त्रिमण्डलसे और निर्वाचनवाले मामलेसे कोई सम्बन्ध नहीं था। इतो पूर्व मन्त्रिमण्डलके अधिकार-दुरुपयोगसे भी परिचित थे और उन्होंने लोगोंको शान्त करनेके लिए उन प्रान्तीय शासकोंको पदच्युत भी कर दिया जिन्होंने कि निर्वाचन-हस्तक्षेप-प्रकरणमें प्रधानतः भाग लिया था। परन्तु जो दल अधिकारिवर्गसे ही असन्तुष्ट थे वे मात्सुकाता मन्त्रिमण्डलके जितने विरोधी थे उतने ही इतो मन्त्रिमण्डलके भी विरोधी हुए। उनका प्रधान उद्देश्य ही अधिकारिवर्गकी सत्ता उठा देना और मन्त्रियोंको अपने अधीन करना अथवा स्वयं शासन करनेका अधिकार प्राप्त करना था।

९ मार्गशीर्ष संवत् १९४९ (२५ नवम्बर १८९२) को परिषद्का चौथा अधिवेशन आरम्भ हुआ। बजटके वादविवादमें सरकार और प्रतिनिधि-सभा या लोकपक्षके परस्पर-विरोधकी हद हो गयी। सरकारने ८ करोड़ ३७ लाख ५९ हज़ार येन ख़र्चका अन्दाज़ किया था। प्रतिनिधि-सभाने उसमेंसे ८७ लाख १८ हज़ार येन घटा दिया और अन्य कई संशोधन करके बिल पास कर दिया। सभाने मुख्यतः शासन तथा नौ-सेना-सम्बन्धी ख़र्च ही घटाया था। अपनी सभामें बिल पास करके प्रतिनिधि-सभाने सङ्गठनकी ६७वीं धाराके अनुसार,

सरदार-सभामें भोजनके पूर्व उसे स्वीकृतिके लिए सरकारके पास भेजा। परन्तु सरकारने बिलका एक भी संशोधन स्वीकृत न किया न ख़र्चकी कमी ही मंजूर की। प्रतिनिधि-सभाने मन्त्रिमण्डलकी स्वीकृति पानेका तीन बार प्रयत्न किया परन्तु कोई फल न हुआ। अन्तमें, उसने सम्राट्के पास आवेदनपत्र भेजना निश्चय किया: सभामें प्रस्ताव उपस्थित हुआ और १०३ के विरुद्ध १८१ मतोंसे प्रस्ताव पास किया गया।

तब सम्राट्का सूचनापत्र निकला जिसमें सम्राट्ने कहा था कि शासनसम्बन्धी व्ययके सम्बन्धमें मन्त्रियोंको आदेश दिया जायगा कि वे हर उपायसे शासनव्यवस्थाका सुधार करें, नौसेना-सम्बन्धी व्ययकी वृद्धिके लिए यह उपाय किया जायगा कि छः वर्षतक स्वयं सम्राट् अपने ख़र्चमेंसे प्रतिवर्ष ३ लाख येन दिया करेंगे, तथा समस्त मुल्की व फ़ौजी अफ़-सरोंको हुक्म दिया जायगा कि जङ्गी जहाज़ोंके बनानेके लिए वे छः वर्षतक अपने वेतनका दसवाँ हिस्सा प्रतिमास इस व्ययमें दिया करें। अन्तमें सम्राट्ने यह आशा प्रकट की कि सङ्गठनात्मक शासनप्रणालीको सुफल करनेके लिए प्रतिनिधि-सभा और मन्त्रिवर्ग एक होकर मेरी सहायता करेंगे।

तुरन्त ही प्रतिनिधि-सभा और मन्त्रिमण्डलके कार्यकी दिशा बदल गयी और दोनों आपसमें मेल करनेका उद्योग करने लगे। सरकारने सभाके व्ययसम्बन्धी संशोधनको कुछ परिवर्त्तनके साथ स्वीकार कर लिया और शासनका पूर्ण सुधार करनेका भी वादा किया। प्रतिनिधि-सभाने सरकार-की शर्तें मंजूर कीं। इस प्रकार यह वादविवाद समाप्त हुआ।

प्रतिनिधि-सभासे और सरकारसे मेल तो हुआ पर यह सब जानते थे कि यह मेल टिकाऊ नहीं है क्योंकि इसका

सम्बन्ध केवल अर्थसम्बन्धी बिलसे ही था, और यह मेल भी मन्त्रियोंके प्रति सहानुभूति होनेसे नहीं बल्कि सम्राट्की बात रखनेके लिए किया गया था। अतः इसके बादके अधिवेशनमें फिर विरोध होना अनिवार्य था। इसलिए इतोकी यह इच्छा थी कि किसी प्रकारसे प्रतिनिधि-सभामें अपना बहुमत हो जाय।

इतोने सभासे जो वादा किया था उसे उन्होंने पूरा किया और प्रतिनिधि-सभाके सभासदोंको खुश रखनेके लिए उन्होंने ३ हज़ार २ सौ ७२ अफसरोंको कामपरसे हटाकर १७ लाख येनकी बचत की। इसी बीच उदारमतवादी दलको अपनी ओर मिलानेका प्रयत्न भी किया जा रहा था, परन्तु इस प्रयत्नका कोई फल नहीं हुआ। शासनमें सुधार तो हुआ इसमें सन्देह नहीं परन्तु प्रतिनिधि-सभाके महत्वाकांक्षी पुरुष इससे सन्तुष्ट नहीं थे, अधिकारिवर्गकी शत्रुताके कारण ही तो वे विरोध करते थे। उदारमतवादी दलको मिलानेका जो प्रयत्न सरकारने किया उससे केवल प्रागतिक दलवाले ही उत्तेजित नहीं हुए बल्कि अधिकारिवर्गके कट्टर पक्षपाती भी उससे चिढ़ गये।

इसी समय प्रतिनिधि-सभाके सभापति और उदारमत-वादी दलके नेता होशीतोरू पर यह सन्देह किया जाने लगा कि स्टॉक एक्सचेञ्ज याने हुण्डीवाले मामलेमें कुछ व्यापारियों-से मिलकर इन्होंने गड़बड़ किया है। इस मामलेमें कृषि और व्यवसायके मन्त्री गोतो तथा एक उपमन्त्री सायतो* भी

* जापानमें प्रत्येक मन्त्रीके मातहत एक उपमन्त्री भी होता है जिसका काम इंग्लिस्तानके अण्डर-सेक्रेटरियोंका सा होता है।

सम्मिलित थे । ६ मार्गशीर्ष सं० १६५० में जब परिषद्का पाँचवाँ अधिवेशन आरम्भ हुआ तो सभाने सबसे पहले होशीपर अभियोग चलाया और उसे सभासे निकाल बाहर किया। इसीके साथ कृषि और व्यवसायके मन्त्री तथा उप-मन्त्रीके दुराचरणपर सरकारको भर्त्सनाके हेतु सम्राट्के पास एक आवेदनपत्र भेजा गया। इसका प्रतिकार करनेके उद्देश्य-से इतोने भी सम्राट्की सेवामें अपना एक आवेदनपत्र प्रेषित किया जिसमें उन्होंने इस बातपर बहुत दुःख प्रकट किया था कि अपना कर्त्तव्य पालन करनेमें कोई बात उठा न रखते हुए भी प्रतिनिधि-सभाके असन्तोषके कारण सम्राट्को चिन्तित होना पड़ रहा है और इसलिए इस जिम्मेदारीसे मुझे छुटकारा मिले, यही मेरी इच्छा है। अन्तमें इतोने इस पत्रमें कहा है कि, सम्राट् जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही किया जायगा। इसी बीच प्रतिनिधि-सभाका अधिवेशन एक सप्ताह-के लिए स्थगित किया गया था।

इसपर सम्राट्ने प्रिवी कौन्सिलसे राय माँगी। प्रिवी कौन्सिलकी यह राय हुई कि कृषि और व्यवसाय विभागके कुछ कर्मचारियोंकी कार्यवाहीपर सन्देह किया जा सकता है पर प्रतिनिधि-सभाको यही उचित था कि सम्राट्को कष्ट देने-से पहले वह सरकारसे सब बातें कह सुन लेती और मन्त्रियों-को इस बातका अवसर देती कि वे अपनी सफाई दे सकते। मन्त्रियोंके सम्बन्धमें प्रिवी कौन्सिलने यह भी कहा कि सम्राट्-के विश्वासपात्र होनेसे जो मन्त्री कार्य कर रहे हैं उन्हें ज़रा सी बातके लिए हटाना ठीक नहीं है।

फलतः ६ पौष सं० १६५० में, प्रतिनिधि-सभाके आवेदनपत्र-के उत्तरमें सम्राट्का सूचनापत्र निकला। इसमें लिखा था

कि, "मन्त्रियोंको नियुक्त करना वा पदच्युत करना केवल सम्राट्की इच्छापर ही निर्भर है; इसमें किसी प्रकारका हस्त-क्षेप कोई नहीं कर सकता।" तथापि गोतो और सायतोको पदत्याग करना ही पड़ा।

फिर भी मन्त्रिमण्डल पर वार होते ही रहे। सरकारको परेशान करना ही प्रतिनिधि-सभाके सभासदोंका प्रधान लक्ष्य था। सन्धि-संशोधनके प्रश्नपर उन्होंने फिर लड़ना आरम्भ किया, और यह प्रश्न जैसा टेढ़ा था प्रतिनिधि-सभाके हाथमें पड़कर खूब तेज़ बनकर शस्त्रका काम देने लगा। बहुत वादविवादके पश्चात् सन्धि-संशोधनकी आवश्यकता जत-लानेके लिए सरकारके पास एक निवेदनपत्र भेजना निश्चित हुआ। इसके साथ पी. ओ. कम्पनीवाले अभियोगमें जापान सरकारके वकीलके द्वारा सम्राट्के नामका दुरुपयोग होनेपर सम्राट्की सेवामें भी एक आवेदनपत्र प्रेषित करना निश्चित हुआ। अन्तमें परिणाम यह हुआ कि सं० १९५० के पौष मास-में (दिसम्बर १८९३) सभा भङ्ग हो गयी।

सं० १९५१ के फाल्गुन महीनेमें साधारण निर्वाचन हुआ। उस समय सरकारने प्रत्यक्ष रूपसे तो कुछ दखल नहीं दिया, पर प्रेस लॉ और सार्वजनिक सभासमितिके कानूनका बल लगा कर उसने लोगोंके चित्तको बहुत ही दुःख दिया। कुछ स्थानों-को छोड़ सर्वत्र निर्वाचनका कार्य शान्तिके साथ पूरा हुआ*।

इस बारके निर्वाचनमें भी लोकपक्षहीकी जीत रही।

---

* निर्वाचन सम्बन्धी सबसे भयङ्कर विवाद तो चिगीमें हुआ था जिसमें, १ मनुष्य मरा और ११७ घायल हुए। देश भरमें सब मिलाकर १५३ आदमी घायल हुए थे।

इसके पहले चारों अधिवेशनोंमें लोकपक्षका नेतृत्व उदारमत-वादी दलकी ओर रहा, परन्तु अब इस पाँचवें अधिवेशनमें, सरकारसे उसकी बातचीत शुरू होनेके कारण, उसका महत्त्व और नेतृत्त्व जाता रहा। उदारमतवादी दलपर यह कलङ्क नहीं लगा था जोकि 'सरकारपक्ष' पर था पर तौ भी प्रतिनिधि-सभामें उसका ज़ोर बहुत कुछ घट गया—पहले जो यह मुख्य दल समझा जाता था सो वह बात अब न रही। प्रागतिक दलवाले और वे लोग जो अबतक सरकारका ही पक्ष किया करते थे, मिल गये और रोप्पा या षड्दलसमवाय † स्थापित करके सन्धि-संशोधनके आन्दोलनसे सरकारको परेशान करने लगे। इस क़दर विरोध हुआ कि मन्त्रिमण्डलको १५ दिनके भीतर सभा भङ्ग कर देना पड़ा।

अब यह देखना है कि इस मामलेमें असल बात क्या थी। इतो अब भी सब राजनीतिक दलोंसे तटस्थ भाव रखनेकी घोषणा किये जाते थे और "समान आदर व समान कल्याण" के स्वरचित तत्त्वका पाठ भी किये जाते थे; परन्तु मालूम होता है कि चौथे अधिवेशनमें उन्हें जो अनुभव प्राप्त हुआ उससे उन्होंने यह अच्छी तरह समझ लिया कि प्रतिनिधि-सभाके एक न एक प्रधानदलको अपनी ओर मिलाना ही होगा। इसलिए उन्होंने उदारमतवादी दलपर बहुत दबाव डालनेका प्रयत्न किया कि वह सरकारके पक्षमें हो जाय। उदारमतवादी दल ही उस समय प्रतिनिधि-सभामें सबसे बड़ा था और उसके नेता होशीतोरू एक बड़े ही विलक्षण

† सभामें इस समय छः दल प्रधान थे और इन्हींका यह एक गुट क़ायम हुआ इसलिए इसे रोप्पा या 'षड्दल समवाय' कहा गया है।

राजनीतिज्ञ थे। उदारमतवादियोंने भी देखा कि मन्त्रिमण्डलों-का बराबर विरोध करते रहनेसे सिवाय इसके कि निर्वाचन-के अन्धाधुन्ध ख़र्चसे हमारा हाथ तङ्ग हो, और कुछ न होगा। इसलिए उन्होंने मन्त्रिमण्डलसे समझौता करनेका अवसर हाथसे जाने देना उचित नहीं समझा। इससे प्रागतिक दल-वालोंको बड़ा क्रोध आया और जो लोग सरकारके अबतक सच्चे साथी या कट्टर पक्षपाती थे वे भी चिढ़ गये। अबतक तो उदारमतवादी और प्रागतिक इन दोनोंने मिलकर सभा-को अपने काबूमें रखा था यद्यपि इनका यह संयुक्त कार्य इनकी किसी निर्धारित नीतिका फल नहीं बल्कि काकतालीय संयोग था। हृदय दोनोंके साफ़ नहीं थे—वही पुरानी स्पर्धा अब भी मौजूद थी। इसलिए जब प्रागतिकोंने देखा कि उदारमतवादी सरकारके यार बन रहे हैं तो उन्हें बड़ी बेचैनी हुई। इतोने स्वप्नमें कभी यह न सोचा कि उदारमतवादियोंको कुछ दिलानेसे सरकार-पक्षके लोग उलटे सरकारपर ही उलट पड़ेंगे। और यही हुआ भी, इतोकी इस नीतिपर प्रागतिकों-से भी अधिक सरकार पक्षवालोंको क्रोध हुआ। पहले तो इन्होंने लोकपक्षको झगड़ालू और क्रान्तिकारी कहकर उसका बारम्बार विरोध किया था और उन्हें प्रत्यक्ष उच्च पदका नहीं तो उच्चपदस्थ राजकर्म्मचारियोंकी सङ्गसोहबतका मधुर रस आस्वादन करनेको मिल चुका था, और यह कोई छिपी हुई बात न थी कि उदारमतवादियोंके भी बीचमें आ जानेसे उनके उस आनन्दमें बाधा पड़ती। इसलिए उन्होंने प्राग-तिकोंसे मिलकर सरकार और उदारमतवादी दलका विरोध करनेके लिए एक गुट बना लिया।

इस तरह छठे अधिवेशनमें जो संवत् १९५१ में (१२ मई

१८९४ के दिन) आरम्भ हुआ प्रागतिक दल और भूतपूर्व सरकारी पक्ष दोनों एक हो गये और उदारमतवादीदल एवं सरकारसे लड़ने लगे। "सन्धि संशोधनके सम्बन्धमें विदेशियोंसे दृढ़ व्यवहार" तथा "उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलकी स्थापना" इन दो शस्त्रोंसे उन्हें सरकारपर वार करना था। यह अधिवेशन भी पाँचवें अधिवेशनकी ठीक ठीक नकल थी। सरकारकी वैदेशिक नीतिका लगातार विरोध करनेके बाद उन्होंने सम्राट्को अभियोगात्मक आवेदनपत्र देना स्थिर किया*। अतः संवत् १९५१ में (२ जून सन् १८९५ को) सभा भङ्ग हो गयी।

तब सरकारकी मनमानी घरजानीपर बड़ा खलबली मची। समस्त राजनीतिक दल: विशेष करके वे जो कि सरकारके विरुद्ध थे, "उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल" की स्थापनाके लिए कमर कसकर आन्दोलन करने लगे। परन्तु इतनेहीमें चीनसे युद्धकी घोषणा हो गई जिससे राजनीतिक दलोंके सब उद्योग शान्त हो गये। वैदेशिक सङ्कटके आपड़नेपर सरकारसे शत्रुता और विरोध तथा आपसके ईर्ष्याद्वेष सब भुला दिये गये। वस्तुतः १५ मार्गशीर्ष संवत् १९५१ (१ दिसम्बर १८९४) को जो निर्वाचन हुआ उसका काम पूर्वके दो निर्वा-

---

* इस आवेदन पत्रमें लिखा गया था कि मन्त्रिमण्डलके कार्योंका सिंहावलोकन करनेसे पता लगता है कि मन्त्रियोंने स्वदेश तथा विदेशकी कार्यनीतिमें बड़े भारी भारी प्रमाद किये हैं, और सम्राट्को बहुत दुःखित किया है, प्रतिनिधि-सभा अपना कर्त्तव्य पालन करनेकी चिन्तासे उनके साथ मिलकर काम करनेके लिए तैयार है, परन्तु उनकी यह इच्छा नहीं और इससे सभाके काममें बड़ी बाधा पड़ती है और सभाको मन्त्रिमण्डलपर विश्वास नहीं होता।

चक्रोंकी तुलनामें बड़ी ही शान्ति और गम्भीरताके साथ सम्पन्न हुआ।

ऐसा ही सातवाँ अधिवेशन भी बिना किसी विरोधकेबीत गया। यह अधिवेशन सं० १९५१ में हीरोशिमा नगरमें हुआ जहाँ कि युद्धके कारण सम्राट्की छावनी पड़ी थी। युद्ध व्ययके लिए अर्थ सम्बन्धी विशेष बिलमें १५ करोड़ येनका अनुमान किया गया था। एक सभासद्ने भी इसका विरोध नहीं किया और सर्वसम्मतिसे यह बिल पास हुआ।

आठवें अधिवेशनमें सं० १९५१ से (२२ दिसम्बर १८९४ से) संवत् १९५२ तक (२० मार्च १८९५ तक) राजनीतिक दल सरकारके साथ वैसे ही पेश आये जैसे कि सातवें अधिवेशनमें आये थे। अन्तःकरणसे उनकी यह इच्छा थी कि सरकारको इस समय हैरान न करना चाहिए और आपसमें किसी प्रकारका वैमनस्य प्रकट न होने देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे वे जानते थे कि राष्ट्रका बल क्षीण हो जायगा। इस-लिए उन्होंने बजट का विरोध करना उचित नहीं समझा और बजटमें यद्यपि नित्यके शासनकार्य्यका व्यय भी बहुत अधिक बढ़ा दिया गया था तथापि उन्होंने लेशमात्र भी परिवर्त्तन न करके उस बिलको स्वीकार कर लिया।

अध्यापक मास्टरमेन कहते हैं, "जब देशपर बाहरसे कोई बड़ा भारी सङ्कट आता है तब देशकी भीतरी उन्नति शीघ्रताके साथ नहीं हो सकती।" इस प्रकार जापान-साम्राज्यपर बाहर-से जो भारी सङ्कट आ पड़ा था उससे प्रातिनिधिक शासनके सुधारका कार्य्य बहुत कुछ रुक गया। दो अधिवेशनोंमें अधिकारिवर्ग और राजनीतिक दलोंका परस्पर विवाद बिल-कुल ही बन्द कर दिया गया था।

पर युद्ध जब समाप्त हो गया तब फिर आपसकी लड़ाई शुरू हुई। सरकारकी युद्धोपरान्त नीति, चीनको लिआओ तुङ्गद्वीप कला वापस दे देना, और कोरिया राजधानी सियोलका हत्याकाण्ड,* इन बातोंको लेकर राजनीतिक दलों-ने सरकारपर आक्रमण करना आरम्भ किया। संवत् १६५२में (ता० २५ दिसम्बर १८६५ को) नवाँ अधिवेशन आरम्भ हुआ और अधिवेशनके आरम्भमें ही सम्राट्के पास अभियोगात्मक आवेदनपत्र भेजनेका प्रस्ताव उपस्थित किया गया।

परन्तु इससे कुछ ही पहले इतोके मन्त्रिमण्डलने "अधि-कारिवर्गके स्वैरतन्त्र" की नीति छोड़ दी थी और खुल्लमखुल्ला उदारमतवादी दलसे मेलकर लिया था। उस समय प्रतिनिधि-सभामें उदारमतवादियोंकी संख्या १०८ थी। इनके अतिरिक्त राष्ट्रके भूतपूर्व मन्त्री शिनागावा तथा उनके राष्ट्रीय दलके ३४ अनुयायी जो पहले भी सरकार-पक्षके थे परन्तु पाँचवें और छठे अधिवेशनमें सरकारके विरुद्ध हो गये थे, अब फिर सरकार-पक्षसे आ मिले। इनके अतिरिक्त सरकारके २६ कट्टर साथ देनेवाले और थे जिनका दल 'खालिस सरकार-पक्ष' कहा जाता था। इन तीन दलोंके मिलनेसे प्रतिनिधि-सभामें इनका माताधिक्य हो गया और सरकार-विरोधी लोक-पक्षके हजार सर पटकनेपर भी ये सभाको अपने काबूमें रख सकते थे। लोकपक्षकी ओरसे सम्राट्के पास अभियोगात्मक आवेदनपत्र भेजनेका जो प्रस्ताव उपस्थित किया गया था

---

* रूसियों और जापानियोंकी अधिकार-प्रतिद्वन्द्विताके कारण ८ अक्टूबर १८६५ ई० को रानी बिनकी हत्या हुई। इसी घटनाके फलसे सं० १६५३ के मई मासमें रूस-जापानका एक इक़रारनामा हुआ था।

उसे इन लोगोंने अस्वीकार कर दिया और सरकारके अर्थ-सम्बन्धी बिलों को जिनमें ६ करोड़ २० लाख येनका खर्च और बढ़ा दिया गया था, अधिक मत देकर पास करा लिया।

इस प्रकार उदारमतवादियोंको मिलाकर इतोके मन्त्रि-मण्डलने परिषद्के एक बड़े कठिन अधिवेशनसे अपना बेड़ा पार किया। जब नोमुराके त्यागपत्रसे स्वराष्ट्रके मन्त्रीका पद खाली हो गया तब उदारमतवादियोंने अपने नेता इतागाकी-को उस पदपर प्रतिष्ठित करानेके लिए सरकारपर दबाव डाला क्योंकि उदारमतवादियोंने सरकारकी मदद की थी। सं० १९५३ में (ता० १४ अप्रेल १८९६ ई० को) इतागाकीने मन्त्रि-मण्डलमें प्रवेश किया। परन्तु अब भी मन्त्रिमण्डलको विशेष दल बनानेपर अधिकारिवर्ग राज़ी नहीं था। उन्होंने इतागाकी-को मन्त्रीपद देनेसे पहले उनसे कहा कि वे उदारमतवादी दलसे अपना सम्बन्ध त्याग दें, और तब यह घोषित किया कि इतागाकी मन्त्री बनाये गये और कहा गया कि यह पद उन्हें इसलिए नहीं दिया गया है कि वे उदारमतवादी दलके नेता हैं बल्कि एक राजनीतिज्ञके नाते उन्होंने बहुत काम किया है और उनकी आयु भी अब अधिक हो गयी है।

इतागाकीकी नियुक्ति राष्ट्रीय दलवालोंको बहुत बुरी लगी क्योंकि नवें अधिवेशनमें उन्होंने सरकारकी बड़ी सच्चाई-से सहायता की थी। मन्त्रिमण्डलको भी परराष्ट्रसचिव तथा अर्थमन्त्रीके पदपर काम करनेवाले पुरुष जल्दी मिलते नहीं थे। अबतक काउण्ट मुत्सु परराष्ट्रसचिव थे, परन्तु उन्होंने अस्वस्थताके कारण पदत्याग किया था। परराष्ट्र नीतिको समझ कर ठीक ठीक कार्य करनेवाले पुरुष प्रागतिक दलके नेता काउण्ट ओकुमा ही दिखाई देते थे, और अर्थमन्त्री

पदके लिए काउण्ट मात्सुकाताके अतिरिक्त और कोई नहीं था। परन्तु इतागाकी काउण्ट ओकुमाको परराष्ट्रसचिव बनानेका विरोध कर रहे थे, और मात्सुकाताको विना उनके मन्त्रिमण्डलमें आना ही स्वीकार न था। तब लाचार होकर इतोके मन्त्रिमण्डलने इस्तीफ़ा दे दिया।

सं० १९५३ में (ता० १८ सितम्बर १८९६ को) नया मन्त्रिमण्डल सङ्गठित हुआ और मात्सुगाता उसके प्रधान मन्त्री हुए। इस मन्त्रिमण्डलका नाम हुआ, मात्सुकाता-ओकुमा-मन्त्रिमण्डल। ओकुमाके परराष्ट्रसचिव होनेसे प्रागतिक दल सर्वथा मन्त्रिमण्डलके अनुकूल हो गया। कई छोटे छोटे दल इस प्रागतिक दलमें मिल गये थे जिससे इसकी संख्या वहुत बढ़ गयी थी और सं० १९५३ से (ता० २२ दिसम्बर १८९६ से लेकर ता० २४ मार्च १८९७) सं० १९५४ तक जो दसवाँ अधिवेशन हुआ उसमें इसने उदारमतवादियोंका विरोध चलने न दिया।

परन्तु मात्सुकाता और ओकुमाके राजनीतिक सिद्धान्तोंमें एकवाक्यता नहीं थी। कुछ ही वर्ष पहले मात्सुकाताने अध्यक्ष मन्त्रीके नाते राजकर्मचारियोंको निर्वाचनके काममें टाँग अड़ानेकी इजाज़त दी थी और समस्त राजनीतिक दलोंका उच्छेद करना चाहा था। उन्हें राजनीतिक दलोंसे या दलमूलक मन्त्रिमण्डलके विचारसे कुछ भी सहानुभूति नहीं थी, अधिकारिवर्गकी सत्ता ही इन्हें भाती थी और स्वयं भी स्वेच्छाचारी अधिकारी थे। परन्तु ओकुमा तो उस प्रागतिक दलके नेता थे जो "उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल" स्थापित करनेको कह रहा था। यह कहा जाता है कि, जब मात्सुकाता-ओकुमा-मन्त्रिमण्डल बनने लगा था तब ओकुमाने यह सोच-

कर मन्त्रिपद स्वीकार किया था कि मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय परिषद्‌के मतसे कार्य्य करेगा, शासन तथा अर्थव्यवस्था सुधारी जायगी और सर्वसाधारणके अधिकारोंका अधिक आदर होगा तथा उनकी अभिलाषाओंपर विशेष ध्यान दिया जायगा। पर और जितने मन्त्री थे सब मात्सुकाताके ही साँचेमें ढले हुए थे। इसलिए ओकुमाने देखा कि यहाँ अपने सिद्धान्तोंकी क़दर नहीं हो सकती इसलिए संवत् १९५४ में (ता० ६ नवम्बर १८९७ को) उन्होंने इस्तीफा दे दिया। इसके साथ ही प्रागतिक दलकी अनुकूलताका भी अन्त हो गया।

ओकुमाके पद त्याग करनेपर मात्सुकाता मन्त्रिमण्डलने धनका लोभ देकर उदारमतवादियोंको अपनी ओर मिलाना चाहा, और बहुतसे इस लोभमें आ भी गये। परन्तु फिर (१५ दिसम्बरको) उदारमतवादियोंकी जो साधारण सभा हुई उसमें यही निश्चय किया गया कि मात्सुकता-मन्त्रिमण्डलका पक्ष न लिया जायगा।

अब प्रागतिक और उदार, दोनों दल मन्त्रिमण्डलके विरुद्ध हो गये। इतने बड़े विरोधका सामना करके प्रतिनिधि-सभा पर विजय पाना असम्भव था। परिषद्‌का ११वाँ अधिवेशन सं० १९५४ में (ता० २१ दिसम्बर १८९७ को) आरम्भ हुआ। और चौथेही दिन मन्त्रिमण्डलपर अविश्वासका प्रस्ताव उपस्थित किया गया, दो तृतीयांश सभासदोंने उसका समर्थन किया और वह पास हो गया। व्यवस्थापनासम्बन्धी और कोई काम न होने पाया और सभा भङ्ग कर दी गयी।

उसी दिन मात्सुकाताने और उनके सभी अधीनस्थ मन्त्रियोंने भी इस्तीफ़ा दे दिया। इस्तीफ़ा नहीं दिया केवल परराष्ट्रसचिव निशीने। इन इस्तीफ़ोंका दिया जाना भी एक

बड़ी विचित्र बात मालूम होती है। आख़िर, किस कारणसे मात्सुकाता-मन्त्रिमण्डलने इस्तीफ़ा दिया? यदि दूसरा साधारण निर्वाचन होनेसे पहले ही मन्त्रिमण्डलको पदत्याग करना मञ्जूर था तो प्रतिनिधि-सभाको उसने नाहक क्यों भङ्ग कर दिया? मन्त्रिमण्डल ही अपना काम छोड़ देता, प्रतिनिधि-सभाको भङ्ग करनेसे क्या मतलब था? यदि प्रतिनिधि-सभा कायम रहती तो देशका बहुतसा धन और परिश्रम भी बच जाता। तब क्या कारण है कि मात्सुकाता-मन्त्रिमण्डलने इस सीधे मार्गका अनुसरण नहीं किया? क्या इससे पदत्याग करनेवाले मन्त्रियोंका या और किसीका कोई विशेष लाभ था? वास्तवमें मात्सुकाता मन्त्रिमण्डलका दिमाग ठिकाने नहीं था, नहीं तो वह ऐसे अवसरपर ऐसा प्रमाद कभी न करता, या उसका प्रधान हेतु यह रहा होगा कि राजनीतिक दल टूट न जायँ और सब काम सरकारकी मुट्ठीमें आ जाय।

यह पिछला तर्क कुछ लोगोंको ठीक प्रतीत न होगा, क्योंकि सङ्गठनात्मक शासनप्रणालीका यह नियम ही देख पड़ता है कि जब एक मन्त्रिमण्डल पदभ्रष्ट होता है तो शासन-सत्ता उसके विरोधी दलके ही हाथमें चली जाती है। पर जापानके मन्त्रिमण्डलकी यह एक विशेषता है कि यह नियम जापानकी राज्यव्यवस्था पर नहीं घटता। मन्त्रिमण्डलके पद-भ्रष्ट होनेका जापानमें केवल इतना ही अर्थ है कि पहले अधिकारी गये, अब दूसरे आएँगे—वे भी राजनीतिक दलोंका विरोध करेंगे।

१७ पौष सं० १९५५ (ता० १२ जनवरी १८९८) को अब फिर इतोने नवीन मन्त्रिमण्डल सङ्गठित किया। १ चैत्र (१५ मार्च) को पञ्चम साधारण निर्वाचन हुआ। यथा रीति कई

नवीन दल निर्माण हुए, कई पुराने दल नष्ट हो गये; और वर्त्त-मान दलोंके कई भाग हो गये। जिन राजनीतिक दलोंके हाथमें कुछ भी वास्तविक अधिकार नहीं होता और जो अपने अनुयायियोंको ऐसी कोई आशा या विश्वास नहीं दिला सकते कि उन्हें अमुक अमुक अधिकार प्राप्त करा दिये जायँगे (और ऐसी आशा दिलाना भी कैसे सम्भव है जब कि उसकी पूर्त्तिका कोई साधन नहीं?) और जिन्हें किसी न किसी प्रकारसे अधिकारिवर्गसे दबना पड़ता है, वे राजनीतिक दल बढ़ भी नहीं सकते और अधिक कालतक जीवित भी नहीं रह सकते। इस साधारण निर्वाचनके समय वह मन्त्रिमण्डल मौजूद नहीं था जिसने कि सभा भङ्ग की थी और यह नया निर्वाचन कराया था। इसलिए राजनीतिक दलोंको कोई चाँदमारीकी जगह न दिखाई देती थी और कोई प्रश्न भी उनके सामने ऐसा नहीं था जिसके लिए वे लड़नेका दम भरते। एक तत्कालीन पत्रने लिखा है कि, "परस्पर-विरोधी दलोंमें निर्वाचनसम्बन्धी प्रतिस्पर्धा या विरोधका कोई स्पष्ट कारण तो था नहीं, इसलिए यह विरोध क्या था, हवासे लड़ना था।"

निर्वाचनके पहले और बाद भी उदारमतवादी दलने इतोके मन्त्रिमण्डलसे मेल करनेका बहुत कुछ उद्योग किया* परन्तु उससे यह वादा न करते बना कि सभामें सरकारपक्ष-का मताधिक्य होगा, और वह मन्त्रिमण्डलसे बदलेमें जो कुछ

---

* देखिए, सङ्कटनात्मक शासनके आरम्भ-कालमें सरकार-पक्षको बुरा समझने वाला उदारमतवादी दल ही अब सरकारसे मेल रखनेका प्रयत्न कर रहा है। और सबसे पहले "स्वैरतन्त्र मन्त्रिमण्डल" की घोषणा करनेवाली सरकारने ही राजनीतिक दलको मिलानेके लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया था।

चाहता वह भी बहुत अधिक था। इसलिए उसका यह उद्योग सफल न हुआ।

अतएव परिषद्के बारहवें अधिवेशनमें इतोके पक्षमें कुछ थोड़ेसे नैशनलिस्टोंको छोड़कर और कोई न था, और इसका यह परिणाम हुआ कि उस अधिवेशनका ज़मीनका कर बढ़ानेवाला जो सबसे मुख्य बिल था उसे सभाने २७ के विरुद्ध २४७ मतोंसे नामंजूर कर दिया। सभा भी भङ्ग हो गयी।

जब उदारमतवादी दलका सरकारसे मिलनेका उद्योग विफल हुआ तब उसने प्रागतिक दलसे मेल कर लिया और ज़मीनका कर बढ़ानेवाले बिलने तो उनके विरोधकी आगमें घीका काम दिया क्योंकि इस बिलसे बड़ा ही असन्तोष फैल रहा था। इसके साथ ही बार बार सभा भङ्ग करनेकी सरकारकी नीतिसे प्रागतिक व उदार दोनों ही असन्तुष्ट हो रहे थे। यद्यपि इन दो दलोंसे पुराना वैरभाव अब भी लुप्त नहीं हुआ था तथापि समान स्वार्थके होनेसे ये दोनों दल एक हो गये और इन्होंने अपना संयुक्त नाम "सङ्गठनावादी दल" रखा*। इस दलको प्रबल देखकर इतोका मन्त्रिमण्डल

---

* सङ्गठनवादी दलका प्रोग्राम यों था—

१. सम्राट्की भक्ति और सङ्गठनतत्त्वकी रक्षा।

२. दलमूलक शासकमण्डल निर्माण करना और मन्त्रिमण्डलकी कार्यवाही नियमित करना।

३. स्थानीय स्वराज्यकी प्रगति और प्रधान शासकमण्डलके हस्तक्षेपकी सीमा निर्धारित करना।

४. राष्ट्रीय अधिकार और प्रतिष्ठाकी रक्षा एवं व्यवसाय-वाणिज्यका विस्तार।

५. आयव्ययका समतोलन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाका दृढ़ीकरण।

६. विदेशोंसे धनागमका साधन निर्माण करना और राष्ट्रके साधनोंकी व्यवस्था।

७. राष्ट्रीय शक्तिके अनुरूप जलसेना और स्थलसेना रखनेका प्रबन्ध।

भयभीत हुआ। इतो, यामागाता, सायगो, ओयामा, कुरोदा व इनोयी, इन अग्रगण्य पुरुषोंने एक स्थानमें बैठकर विचार किया कि अब इन राजनीतिक दलोंसे क्योंकर पेश आना चाहिए। इस कानफरेन्समें इतोसे और यामागातासे खूब वादाविवाद हुआ। इतोका कहना था कि प्रधान राजनीतिक दलको अपनी ओर मिला लेना चाहिए या कोई ऐसा दल बाँधना चाहिए जो अधिकारिवर्गके सिद्धान्तोंपर अटल रहे और राज्यव्यवस्थामें सरकारकी सहायता करे। यामागाताने यह कहा कि किसी राजनीतिक दलके भरोसे सरकारका रहना सङ्गठनके उद्देश्यकी हत्या करना है इसलिए सरकार राजनीतिक दलोंसे स्वतन्त्र और उन सबके सिरपर ही रहनी चाहिए। इसपर इतोके मन्त्रिमण्डलने पदत्याग किया।

अब इतोके स्थानपर काम करनेके लिए कोई अधिकारी मिलना कठिन हो गया, इसलिए इतोहीकी सम्मतिसे सम्राट्ने नवसङ्गठित सङ्गठन दलके नेता ओकुमा और इतागाकीको ही बुला भेजा और उन्हें मन्त्रिमण्डल बनानेकी आज्ञा दी। संवत् १९५५ में इतोके पदत्यागके दो ही दिन बाद और सङ्गठनवादी दलके जन्मके १५ दिन बाद और सभाके भङ्ग होनेके १७ दिन पीछे यह घटना हुई। इसके होनेकी किसीको आशा क्या, कल्पनातक नहीं थी; ओकुमा और इतागाकी सम्राट्की आज्ञा सुनकर सन्नाटेमें आ गये और पहले तो उन्हें यह कार्यभार स्वीकार करनेका साहस ही नहीं होता था; पर इतोके समझानेसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

---

८. यात्रा और व्यापारके पर्याप्त साधन निर्माण करना।

९. शिक्षापद्धतिका सुधार और कला तथा विज्ञानका प्रचार।

१६ आषाढ़ संवत् १९५५ (ता० ३० जून १८९८) को नवीन मन्त्रिमण्डल सङ्गठित हुआ जिसके प्रधान मन्त्री व परराष्ट्र मन्त्री ओकुमा हुए, और स्वराष्ट्र मन्त्री इतागाकी। अन्य मन्त्री भी, केवल युद्धमन्त्री और नौसेनामन्त्रीको छोड़कर, सङ्गठनवादी दलके अनुयायियोंमेंसे ही चुने गये। अर्थात् पुराने प्रागतिक दलके हिस्सेमें ४ और पुराने उदारमतवादी दलके हिस्सेमें ३ मन्त्रिपद आये। यह एक प्रकारसे दलमूलक मन्त्रिमण्डल ही था, क्योंकि प्रधान राजनीतिक दलपर ही इसका सारा दारोमदार था। परन्तु इंग्लिस्तानमें जैसे दलमूलक मन्त्रिमण्डल होते हैं वैसा यह नहीं था। यद्यपि जापानी लेखकोंने प्रायः इसको भी दलमूलक मन्त्रिमण्डल ही कहा है। सरदार या प्रतिनिधि-सभामें एक नौसेनाके मन्त्री मारकिस सायगोको छोड़कर कोई मन्त्री, मन्त्रीकी हैसियतसे नहीं रहने पाया था, क्योंकि इस मन्त्रिमण्डलके बननेके समय कोई प्रतिनिधि-सभा ही नहीं थी: वह भङ्ग हो चुकी थी और अबतक निर्वाचन भी नहीं हुआ था। नवीन सङ्गठित सङ्गठनवादी दलके जनबलके अनुमानसे ही काम लेकर नवीन मन्त्रिमण्डल बना था।

तथापि यह पहला ही अवसर था जब कि राजनीतिक दलोंके सभासदोंको लेकर मन्त्रिमण्डल सङ्गठित हुआ हो। संवत् १९४८में उदारमतवादी दलके नेता इतागाकीसे मिलनेके कारण ही ओकुमाको प्रिवी कौन्सिलसे हटना पड़ा था, उसी प्रकार सं० १९५३ में मन्त्रिमण्डल और उदारमतवादी दलका मेल होनेके कारण जब इतागाकीने मन्त्री होना स्वीकार किया था तो उन्हें भी उदारमतवादी दलसे कमसे कम दिखानेभरको सम्बन्ध त्याग देना पड़ा था, सं० १९५४ में

इस नये मन्त्रिमण्डलके भाग्यमें क्या बदा था सो भी देख लें।

जब सङ्गठनात्मक-शासन पहले पहल स्थापित हुआ तो अधिकारितन्त्रके विरोधी यह समझते थे कि हम लोग अधिकारीतन्त्रको तोड़कर शासनकार्य्यमें भाग ले सकेंगे। पर यह केवल उनका स्वप्न था। प्रतिनिधि-सभामें ये अब भी लड़ते जा रहे थे, परन्तु कोई प्रत्यक्ष फल नहीं हुआ। सरकार अब भी वास्तवमें वैसी ही "सर्वशक्तिमान्" थी जैसा कि वह पहले थी, निर्वाचनके काममें अधिकारियोंके हस्तक्षेपके सामने उनकी एक न चलती थी, प्रतिनिधि-सभामें भी "स्वैरतन्त्र मन्त्रिमण्डल" के सिद्धान्तके नियन्त्रणमें उन्हें रहना पड़ता था, और परिषद् बारंबार स्थगित या भङ्ग की जाती थी। परन्तु एकाएक दृश्य (सीन) बदल गया और वे भी उस "सर्वशक्तिमान् सरकार"के अङ्ग बन बैठे और सब शासनसत्ता उनके अधिकारमें आ गयी।

सबसे पहले उन्होंने स्वभावतः ही अपनी आवश्यकताओंके अनुकूल शासनसुधारके काममें हाथ लगाया। अतः राजकर्म्मचारियोंकी नामावलीसे उन्होंने ४५२२ नाम काट डाले और इस तरह ७४२००० येन (लगभग १२३६१८७ रु०) की बचत की, इसके उपरान्त उन्होंने शासनसम्बन्धी बड़े बड़े पदोंपर अपने दलके सभासदोंको भरना आरम्भ किया। परन्तु इस "लूट" का बँटवारा बड़ा ही कठिन काम था, क्योंकि काम थोड़े थे और उम्मेदवार बहुत। उम्मेदवारोंमें प्रतिद्वन्दिता भी बड़ी तीव्र थी। इससे उदारमतवादी और प्रागतिक दलोंकी पुरानी ईर्ष्या फिर उभड़ उठी।

यह पहले ही कह चुके हैं कि इन दलोंमें जो मेल हुआ था

यह क्षणिक उत्तेजनाका फल था। जिस बातके कारण उत्तेजना थी उसके नष्ट होते ही अर्थात् अधिकारिवर्गका पतन होते ही मेलका भाव जाता रहा। उदारमतवादी और प्रागतिक दोनों अपने अपने अधिकारोंकी चिन्ता करने लग गये, उन्हें यह स्मरण नहीं रहा कि उन दोनोंकी एकतासे उन्हें यह महत्वपूर्ण पद प्राप्त हुआ है। "लूट" के बँटवारेमें प्रत्येक दल अपने अपने सभासदोंको सरकारी काम दिलाने और अपनी शक्ति बढ़ानेका प्रयत्न करने लगा।

शिक्षाविभागके मन्त्री ओजाकी ने इस्तीफा दे दिया उस समय यह हीन प्रतिद्वन्दिता हद दर्जेको पहुँच चुकी थी*। सम्राट्-शिक्षा-समिति नामकी संस्थामें ओजाकीने एक व्याख्यान देते हुए कहा था, "थोड़ी देरके लिए यह सोचिये कि जापानमें प्रजातन्त्र स्थापित हो गया, तो क्या होगा कि मित्सुई या मित्सुबिशी (जापानके कुबेर) अध्यक्ष बननेके लिए आगे बढ़ आवेंगे।" इस समय जापानमें धनकी महिमा बहुत बढ़ रही थी उसीकी चेतावनी ही इस व्याख्यानमें दी गई है। जापानमें प्रजातन्त्रकी कल्पना एक मन्त्रीके मुँहसे क्या प्रकट हुई, अधिकारितन्त्रवालोंको नवीन मन्त्रिमण्डलपर वार करनेके लिए एक शस्त्र मिल गया। उन्होंने ओजाकीके व्याख्यानको धिक्कारा और सर्वसाधारणमें उत्तेजना फैला दी।

---

* ओजाकी पुराने प्रागतिक दलके सभासद थे।

सरकारी कामोंके बँटवारेके सम्बन्धमें प्रागतिक और उदारमतवादियोंमें जो परस्पर कलह मच रहा था उसके एक कारण होशीतोरू भी थे। ये उदार दलके एक प्रमुख नेता थे और स्वयं मन्त्रिमण्डलमें आना चाहते थे। नवीन मन्त्रिमण्डल जब बना उस समय ये संयुक्त राज्य अमरीकामें थे; जापानकी ओरसे राजदूत होकर गये थे। अगस्त मासमें जापान लौट आये।

इसी मन्त्रिमण्डलमें भीतर ही भीतर ओोजाकीको निकालने और उनके स्थानमें कोई उदारमतवादी पुरुष रखनेकी चेष्टा उदारमतवाले विशेषकर इतागाकी कर रहे थे। ६ कार्त्तिक संवत् १६५५ (२३ अक्टूबर १८६८) को ओजाकीने इस्तीफा दे दिया। और उदारमतवादी अब इस बातपर ज़ोर देने लगे कि अब जो शिक्षाविभागका मन्त्री हो वह हमारे दलोंमेंसे लिया जाय। परन्तु अध्यक्ष मन्त्री ओकुमाने इन वातोंको सुनी अनसुनी करके प्रागतिक दलके ही एक सभासद इनुकाईको शिक्षाविभागका मन्त्री बनाया। तुरन्त ही मन्त्रिमण्डलका भी इसी कारणसे अन्त हुआ।

१२ कार्त्तिक (२६ अक्टूबर) को इतागाकी, हायाशी और मत्सुदा, इन तीन (उदारमतवादी दलके) मन्त्रियोंने पद त्याग किया। इससे और मन्त्रियोंका रहना भी असम्भव हो गया। उसी महीनेकी १४वीं तिथिको ओकुमा तथा प्रागतिक दलके तीन और मन्त्रियोंने भी पद त्याग किया। युद्धमन्त्री और नौसेना मन्त्री भी साथ हो लिये।

जिस मन्त्रिमण्डलका अस्तित्व प्रागतिक और उदारमत-वादी दलोंकी सङ्घशक्ति पर निर्भर था वह सङ्घशक्ति ही न रही तब वह मन्त्रिमण्डल भी कैसे रहता? केवल चार महीने तक यह मन्त्रिमण्डल रहा। शासनमें किञ्चित् सुधार करने तथा कुछ आरामकी नौकरियोंको हटानेके अतिरिक्त इसने इतिहासमें कुछ भी उल्लेख योग्य वात नहीं की। छठे साधा-रण निर्वाचनमें (२५ श्रावण अर्थात् १० अगस्त) सङ्गठनवादी दलके (उदार और प्रागतिक मिलाकर) ३०० मेंसे २६० सभासद निर्वाचित हुए। परन्तु परिषद्का नवीन अधिवेशन न आरम्भ होनेके पूर्व ही मन्त्रिमण्डलका अवसान हो चुका था।

इस दलमूलक सदृश मन्त्रिमण्डलके हतमनोरथ होनेके कारण अधिकारितन्त्रवादी फिर सिरपर चढ़े। वे अपनी बातका समर्थन करने लगे कि अनुभवी अधिकारियोंके बिना शासनकार्य हो ही नहीं सकता—पार्लमेंटमें बहस करनेवाले लोग राज्यव्यवस्था क्या जानें? परन्तु इस मन्त्रिमण्डलने प्रातिनिधिक राज्यप्रणालीके कार्यमें अपना अनुभव चाहे कुछ सम्मिलित न किया हो परन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि इस मन्त्रिमण्डलका सङ्गठन होना भी जापानके सङ्गठनात्मक शासनके विकासक्रममें एक प्रधान साधन हुआ है। इसका वास्तविक महत्त्व यह है कि इससे पहले राजनीतिक दलसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई व्यक्ति मन्त्रिमण्डलका सभासद नहीं हो सकता था परन्तु इसने वह दुराग्रह दूर कर दिया।

२२ कार्तिक (८ नवम्बर) को नवीन मन्त्रिमण्डल बना जिसके प्रधान मन्त्री यामागाता हुए। इसमें किसी दलका कोई आदमी नहीं था, पुराने अधिकारियोंमेंसे ही सब मन्त्री चुने गये थे। मन्त्रिमण्डल बन चुकनेके साथ ही यामागाताने उदार दलको मिलाना चाहा* और इस मेलके बदलेमें उन्होंने "स्वैरतन्त्र मन्त्रिमण्डलके सिद्धान्तका सार्वजनीन प्रतिवाद करने तथा नवीन सङ्गठनवादियोंके कुछ प्रस्तावोंको कार्यान्वित करानेकी प्रतिज्ञा की। इस मेलके करानेमें इतोने बहुत कुछ परिश्रम किये थे। तथापि यामागाता जैसे पुराणप्रिय (लकीरके फ़कीर) राजनीतिज्ञसे इतना काम निकालना कुछ कम नहीं था।

---

* ओकुमा-इतागाकी मन्त्रिमण्डलका जब अन्त हो चुका तब सङ्गठनवादी दल भी टूट गया, उदार दलने ही वह नाम धारण कर लिया, और प्रागतिक दलने अपना नाम रखा, केन्सी होन्तो (Proto Constitutional Party)।

यामागाताका अपने सिद्धान्तका त्याग करना भी कोई बड़ी भारी उलझन नहीं है। चाहे कैसा ही मन्त्रिमण्डल होता उसे अपनी युद्धोपरान्त नवीन (Post-bellum) नीतिके अनुसार काम कर सकनेके लिए ज़मीन और आबकारीकी आय बढ़ाना बहुत ही आवश्यक था। पूर्व वर्षके दिसम्बर मासमें बहुमत न मिलनेके कारण मात्सुकाता मन्त्रिमण्डल भूमिकर बढ़ानेवाले बिलको पास न करा सका, और छः महीने बाद इतोके मन्त्रिमण्डलके पतनका भी यही कारण हुआ। ओकुमा-इतागाकी मन्त्रिमण्डलको मतोंकी कमी नहीं थी परन्तु यह कार्य करनेसे पहले ही शासनदण्ड नीचे रख देना पड़ा। यह तो स्पष्ट ही था कि बिना आय बढ़ानेका कोई स्थायी उपाय किये यामागाता मन्त्रिमण्डल भी अधिक काल रह न सकता। आय-कर बढ़ानेके लिए भूमिकर भी बढ़ाना आवश्यक समझा जाता था। इसलिए यामागाताने उदारमतवादियोंको मिलानेका उद्योग किया और बदलेमें उनका कार्य करा देनेका भी वचन दिया।

इस मेलसे और नैशनलिस्टोंकी हार्दिक सहानुभूतिसे तथा सरकारी-लोभकी मददसे यामागाता परिषद्के तेरहवें अधिवेशनकी नौकाको खे ले गये। प्रागतिकोंने बहुत अकाण्ड-ताण्डव किया पर तो भी सरकारने भूमिकर-वृद्धि, आयकर संशोधन तथा पोस्टेजसम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास करा ही लिये। वास्तवमें यामागाता मन्त्रिमण्डलने यह बड़ा भारी काम किया।

पर दूसरे अधिवेशनके पहले यामागाता मन्त्रिमण्डल और उदारमतवादी दलके बीच फिर झगड़ा पड़ गया। मन्त्रिमण्डलको तेरहवें अधिवेशनमें जो सफलता लाभ हुई

फिर अपने स्वभावपर आ गये। इसलिए उदारमतवादी दलने सं० १९५७ में यामागाता मन्त्रिमण्डलसे नाता तोड़ दिया।

इसी अवसरपर मारकिस, इतो राजनीतिक दलोंके पुनः सङ्गठनकी आवश्यकतापर व्याख्यान देते फिरते थे और सर्व-साधारणमें उनकी वाहवाही हो रही थी*। तब उदारमत-वालोंने इतोकी ओर दृष्टि फेरी और उन्हें अपना नेता बनाने-को कहा। इतोने नेता होना स्वीकार कर लिया। २८ भाद्रपद सं० १९५७ (ता० १३ सितम्बर १९००) को इतोके नेतृत्वमें

---

* नाकात्सुके व्याख्यानमें इतोने कहा था;—"एडमण्डबर्कने अपने निर्वाचकों-को एक पत्रमें लिखा है कि, निर्वाचकोंको अपने प्रतिनिधिसे वैसे ही पेश आना चाहिए जैसे कि जूते बनानेवालेसे। ग्राहकोंके पैर मुआफिक जूते बनाना मोचीका ही काम है। अगर ग्राहक उसके काममें दखल देकर यों बनाओ और त्यों बनाओ कहने लग जायँगे तो वह ग्राहकोंके ठीक फिट जूते न बना सकेगा। प्रतिनिधिकी भी यही बात है, अगर उसके निर्वाचक उसके काममें दखल देंगे तो वह अपना काम अच्छी तरह न कर सकेगा। इसलिए निर्वाचक जिसे अपना प्रतिनिधि मानें उसपर ही सब जिम्मेदारी छोड़ उसे अपनी इच्छा और कार्यकी स्वतन्त्रताके साथ पूरा उपयोग करने दें।" डिज़-रायलीने भी कहा है कि, 'राजनीतिक दलके नेताके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने दलके सिद्धान्तोंका पक्ष करनेमें सच्चा हो, और इसके साथ ही, उस दलके अनु-यायियोंको भी चाहिए कि वे हर हालतमें उसकी आज्ञाका पालन करें।"

लीड्स नगरके निर्वाचकोंको मेकॉलेने लिखा था,—"जैसे वैद्य, वैद्यकको साधारण मनुष्यसे अधिक समझता है, जैसे जूता बनानेवाला जूता बनाना साधारण मनुष्यसे अधिक जानता है, वैसे जिस मनुष्यका जीवन शासनकार्य करते ही बीता है वह शासन करनेका काम साधारण मनुष्यसे अधिक जानता है......जब कोई साधारण मनुष्य किसी प्रसिद्ध और यशस्वी वैद्यको बुलाता है तो वह उससे यह शर्त नहीं करा सकता कि अमुक गोली या अमुक काढ़ा ही दिया जायगा। जूता बनवाते हुए जूता बनानेवालेके सिरपर बैठ उसके हाथकी एक एक गतिकी परख नहीं की जा सकती। उसी प्रकारसे वह अपने प्रतिनिधिसे भी कोई खास वादे नहीं करा सकता और न नित्य और प्रति घड़ी उससे अपनी आज्ञाका पालन करा सकता है।"

नया दल बनानेके लिए उदारमतवादी दल भङ्ग हुआ और ३० को यह नवीन दल स्थापित हुआ। इस दलका नाम रिक्कन सेयुक्काई (सङ्गठनात्मक राजनीतिवादी बान्धव समाज) हुआ। इतोके कई साथी इस दलमें सम्मिलित हुए।

"स्वेच्छाचारी मन्त्रिमण्डल" सूत्रकी रचना दस वर्ष पहले इतोने ही की थी और वही इतो अब एक राजनीतिक दलके नेता भी बन गये। पर यह भी ध्यानमें रखना होगा कि सेयुक्काई (पुराने उदारमतवादी) दलने उन्हें अपना नेता इसलिए नहीं माना था कि उनके और उनके भावी नेताके विचार मिलते जुलते थे। असल बात यह थी कि यामागाता मन्त्रिमण्डलके दिन पूरे हो चले थे और वे जानते थे कि यामागाताके बाद, हो न हो, इतो ही प्रधान मन्त्री बनाये जायँगे। सेयुकाई दल ऐसे बड़े अधिकारियोंसे सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था और इसीलिए उसने इतोको अपना नेता माना। इतोने भी नेतृत्व इस शर्तपर स्वीकार किया था कि सब लोग बिला उज्र उनका कहना मानेंगे।

सेयुकाई दलके बननेसे १० आश्विन संवत् १९५७ (ता० २६ सितम्बर १९००) को यामागाता अपने पदसे अलग हुए।

इतोने नया मन्त्रिमण्डल सङ्गठित तो किया पर उसमें उन्हें समय बहुत लगा और कठिनाई भी झेलनी पड़ी, क्योंकि इतोके राजनीतिक दलका नेतृत्व ग्रहण कर लेनेसे बहुतेरे राजकर्मचारी और सरदार-सभाके सभासद उनके विपक्षमें हो गये थे और उनका विपक्षमें होना कुछ ऐसी वैसी बात नहीं थी। यह भी कहा जाता है कि मन्त्रिपद ग्रहण करनेसे पहले इतोने यामागातासे यह वचन ले लिया था कि इतोका मन्त्रिमण्डल जब बन जायगा तब यामागाताकी ओरसे उसका

विरोध न होगा। एक ओर तो यह हुआ, और दूसरी ओर सेयु काई (उदारमतवादी) दलकी अधिकार-लिप्सा बढ़ती जा रही थी और आपसमें मतभेद भी बड़ा तीव्र हो रहा था जिससे मन्त्रिमण्डल सङ्गठित करनेमें इतोको बड़ी कठिनाई हुई।

मन्त्रिमण्डलमें तीनको छोड़ बाकी सब सभासद सेयुकाई दलके थे। उस समय प्रतिनिधि-सभाके ३०० सभासदोंमेंसे १५६ सेयुकाई दलके ही थे। इनके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डलके पक्षके और भी कई लोग थे। इसलिए परिषद्के सत्रहवें अधिवेशनको (जो १० चैत्र संवत् १६५८ या ता० २३ मार्च १६०१ को आरम्भ हुआ था) विशेष कठिनाई के विना इतो निबाह ले गये।

परन्तु इतोके मन्त्रिमण्डलको सरदार सभासे बहुत झगड़ना पड़ा। सरदार-सभाने सरकारको तङ्ग करनेके लिए बजटमें बहुत काटछाँट की। इतोने सम्राट्का सूचनापत्र निकालकर इस मुसीबतसे फुरसत तो पा ली पर इससे मन्त्रि-मण्डलका बल बहुत कुछ घट गया। सब झगड़ेकी असल जड़ तो यह थी कि इतोने जो राजनीतिक दलसे सम्बन्ध कर लिया था सो सरदार-सभाके पुराणप्रिय सभासदों और शासक वर्गके हिमायतियोंको बहुत खटक रहा था, और होशी-तोरूको मन्त्रिपद मिलनेसे वे और भी चिढ़ गये थे। होशी-तोरूसे उनका व्यक्तिगत द्वेष तो था ही पर इसके साथ ही कुछ राजनीतिक कारण भी थे। यही होशीतोरू कुछ काल पहले प्रतिनिधि-सभाके सभापति थे और फिर वहाँसे निकाले गये। इनका चरित्र निष्कलङ्क नहीं था न उनकी कार्यवाही सदा नीतियुक्त होती थी। बड़े रोबदार और बड़े भारी दमाग़-के आदमी थे और उन्होंने यह समझ रखा था कि यदि नीति-

से काम लिया जायगा तो सभाको दबा डालना कोई बड़ा काम नहीं है। इसलिए वे सदा बेउसूल, उचितानुचितका विचार छोड़, कुटिल नीतिका आश्रय लिया करते थे। इनकी इस कार्यवाहीसे मन्त्रिमण्डलपर हमला करनेके लिए सरदार-सभाको अच्छा अवसर हाथ लगा।

परिषद्का पन्द्रहवाँ अधिवेशन आरम्भ होनेके पूर्व सरदार-सभाके छहों दल एक हो गये और उन्होंने होशीतोरूकी ख़बर लेनेका निश्चय किया। जो जो लोग मन्त्रिमन्डलके विरोधी थे वे सब भी होशीतोरूकी निन्दा करने लगे। अन्तको होशीतोरूको अधिवेशन आरम्भ होनेके एक दिन पूर्व ही इस्तीफा देना पड़ा। जब अधिवेशन आरम्भ हुआ, ये छः दल तब भी सरकारकी निन्दा कर ही रहे थे और उन्होंने व्यवस्थापनके कार्यमें विलम्ब करके मन्त्रिमण्डलको परेशान भी कर डाला।

बाहरसे तो इतो मन्त्रिमण्डलपर यह आफ़त थी, पर भीतरँकी आफ़त भी कुछ कम न थी। सेयुकाई दलसे जो पाँच मन्त्री चुने गये थे वे सब अर्थमन्त्रीके कार्यसे असन्तुष्ट थे, यद्यपि इतोकी ही सम्मतिसे उनका कार्य होता था। मन्त्रियोंका यह कहना था कि या तो इस अर्थमन्त्रीको निकाल दो या हमारे त्यागपत्र स्वीकार करो। इतोने सोचा कि इस झगड़ेसे बाज़ आये और उन्होंने स्वयं ही पदत्याग किया—मन्त्रिमण्डलमें किसीसे कुछ कहा सुना भी नहीं। इससे इस दूसरे दलमूलक मन्त्रिमण्डलका भी इतना जल्द अन्त हो गया।

इस प्रकारसे धड़बन्दीका शासकमण्डल स्थापित करनेका दूसरा प्रयत्न भी विफल हुआ। इतो एक बहुत बड़े अनुभवी

शासक थे, उन्होंने काम बहुत किया था, परन्तु पार्लमेण्टके एक सभासदकी हैसियतसे वे कुछ कर न सके, वे लोगोंको अपने काबूमें रखना जानते थे और देशका शासन भी अकेले अच्छी तरह कर सकते थे, पर दलबद्ध राजनीतिज्ञकी हैसियतसे शासन करनेका उन्हें अनुभव नहीं था और अपने ही दलके परस्पर-विरोधी पुरुषोंको एकत्र किये रहनेकी कला उन्हें अवगत न थी। जो इतो 'आप करे सो कायदा' की नीतिसे शासन करनेके अभ्यासी थे उनके लिए अपने दलके परस्पर-विरुद्ध मतोंका मेल करानेमें समय देना भी एक बड़ी भारी मुसीबत थी। इसलिए उनका दलमूलक शासनपद्धति निर्म्माण करनेका प्रयत्न विफल हुआ।

इतोका त्यागपत्र पाकर सम्राट्ने पुराने लोगोंका—मारकिस यामागाता, मारकिस सायगो, काउण्ट इनोयी और काउण्ट मात्सुकाताको—बुलाकर इस बातकी सलाह पूछी कि अब कौन प्रधान मन्त्री होने योग्य है। इस सभाके कई अधिवेशन हुए और इन लोगोंकी यह राय हुई कि इतोको छोड़कर और कोई पुरुष ऐसा नहीं है जो इस कामको कर सके, क्योंकि इतो सेयुकाई दलके नेता थे जिससे प्रतिनिधि-सभामें अब भी उनका मताधिक्य था। इसलिए सम्राट्ने इतोसे अपने निश्चयपर पुनर्वार विचार करनेके लिए कहा। परन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ। तब एक महीने बाद यह निश्चय हुआ कि "बड़े लोग" तो अब राजनीतिक क्षेत्रसे हट जायँ और नवयुवकोंको ही काम करने दें*। तदनुसार सम्राट्ने वाइकाउण्ट कत्सूराको बुला भेजा।

* इसी बीच प्रिवी कौन्सिलके प्रेसिडेण्ट मारकिस सायोञ्जी एक महीनेतक प्रधान मन्त्रीका काम करते थे।

जापानकी राजनैतिक प्रगति

१६ ज्येष्ठ संवत् १६५८ (तारीख २ जून १६०१) को नवीन मन्त्रिमण्डल बना जिसमें प्रधान मन्त्री वाइकाउण्ट कस्तूरा हुए। इस मन्त्रिमण्डलमें किसी राजनीतिक दलका कोई प्रतिनिधि नहीं था, यह एक प्रकारसे क्रान्तिकारक मण्डल ही था, परन्तु इसमें एक बात नवीन हुई। अबतक प्रत्येक मन्त्रिमण्डलका (ओकुमा-इतागाकी-मन्त्रिमण्डलको छोड़कर) अधिनायक कोई न कोई पुराने शासकवर्गमेंसे हुआ करता था। पर इस मन्त्रिमण्डलमें यह बात नहीं हुई।

कस्तूरा यामागाताकी मण्डलीमेंसे थे और उनके मन्त्रिमण्डलमें राजनीतिक दलका कोई पुरुष न आने पाया था। परन्तु मुश्किल तो यह थी कि वे प्रतिनिधि सभाका शासन कैसे करेंगे। उन्हें एक बड़ा भारी सुबीता यह था कि इस समय राजनीतिक दलोंकी नीति बदल गयी थी। बहुतसे सभासदोंको अपने अनुभवसे यह विश्वास हो चुका था कि, "सर्वशक्तिमान् सरकार" के साथ अपने सिद्धान्तपर लड़नेसे कुछ फ़ायदा न होगा, उलटी हानि ही होगी। प्रागतिक दल प्रत्येक मन्त्रिमण्डलसे अपने सिद्धान्तके लिए लड़ा था पर उससे न कुछ लाभ हुआ न उसे लोकप्रियता ही प्राप्त हुई।

उदारमतवादियों ने तो इससे बहुत पहले ही, सिद्धान्तके लिए लड़ना छोड़ दिया था और शासकोंसे जिस प्रकार हो भला बुरा सम्बन्ध रखनेकी नीति स्वीकार की थी। वालपोलकी सी कुटिल नीतिका आश्रय लेनेमें उन्हें कुछ भी आपत्ति न होती थी और इस तरह उनकी संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। यह सब देखकर प्रागतिकोंने भी अपनी आजतककी सिद्धान्तलड़ाई बन्द करके कस्तूरा मन्त्रिमण्डलसे मिलनेका उद्योग किया। उदारमतवादियोंने भी यह जानते हुए कि, कस्तूराका

मन्त्रिमण्डल इतोके मन्त्रिमण्डका सर्वथा विपरीत पथिक है. कस्तूराका विरोध नहीं किया और उससे मिले रहनेमें ही अपना भला समझा। इतोने अवश्य ही उन्हें यह तसल्ली दे रखी थी कि चाहे कोई मन्त्रिमण्डल हो, वे दलका अहित न होने देंगे।

कस्तूराने "समान आदर और समान अधिकार" को अपना सिद्धान्त माना और ऐसा उद्योग करना चाहा कि कोई दल असन्तुष्ट न हो। वे दोनों सभाओंके सभासदोंको अपने घर पर बुलाकर परस्पर—हितेच्छा प्रकट करनेका मौका निकालते थे। इस नीतिसे उन्होंने परिषद्का सोलहवाँ अधिवेशन २४ मार्गशीर्ष संवत् १९५८ (ता० १०, दिसम्बर १९०१ से ९ मार्च १९०२) से २५ फाल्गुन १९५८ तक निर्विघ्नतापूर्वक निबाहा।

पर सबको प्रसन्न करना किसीको भी प्रसन्न न करनेके बराबर होता है। इसपनीतिके बूढ़े आदमी और गधेकी कहानी यही सिखलाती है कि जो मनुष्य सबको प्रसन्न करने-की चेष्टा करता है, वह किसीको प्रसन्न नहीं कर सकता। कस्तूराके मन्त्रिमण्डलसे भी प्रतिनिधि-सभाके किसी दलको प्रसन्नता नहीं हुई। १७वें अधिवेशनमें जो सेयुकाई और केनसीहान्तो (प्रागतिक) दोनों दलोंने मिलकर अर्थनीतिके सम्बन्धमें सरकारको आड़े हाथों लिया, और उसके सबसे महत्वपूर्ण करवृद्धि सम्बन्धी बिलको अधिवेशनारम्भमें ही अस्वीकार करा दिया। अधिवेशनको अभी २८ दिन भी नहीं बीते थे कि सभा भङ्ग कर दी गई।

मन्त्रिमण्डल और राजनीतिक दलोंमें जो यह झगड़ा चल रहा था इसमें सबसे मार्केकी बात यह थी कि मन्त्रिमण्डलका

विरोध करनेमें इतो ही सबके अगुआ हुए थे। इस अधिवेशन-से पहले इतोने यामागाता तथा प्रधान मन्त्री कस्तूरासे मिल-कर अर्थनीतिके सम्बन्धमें उन्हें बहुत कुछ समझाया था*। परन्तु उनकी सम्मतिका कोई ख्याल ही नहीं किया गया। इसलिए उन्होंने प्रागतिकोंके नेता ओकुमासे सरकारकी अर्थ-नीतिके सम्बन्धमें बातचीत शुरू की†। अब दोनों दल कस्तूरा मन्त्रिमण्डलका विरोध करनेके लिए फिर एक हो गये। अर्थात् सभा भी भङ्ग हो गयी।

अब यह सोचना चाहिए कि इतोने क्या समझकर इस मार्गका अवलम्बन किया? उनका असली मतलब क्या था? क्या वह यह समझते थे कि दोनों दलोंके एक होकर विरोध करनेसे उनके राजनीतिक विचारोंकी विजय होगी? यदि हाँ, तो कैसे? मन्त्रिमण्डलको अपने विचारोंपर आनेके लिए बाध्य करके, या मन्त्रिमण्डलसे पदत्याग करा के? अब तक किसी मन्त्रिमण्डलने किसी राजनीतिक दलकी माँगको पूरी तौरसे पूरा नहीं किया था और न सभाको पहले भङ्ग किये

---

* महाराज सप्तम एडवर्डके राज्याभिषेकोत्सवपर जापानकी ओरसे इतो ही गये थे और अभी वहाँसे लौटे थे। १६ वें अधिवेशनमें वे शरीक नहीं हुए थे।

† इतोसे बातचीत हो चुकनेके दूसरे ही दिन याने (१८ मार्गशीर्ष सं० १९५९ को) ओकुमाने केनसीहन्तोंकी साधारण साधारण सभामें कहा, "पुनः स्थापना-कालके पुराने और दरबारके प्रिय राजनीतिक जीवनके ३५ वर्ष बिता चुकनेके बाद, मन्त्रि-मण्डलसे मतविरोध होनेके कारण सर्वसाधारणकी सम्मतिके प्रार्थी हुए हैं और लोक-पक्षकी ओर आ गये हैं। अबतक जो लोग सरकारकी नीतिका विरोध करते थे उन्हें कुछ लोग राजद्रोही ही क्या देशद्रोही और सम्राट्के द्रोही कहा करते थे। अब इतोको वे क्या समझेंगे? क्या यह कहनेकी हिम्मत वे रखते हैं कि, इतो अगर सरकारकी नीतिका विरोध कर रहे हैं तो वे भी देशद्रोही हैं?"

बिना पदत्याग ही किया था। जो मन्त्रिएडल राजनीतिक दलोंसे स्वाधीन है वह पहले तो प्रतिनिधि-सभाके उस दल से मेल करनेका उद्योग करता है जिसका कि सभामें मताधिक्य है और मेल करके अपने प्रस्तावोंको स्वीकार करा लेता है, यदि यह न हुआ तो दबाव डालने तथा साम, दाम, दण्ड और भेद इन सबसे काम लेनेका प्रयत्न किया जाता है। इससे भी जब कुछ नहीं होता तब सभा स्थगित अथवा भङ्ग की जाती है। इतो तो इन सब बातोंको जरूर जानते रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने खुद ही मन्त्रिपदपर रहते हुए इन उपायोंका अवलम्बन किया था। क्या वह यह जानकर भी नहीं जानते थे कि उदारमतवादी तथा प्रागतिक इन दोनों दलोंके एक होकर सरकारका विरोध करनेसे उसका परिणाम सभाके भङ्ग होनेहीमें होगा? निःसन्देह उस समय इतो सबसे बड़े राजनीतिज्ञ और प्रभावशाली पुरुष थे, और सम्राट्का भी उनपर पूर्ण विश्वास था। इसके साथ ही वह केवल सेयुकाई दलके ही नेता न थे प्रत्युत अब दो दलोंके एक हो जानेसे केनसीहान्तो दल भी उन्हींकी आज्ञाके अधीन था। इसलिए शायद उन्होंने यह सोचा होगा कि कस्तूरा मन्त्रिमण्डल पदत्याग करके राज्यकी मुहर हमारे हवाले कर देगा। यदि सचमुच ही उनका यह ख्याल था तो यह गलती थी। कस्तूराने पदत्याग नहीं किया, सभाहीको भङ्ग किया। परिषद्के ८वें अधिवेशनमें २९ वैशाख संवत् १९६० से २२ जेठ तक (१२ मई १९०३ से ५ जून तक) इतोके पक्षका अर्थात् सेयुक्वाई दलका ही मताधिक्य था तथापि इतोको अर्थसम्बन्धी सरकारकी नीतिके सम्बन्धमें मन्त्रिएडलसे मेल करनेके लिए ही बाध्य होना पड़ा, यद्यपि उस नीतिसे उसके अनुयायी अस-

न्तुष्ट थे*। सच तो यह है कि इस मौकेपर इतो और उनके दलको कस्तूरा मन्त्रिमण्डलसे हार ही माननी पड़ी।

इतोकी इस हारसे एक यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है, कि जापानकी वर्त्तमान शासनप्रणालीके रहते हुए, चाहे कोई भी सरकारका विरोध करे, उसके कुछ भी राजतीतिक विचार हों, उसके पक्षमें चाहे कितना ही बड़ा मताधिक्य हो, जबतक मन्त्रिमण्डल अपने कार्यके लिए प्रतिनिधि-सभाके सामने अर्थात् सर्वसाधारणके सामने उत्तरदादायी नहीं है—लोकतन्त्रसे स्वाधीन है—तबतक कोई नेता उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

२८ आषाढ़ (१२ जुलाई) को इतोने एकाएक सेयुक्वाई दलसे सम्बन्ध त्याग दिया और प्रिवीकौन्सिलके अध्यक्षका पद ग्रहण किया। इस आकस्मिक सम्बन्ध त्यागका क्या कारण हुआ, इतो राजनीतिक दलका नेतृत्व न निबाह सके या और कुछ कारण हुआ, यह बतलाना बड़ा कठिन है। कुछ लोगोंने कहा कि इतोको पार्लमेंटके राजकारणसे हटा देनेके लिए कस्तूराकी यह एक चाल थी, और कुछ लोगोंकी यह भी राय

---

* सेयुक्वाई दलकी २४ वैशाख सं० (१९६० ता० ७ मई १९०३) की साधारण-सभामें इतोने कहा था, "सभा भङ्ग होनेपर मैंने पुनर्वार विचार किया (सरकारकी अर्थ-सम्बन्धी नीतिपर) और मुझे मालूम हुआ कि मैंने गलती की है। और प्रतिनिधि-सभासे और मन्त्रिमण्डलसे मेल न रहना भी देशका बड़ा भारी दुर्भाग्य है।...मालूम होता है, कुछ सभासद ऐसे हैं जो कहते हैं कि दो या तीन बार भी यदि लगातार सभा भङ्ग हो तो कोई परवा नहीं। परन्तु जबतक आप लोग मुझे अपना नेता मानते हैं तबतक मैं ऐसे दुर्भाग्यको सह नहीं सकता, और इसलिए, आप चाहे सहमत भी न हों तो भी, उसे मिटानेके लिए प्रयत्न करना मेरा कर्त्तव्य है।" मालूम होता है, इस सभासे पहले मेलके सम्बन्धमें इतो और कस्तूराकी बातचीत हो चुकी थी।

थी कि इतो स्वयं ही मन्त्रिमण्डलमें आना और सेयुक्वाई दलसे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते थे। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि परिषद्के दो अधिवेशनोंमें कस्तूरासे उन्हें हारना पड़ा, यद्यपि प्रतिनिधि-सभामें उनका बहुमत वर्त्तमान था। यह भी सही है कि सेयुक्वाई दलके नेता होकर इन्होंने कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं कर दिखलाया। अट्ठारहवें और उन्नीसवें अधिवेशनके बीचमें कई लोग इतोकी हुकूमतके साथ काम करनेकी नीति तथा अट्ठारहवें अधिवेशनके रियायतोपनसे असन्तुष्ट होकर सेयुक्वाई दलको छोड़ गये। सचमुच ही दलके १६३ सभासदोंमेंसे अब १२८ ही रह गये थे, अतएव इनका मताधिक्य भी जाता रहा।

उन्नीसवें अधिवेशनके पूर्व उदारमतवादी और प्रागतिक दोनोंने मिलकर मन्त्रिमण्डलका विरोध करनेका निश्चय कर लिया था। पर अधिवेशन आरम्भ होनेके दूसरे ही दिन उसका अन्त हुआ; क्योंकि अध्यक्षने सम्राट्की आरम्भिक वक्तृताके उत्तरमें केवल व्यावहारिक भाषण करनेके बजाय ऐसी ऐसी बातें भी कह दी थीं कि जिनसे मन्त्रिमण्डलपर आक्षेप होते थे। इसलिए सभा भङ्ग हो गयी।

अध्यक्षके इस कार्यकी निन्दा तो सबोंने की पर उनके उद्देश्यकी प्रशंसा ही हुई। इसलिए इस बातकी बहुत सम्भावना थी कि इसके बादके अधिवेशनमें दोनों दल मिल कर मन्त्रिमण्डलका फिर विरोध करें। परन्तु २८ माघ (१० फरवरी)को रूसके साथ युद्धघोषणा हुई। इससे कस्तूरा मन्त्रिमण्डल विरोधसे बचा रहा। इसके बाद दो और अधिवेशन हुए जब युद्ध जारी था और इसलिए प्रतिनिधि-सभासे

महत्त्वके बिल पास करा लेनेमें मन्त्रिमण्डलको कुछ भी कठिनाई नहीं हुई।

सं० १९६२ में रूस से पोर्ट्समाउथमें सन्धि हुई और पुनः शान्ति विराजने लगी। तब फिर भीतरी शासनचक्र अपने ढर्रे पर चला। सरकारकी आर्थिक नीति, सन्धिकी शर्तें, समाचारपत्रोंकी लेखनस्वतन्त्रतामें रुकावट आदि बातोंसे उस समय कस्तूरा मन्त्रिमण्डलके विरुद्ध बड़ी उत्तेजना फैल रही थी। कस्तूराने सब रङ्ग ढङ्ग देखकर बाइसवें अधिवेशनका (१३ पौष सं० १९६२ से १४ चैत्रतक अर्थात् २८ दिसम्बर १९०५ से २८ मार्चतक) आरम्भ होनेके बाद ही पद त्याग किया।

२२ पौष सं० १९६३ जनवरी १९०६ को मारकिस सायोञ्जी प्रधान मन्त्री हुए और नया मन्त्रिमण्डल बना। ये मारकिस सायोञ्जी इतोके बादसे सेयुकाई दलके नेता थे। लोगोंका ऐसा ख्याल था कि कस्तूराने इस शर्तपर राज्य भार सायोञ्जीके सुपुर्द किया था कि सायोञ्जी कस्तूरा मन्त्रिमण्डलकी नीतिसे ही काम करें और पूर्व मन्त्रिमण्डलके समय जो अधिकारी थे उनको अपनी जगह पर रहने दें। इसमें सन्देह नहीं कि सायोञ्जीने सचाईके साथ कस्तूरा मन्त्रिमण्डलकी नीतिका पालन किया और उन्हींका अनुसरण भी किया। वे सेयुकाई दलके नेता तो थे पर उनकी यह इच्छा नहीं थी कि वे दलमूलक मन्त्रिमण्डल कायम करें। तथापि सायोञ्जीका सारा दारोमदार सेयुकाई दलपर ही था। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि सं० १९६३ के पौष से आषाढ़ १९६५ तक जो तीन अधिवेशन हुए उन्हें सेयुकाई दलकी बदौलत ही सायोञ्जी निबाह ले गये।

इसके उपरान्त सायोन्जीने पदत्याग किया और फिरसे कस्तूरा प्रधान मन्त्री हुए। सायोन्जीके पदत्याग करनेका क्या कारण हुआ सो समझना आसान नहीं है। उनके पद त्याग करनेसे दो महीने पहले जो साधारण निर्वाचन हुआ था उसमें सेयुकाई दलका ही मताधिक्य रहा। फिर भी सायोञ्जीने पदत्याग फिया। उन्होंने सेयुकाई दलके सभासदोंसे भी कुछ नहीं कहा सुना जिन्होंने कि दो वर्षतक इनका साथ दिया था। सर्वसाधारणमें उन्होंने अपने पदत्यागका कारण अस्वास्थ्य बतलाया। यह भी जापानके भीतरी शासनचक्रकी विषमता है।

परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि जिस सेयुकाई दलने अबतक अपने नेताके कारण सायोञ्जी मन्त्रिमण्डलका साथ दिया था उसने कस्तूरा मन्त्रिमण्डलका भी २५ वें अधिवेशनमें बिना आपत्ति किये साथ दिया। यह भी कहा गया है कि सायोञ्जी और कस्तूराके बीच यह बात तै हो चुकी थी कि जब सायोञ्जी पदत्याग करें तो पदत्याग करनेपर वे कस्तूराकी पूरी मदद करें। यह अफवाह कहाँतक ठीक है सो ईश्वर जाने। पर ८ माघ संवत् १९५९ (ता० २१ जनवरी १९०२)को सेयुकाई दलकी सभामें मार्किस सायोञ्जीकी जो वक्तृता हुई थी उससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने कहा था,—“गत जुलाई मासमें जब मैंने इस्तीफ़ा दिया था तो मैंने सम्राट्से मारकिस कस्तूराकी सिफ़ारिश की थी क्योंकि उनसे योग्य पुरुष और कोई नहीं था। और सम्राट्ने उन्हींको नियुक्त किया है उनके कर्त्तव्यपालनमें खुले दिलसे यथाशक्ति उनकी सहायता करना चाहता हूँ और मुझे आशा है कि मन्त्रिमण्डलसे आप भी ऐसा ही व्यवहार करेंगे।”

सेयुकाई दलने बिना किसी आपत्तिके मन्त्रिमण्डलका साथ दिया।

इस घटनासे यह प्रश्न सामने आही जाता है कि सेयुकाई दल अपने नेता मारक्विस सायांजीके और साथ ही कत्सूराके हाथकी कठपुतली क्यों बन गया जब कि कत्सूराका उससे कोई सम्बन्ध भी नहीं था। इसका कारण समझना बहुत कठिन नहीं है। प्रतिनिधि-सभामें सेयुकाई दलका मताधिक्य था। अब सोचिये कि कत्सूरा मन्त्रिमण्डलका विरोध करके वह कर ही क्या लेता? यह तो सन्देह रहित बात है कि उसके विरोध करनेसे उसके सिद्धान्तोंके अनुसार कार्य न होता, होता यही कि सभा भङ्ग हो जाती। सभा भङ्ग होनेका यह मतलब है कि प्रत्येक सभासद्के सिर कुछ न कुछ खर्च आ पड़े क्योंकि इसके बिना नया निर्वाचन कैसे होता। इसके अतिरिक्त यह भी तो निश्चय नहीं था कि नये निर्वाचनमें सेयुकाई दलका ही मताधिक्य रहेगा। इनका मताधिक्य न होता तो कत्सूरा मन्त्रिमण्डल अन्य दलोंको मिलानेका प्रयत्न करता। जब किसी एक ही दलका मताधिक्य नहीं है तब सरकार नाना प्रकारके छलकपट और लोभमोहसे काम लिया करती है। ऐसी अवस्थामें सेयुकाई दलके मन्त्रिमण्डलके अनुकूल बने रहनेसे उसका भी कुछ लाभ होता ही था। इसके अतिरिक्त यह भी तो आशा थी कि मन्त्रिमण्डलके अनुकूल बने रहनेसे, कत्सूरा जब मन्त्रिपद छोड़ देंगे तो हमें सायोंजीके ही सुपुर्द करेंगे।

यहाँतक जापानके २० वर्षके सङ्गठनात्मक शासन कालके भिन्न भिन्न मन्त्रिमण्डलों और राजनीतिक दलोंका संक्षिप्त इतिहास हुआ। इससे यह प्रकट हो गया कि जापानमें जितने

नये कानून बनते हैं उन्हें सभाकी बहुसम्मति मन्त्रिमण्डल बनाता है और वह मन्त्रिमण्डल परिषद्से सर्वथा स्वतन्त्र है। यह सम्मति कभी सभासदोंकी अपनी इच्छासे भी प्राप्त होती है, परन्तु प्रायः ज़बर्दस्तीसे ही प्राप्त की जाती है अर्थात् सभा स्थगित करने या भङ्ग कर देनेकी धमकीसे या तरह तरहके दबाव और दुर्व्यवहारसे।

अतएव जापानमें किसी राजनीतिक दलका कोई बँधा हुआ कार्यक्रम नहीं होता। कार्यक्रम बाँधनेसे लाभ भी कुछ नहीं, क्योंकि बहुमतके रहते हुए भी उसका उपयोग कुछ नहीं होता। उसी प्रकार मन्त्रिमण्डल भी सर्वसाधारणके सामने कोई निश्चित कार्यक्रम उपस्थित नहीं करता। कारण, मन्त्रि-मण्डलका कार्यक्रम भी कहाँतक कार्यान्वित होगा इसका निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि, यह बात सभाको अपने काबू-में रख सकनेपर निर्भर करती है। मन्त्रिमण्डल और राज-नीतिक दल विशेषके बीच कोई समझौता हुआ हो तबकी बात छोड़कर प्रायः तो राजनीतिक दल मन्त्रिमण्डलका विरोध ही करते हैं, इस आशासे नहीं कि उनकी नीतिका अनुसरण किया जायगा, बल्कि केवल इसलिए कि सरकारको तङ्ग करने-से सरकार कुछ ले देकर बखेड़ा दूर करेगी।

ऐसी तो अवस्था ही नहीं है कि राजनीतिक दलोंके सामने कोई निश्चित कार्य या उद्देश्य हो सके, इसलिए उनका सङ्गठन बहुधा सिद्धान्त विशेषपर नहीं प्रत्युत व्यक्तिगत भावोंपर हुआ करता है। ऐसे दल अधिक कालतक रह भी नहीं सकते और दृढ़तापूर्वक कार्य भी नहीं कर सकते। बार-म्बार "उत्पद्यन्ते विलीयन्ते" ही होता रहता है, यहाँतक कि प्रत्येक अधिवेशनमें कुछ नये दल दिखायी देते हैं और कुछ

पुराने दल गायब हो जाते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि जापानके भीतरी राजशासनकी अवस्था अच्छी नहीं है। जापानियोंका यह कर्त्तव्य है कि वे गम्भीरताके साथ इस अवस्थापर विचार करें और सोचें कि लोगोंकी राजनीतिक नीतिमत्ताकी अनुन्नत अवस्थासे ऐसा हो रहा है या सङ्गठनकी कार्यप्रणालीमें ही कुछ दोष छिपे हुए हैं।

हालकी एक घटना

यह घटना नित्तो-जिकेन या चीनी (खाँड) के कारखानोंके कलङ्कसे सम्बन्ध रखती है। इसके सम्बन्धमें टोकिओके संबाददाता ने 'टाइम्स' पत्रको जो लिख कर भेजा था वही नीचे उद्धृत किया जाता है क्योंकि उससे जापानके भीतरी राजशासनकी कई बातों पर प्रकाश पड़ता है।

"जापानके न्यायालयोंने अभी एक ऐसे मामलेका फैसला किया है जिसकी ओर समस्त देशकी आँखें लगी हुई थीं। जापानमें इसकी जोड़का दूसरा मामला आजतक नहीं हुआ है जिसपर लोगोंका इतना ध्यान आकृष्ट हुआ हो। तीन वर्ष हुए, अर्थात् रूस-जापानके युद्धके बाद ही जापानके कई चीनीके कारखानोंने मिलकर १ करोड़ ८० लाख रुपयेकी पूँजीसे "ग्रेट जापान शुगर कम्पनी" के नामसे एक बड़ी भारी कम्पनी स्थापित करने और फारमोसामें उसकी एक शाखा खोलनेका उद्योग किया। अबतक ब्रिटिश कोठीवालोंके हाङ्काङ्गस्थ दो चीनीके कारखानोंका माल ही बहुधा जापानके बाज़ारमें आया करता था। इस बाहरी प्रतिस्पर्धाका अन्त कर देनेकी उन्हें पूर्ण आशा थी और इसीलिए यह ग्रेट जापान

कम्पनी स्थापित हुई, जिससे सर्वसाधारणको भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उसकी आरम्भिक कार्यवाही भी ऐसी हुई थी कि जिससे उसके सङ्कल्पके पूरे होनेमें सन्देह होनेका कोई कारण न रहा, क्योंकि १७ आषाढ़ सं० १९६३ (ता० १ जुलाई १९०६) से १६ पौष सं० १९६५ (३१ दिसम्बर १९०८) तक इसने अपने शेयर होल्डरोंको छमाही यथाक्रम ६४%, २०%, १७½% और १५% (दो बार) लाभ दिया था। यह लाभ कुछ कम नहीं था, परन्तु वह ६४% से उतर कर धीरे धीरे १५% तक आ पहुँचा था। एक बात तो यह हुई, और दूसरी बात यह कि यह अफवाह भी गरम हो रही थी—जिसका खुलासा भी कम्पनीने अच्छी तरहसे नहीं किया—कि अन्तिम दो बार जो लाभांश दिया गया वह महसूलघर (शुल्कागार) वालोंको धोखा देकर बचाये हुए रुपयेसे दिया गया। इन बातोंसे कम्पनीपरसे लोगोंका विश्वास हट चला और १९६७ के बसन्ततक कम्पनीके ५ पाउण्डवाले शेयरकी दर ७ पाउण्ड १० शिलिङ्गके ऊपर कभी न गया।

"तब एक विपद् आ पड़ी। जिस बङ्कने कम्पनीको बहुत सा रुपया दे रखा था वह बङ्क बड़ी मुसीबतमें पड़ गया और उसके लेनदारोंने जो तहक़ीकात और पूछताँछ शुरू की उससे बड़े बड़े गुल खिले। सच पूछिये तो कम्पनीका दिवाला ही निकल चुका था। शुल्कागारको उससे ६० लाख रुपया लेना था, इसके अतिरिक्त और जहाँसे कर्ज़ लिया गया था वह सब उतना ही हो गया था जितनी कि उसकी पूँजी थी। उसके कई डाइरेक्टरोंने कम्पनीके शेयरके रुपयेसे सट्टेबाजी शुरू कर दी थी, जो लाभ होता था वह तो स्वयं लेते थे और हानि होती थी उसे कम्पनीके सिर मढ़ते थे। इन सब बातोंके

खुलनेसे बड़ी खलबली पड़ गयी। और दूसरे कारखानों पर भी सन्देह बढ़ने लगा और हिसाब जाँचनेकी पद्धतिका आमूल सुधार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। शेयरका बाज़ार जो अभी एक आतङ्कसे निकलकर बाहर आ रहा था, फिर मन्दा पड़ गया, अफवाहोंका बाज़ार गरम होने लगा।

"इससे भी एक और भयङ्कर बात थी। यह पता चला कि कम्पनीके बेईमान डाइरेक्टर प्रतिनिधि-सभाके कुछ सभासदोंको भी घूस देकर अपने गुटमें मिला रहे थे। और एक दिन प्रातः तोकिओके नागरिकोंने यह भी सुना कि कई प्रमुख राजनीतिज्ञ (मुत्सद्दी) गिरफ़्तार किये गये हैं और उनके मकानोंकी खूब सख़्तीसे तलाशी ली गयी है। कई दिन तक यह क्रम जारी रहा, यहाँतक कि प्रतिनिधि-सभाके वर्त्तमान और भूत मिलाकर २४ सभासद हवालातमें बन्द किये गये। दो बार कम्पनीके डाइरेक्टरोंने रिश्वतें देकर प्रतिनिधि-सभासे अपना काम निकाला था। पहली बार तो २३ वें अधिवेशनमें, जब कि सरकारने चीनीकी रफ़्तनी बढ़ानेके लिए कर कम करनेके सम्बन्धमें एक बिल पेश किया था। सभामें बहुमतसे यह बिल पास हुआ और घूसखोरीसे काम न भी लिया जाता तो भी यह बिल पास हो जाता। दूसरी बार २४ वें अधिवेशन (सं० १६६४)में। उस समय डाइरेक्टरोंको अपना सर्वनाश दिखायी दे रहा था और सब उद्योग करके जब हार गये तब उन्होंने सरकारसे यह आग्रह कराया कि सरकारने जिस तरह आबकारी और कपूरके कारखाने अपने हाथमें रखे हैं उसी तरह चीनीका भी इजारा लेले। डाइरेक्टर सीधे अधिकारियोंके पास नहीं गये। वे प्रतिनिधि-सभाके सभासदोंका हाथ गरम करनेसे ही अपना मतलब पूरा होनेकी आशा रखते

थे। सभासदोंने साठ हज़ार रुपया रिश्वतमें लिया। जापानमें यह रकम थोड़ी नहीं समझी जाती। परन्तु इस प्रस्तावको अधिकारियोंने ऐसा विरोध किया कि सभामें उसपर विचार करनेका अवसर ही न आया। तथापि कम्पनीकी पोल तब तक नहीं खुली जबतक फुजिमोतो बङ्क फेल न हुआ। १६१४ के बसन्तमें यह बङ्क फेल हुआ और कम्पनीकी कलई खुलनी शुरू हुई।

"तब भी कई महीने तक पुलिसका हाथ आगे नहीं बढ़ा था, लोग अधीर हो रहे थे। विलम्ब होनेका कारण यह था कि अभी प्रमाण एकत्र किये जा रहे थे। वैशाखमें धर पकड़ शुरू हुई, और एक एक करके प्रतिनिधिसभाके नये पुराने मिलाकर २४ सभासद और कम्पनीके ५ डाइरेक्टर पकड़े गये। प्रत्येक राजनीतिक दलका एक न एक सभासद इसमें फँसा था। यह नहीं कह सकते कि पकड़े हुए व्यक्ति प्रथम श्रेणीके नेतृवर्गमेंसे थे। उन्हें दलके छोटे छोटे भागोंके नेता कह सकते हैं। इनमें एक व्यक्ति वह भी था जो कि एक बार किओतोके प्रसिद्ध कालेजका प्रेसिडेंट था और जिसके चरित्रपर गिरफ़ार होनेके समयतक कभी कलङ्क नहीं लगा था। वह सच्चा और सन्मान्य पुरुष समझा जाता था। इसने और तीन और व्यक्तियोंने, अपना अपराध पूरा पूरा और साफ साफ स्वीकार कर लिया, और यह आशा की जाती थी कि इनको थोड़े ही समयके लिए सादर-सादी कैदका दंड दिया जायगा—या यों कहिये कि उन्हें दंड तो दिया जायगा पर वस्तुतः वे दण्डित न किये जायँगे।

"न्यायाधीशोंका कुछ दूसरा विचार था। २४ अभियुक्तोंमेंसे उन्होंने केवल एकको छोड़ा और बाकी सबको तीनसे

दस महीनेतककी कैदकी सज़ा दी, सातको बरी किया गया, पर जिन तीन अभियुक्तोंके साथ सर्वसाधारणकी बहुत ही सहानुभूति थी उनमेंसे एकहीके साथ यह रियायत की गयी। सबको हुकुम हुआ, कि जितना जितना रुपया उन्होंने लिया है, सब अदालत में जमा करें। किसीके जिम्मे ६ हजार था किसी के जिम्मे १० हज़ार। डाइरेक्टरोंके बारेमें अभी फैसला नहीं हुआ। अभियुक्तोंके वकीलों और समाचारपत्रोंके विचारोंमें परस्पर बहुत ही विरोध था। अभियुक्तोंकी ओरसे ७०से भी अधिक वकील थे, उन सबका प्रायः यही कहना था कि सभी अभियुक्त बड़े खान्दान के हैं और उनपर फौजदारी कानून चलनेसे उनकी बदनामी हुई है और उन्हें जो कष्ट हुआ है उसका विचार किया जाना चाहिए। वही काफ़ी सजा समझनी चाहिए। समाचारपत्रोंका कहना यह था कि ये बड़े खान्दानके लोग हैं और सच्चरित्रताका उदाहरण दिखलानेके कर्तव्यकी इन्होंने अवहेलना की है इससे इनका अपराध और भी बढ़ गया है, इसलिए इन्हें अधिक सज़ा मिलनी चाहिए। सौभाग्यवश, न्यायालयने इस पिछले विचार पर ही आचरण किया।

"यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस घटना से परिषद्की प्रतिनिधि-सभाके सार्वजनीन सम्मान और जापानी कोठियोंकी साखको बड़ा भारी धक्का पहुँचा। कोठियोंकी साख तो फिर भी बन जायगी, क्योंकि इस मामलेसे अब सनददार मुनीमीकी पद्धतिका अमल किया जाना बहुत सम्भव है। पर प्रतिनिधि-सभाकी सत्कीर्तिमें अमिट कलङ्क लग गया। और, अब दलमूलक मन्त्रिमण्डलका विरोध करने वाले पुराणप्रिय राजनीतिज्ञोंका ही बोलबाला होगा, साथ ही

सरदार-सभा भी राष्ट्र-हितकी रक्षा करनेवाली निष्कलङ्क सभा समझी जायगी । प्रतिनिधि-सभाके इस कलङ्ककी कालिमां कम करनेवाली कहींसे कोई बात नहीं सूझ पड़ती है, सिवाय इस ऐतिहासिक सिद्धान्तके कि, युद्धमें विजय प्राप्ति प्रायः नीतिच्युत करनेकी ओर ही झुकती है। परन्तु इसके लिए भी हमें यह मान लेना पड़ेगा कि यह दुश्चरित्रता हालहीकी है युद्धके पूर्वकी नहीं। परन्तु यह अनुमान भी तो पुष्ट नहीं होता है। जिस सिद्धहस्तताके साथ ये बुराइयाँ की जा रही थीं उससे और पार्लमेंटकी प्राणहीनता जो विगत १५ वर्षोंसे सुनी जा रही है उसकी याद करनेसे विपरीत ही अनुमान होता है यदि अवसर मिलता तो सम्भव था कि इससे पहले ही भण्डा फूट जाता।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पार्लमेण्टके सभासदोंकी सत्कीर्त्तिमें कलङ्क लगानेके लिए पुराणप्रिय या यों कहिए कि अधिकारितन्त्रके पक्षपाती राजनीतिज्ञों और अधिकारियोंको अच्छा मसाला इससे मिलगया और उन्होंने प्रतिनिधि-सभाको और भी दबा दिया जो अपनी निर्बलतासे आपही दब रही थी और इसी कारणसे उसपर बदनीयतीका इलजाम भी था। परन्तु इस बेईमानी, घूसखोरी या बदनीयतीकी असल जड़ क्या है? इसके लिए किसको जिम्मेदार समझा जायगा? क्या यही अधिक सम्भव नहीं है कि जो सभा अधिकारिवर्गके हाथकी एक कठपुतली मात्र है वह लोभके आक्रमणसे अपना बचाव उतनाही कर सकती जितना कि बहुमतके अनुसार काम करा सकनेवाली सभा कर सकती है? * जिस किसीको यह सन्देह हो कि ऐसा नहीं होता उसे हम सलाह देते हैं कि वह एक बार अट्ठारहवीं शताब्दीके अंगरेज पार्लमेण्टका

इतिहास देखले और संयुक्त राज्यके शासनविधानकी कार्य-प्रणाली और उसकी राजनीतिक अवस्थाका अवलोकन कर लें। डाक्टर जे० एलन महाशय अपनी "अमरीकन सरकारके शासनसम्बन्धी आय" नामकी पुस्तकमें लिखते हैं कि, अमरीकन शासनकार्यमें जो कठिनाई है वह प्रजासत्ताका अतिरेक नहीं है (जैसा कि लोग समझते हैं) बल्कि प्रजासत्ताकी अत्यल्पता है।" अट्ठारहवीं शताब्दीमें इंग्लिस्तानकी कामन्स सभा उस दर्जेको नहीं पहुँची थी जिस दर्जेपर आज वह मौजूद है। सं० १६४५ (१६८८ ई०) के राज्यविप्लवके बादसे उसका अधिकार और कार्यकलाप बहुत कुछ बढ़ गया था सही; परन्तु उस समय सर्वसाधारणके सामने उसे उत्तरदायी बनानेका कोई उपाय नहीं किया गया था, कामन्स सभातक सर्वसाधारणकी पहुँच ही नहीं थी और उसके अधिवेशन बन्द कमरोंमें हुआ करते थे। देशकी सारी शासन-सत्ता 'कैबाल'-के सभासदोंके हाथमें थी जो कामन्स सभाके तन्त्रसे स्वाधीन था। इसी शासन-प्रणालीके रहते हुए लार्ड ब्यूट, सर रॉबर्ट वालपोल, हेनरी पेलहम, हेनरी फॉक्स, लार्ड नॉर्थ आदि अधिकारी सभामें अपना पक्ष बढ़ानेके लिए सभासदोंको घूस दिया करते थे।

टाइम्सके संवाददाताने कहा है कि गत १५ वर्षोंसे जापानमें पार्लमेण्टकी घूसखोरी सुनाई दे रही है। कप्तान ब्रिङ्कले जोकि जापानियोंके, विशेषतः अधिकारिवर्गके बड़े मित्र हैं, कहते हैं,—"जब मन्त्रिमण्डलसे और परिषद्से तीव्र विरोध होता था और परिषद्को स्थगित करने, उठा देने या भङ्ग कर देनेसे भी जब मन्त्रिमण्डलका काम न चलता था तब अधिकारिवर्ग वालपोलके मार्गका (रिश्वत देनेका) अवलम्बन

किया करता था, पर ऐसी चतुराईके साथ कि किसीको कुछ पता न चले।" हमारे एक मित्र एक प्रमुख जापानी समाचार-पत्रके संवाददाता हैं, उन्होंने निसोजिङ्कनके सम्बन्धमें मुझसे कहा,—"यदि हमारा कोई सभासद किसी मनुष्यसे या किसी कम्पनीसे घूस लेता है तो उसे कैदकी सज़ा दी जाती है, पर यदि वह वही घूस सरकारसे लेता है तो बड़ी सावधानीके साथ उसकी रक्षा की जाती है।" कारण, मन्त्रिमण्डल यदि ऐसा न करे तो अपने मतलबका कानून पास करानेके लिए वह प्रतिनिधि-सभामें अपना बहुमत कैसे कर सकता है।

एक और बात इस चीनीके कारखानेके सम्बन्धमें है। पाश्चात्य देशवासियोंको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि कम्पनी-के डाइरेक्टर अपनी कम्पनीको सरकारके सुपुर्द करनेकी चेष्टा करें। पाश्चात्य देशोंमें बड़े बड़े कारखानोंके मालिक कभी सरकारको अपने कारख़ानोंके मालिक न बनाएँगे। परन्तु जापानमें ठीक इसके विपरीत है। इसका क्या कारण? एक तो यह कि, जापानमें सरकार हस्तक्षेप बहुत करती है जिससे ख़ानगी कारख़ाने बढ़ने नहीं पाते. दूसरे यह कि सरकार ख़ानगी कारख़ानोंको रुपयेसे बहुत सहायता देती है जिससे सरकारका मुँह ताकनेहीकी आदतसी लोगोंको पड़ गयी है। इसके अतिरिक्त, आबकारी, नमक और रेलवेके कारख़ाने-दारोंको, सरकारने जब ख़रीद लिया, तब उन्हें बहुत लाभ हुआ है। यही कारण है कि जापान शुगर कम्पनीके डाइरे-क्टरोंने भी उसे सरकारके सुपुर्द करना चाहा। सचमुच ही जब यह अफ़वाह उड़ रही थी कि सरकार चीनीके व्यवसाय-का इजारा लेनेवाली है तो कम्पनीके ७५ रु० वाले शेयरका दाम एकाएक २२५ रु० तक चढ़ गया था। और सरकारने

इस कम्पनीको नहीं ख़रीदा तो क्या, उसकी यह इच्छा ज़रूर रहती है कि उसके बड़े बड़े कारख़ाने हों; क्योंकि इससे किसी क़दर स्थाई आमदनी होती है। आमदनीके स्थाई साधन जितने ही अधिक रहेंगे; प्रतिनिधि-सभासे बजट पास करा लेना उतना ही आसान होगा और साथ ही सरकारी कारख़ानोंके बढ़नेसे सरकारका व्यवसाय बढ़ेगा जिससे सरकारी नौकर बढ़ेंगे; और इस तरह अधिकारिवर्ग सुदृढ़ होगा।

परन्तु इससे देशकी आर्थिक दशापर क्या परिणाम पड़ता है ? इस प्रश्नपर बहुत कुछ कहना है, पर यहाँ उसकी चर्चा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह इस विषयके बाहरकी बात है।

चतुर्थ परिच्छेद

निर्वाचन

मनुष्यकी युद्धप्रवृत्ति सर्वत्र एकसी ही है। दारविन मतानुयायी युद्ध प्रवृत्तिको प्रकृतिका निर्वाचन कह सकते हैं। जो हो, निर्वाचन भी युद्धका अभियान ही है। यह राजनीतिक युद्ध है जिसमें रणक्षेत्रके समान ही दाँवपेंच काममें लाये जाते हैं। मनोविकार, चित्तसंस्कार और तर्क यहाँ हद दर्जको पहुँच जाते हैं। प्रतिपक्षीका जो दुर्बलतम अङ्ग हो, चाहे वह व्यक्तिगत हो या राजनीतिक, उसी पर वार किया जाता है: और जो जिसका सबसे मजबूत अङ्ग होता है, चाहे वह धन हो, राजनीतिक सिद्धान्त हो या व्यक्तिगत चरित्रबल हो, वह उससे अपने मित्रों व अनुयायियोंद्वारा पूरा काम लेता है। वहाँ शिष्टाचार तो मनुष्यस्वभावसे बिलकुल ही जाता रहता है। जो सबसे मजबूत या सबसे लायक होगा वही बाजी मार लेगा।

निर्वाचन-युद्ध दो प्रकारका होता है—एक वह जहाँ उम्मेदवारके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें ही झगड़ा है और दूसरा, जहाँ उम्मेदवार या उसके दलके सिद्धान्तोंपर झगड़ा है।

ब्राइस महाशय कहते हैं,—"अमरीकाके अध्यक्ष-निर्वाचनके तीव्र और दीर्घ विवादकी अपेक्षा इंग्लिस्तानके साधारण निर्वाचनसे लोगोंको राजनीतिक सिद्धान्तों और राजकारणके बलाबलके सम्बन्धमें अधिक शिक्षा मिलती है। ब्रिटेनसे अमरीकाके निर्वाचक (हबशियोंको छोड़कर) अधिक समझदार होते हैं और वे राजकारणके पारिभाषिक शब्दोंको ही

केवल नहीं जानते बल्कि अपनी शासनप्रणालीको भी खूब समझते हैं। परन्तु ब्रिटेनमें निर्वाचनका जो विवाद होता है वह व्यक्तियोंके सम्बन्धमें नहीं बल्कि कार्यक्रमके सम्बन्धमें होता है। दोनों ओरके नेताओंकी खूब कड़ी आलोचना होती है और इसी आलोचनासे लोग जानते हैं कि प्रधान मन्त्री कैसे हैं, या यदि मन्त्रिमण्डल पदच्युत हुआ हो तो भावी प्रधान मन्त्री कैसे होंगे। फिर भी उनके राजनीतिक सिद्धान्तोंका संस्कार उनपर बना ही रहता है, और निन्दा तथा प्रशंसाकी वर्षा उनपर वर्षों हो चुकती है जिससे उनके विरुद्ध अब न कोई गड़े मुर्दे को उखाड़ता है न नये किस्से ही बनाता है। वादविवाद जो होता है वह देशकी आवश्यकताओंपर और प्रत्येक दलके प्रस्तावोंपर होता है; मन्त्रिमण्डलपर यदि आक्षेप होते हैं तो मन्त्रियोंके व्यक्तिगत चरित्रपर नहीं बल्कि उनके सार्वजनिक कार्योंपर होते हैं। अमरीकन लोग इंग्लिस्तानके निर्वाचन देखकर कहते हैं कि हमारे यहाँके निर्वाचन-संग्रामके व्याख्यानदाताओंसे अङ्गरेज उम्मेदवारोंकी वक्तृताओंमें युक्ति-बुद्धि और अनुभवकी बातोंसे अधिक काम लिया जाता है और भावोद्दीपक आलङ्कारिक भाषणकी अपेक्षा युक्तिकी मात्रा ही अधिक होती है।"

इस अन्तरका कारण क्या है? ग्रेटब्रिटेनमें राजनीतिक विवाद व्यक्तिगतकी अपेक्षा सिद्धान्तगत ही अधिक होते हैं तो इसका यह कारण हो सकता है कि, "निन्दा तथा प्रशंसाकी वर्षा उनपर वर्षों हो चुकी है जिससे उनके (पार्लमेंटके सभासदोंके) विरुद्ध अब कोई न गड़े मुर्दे उखाड़ता है न नये किस्से ही बनाता है। परन्तु इससे भी बड़ा कारण, हम समझते हैं यह है कि पार्लमेंटके सभासद अपने निर्वाचकों-

से यह वादा भी कर सकते हैं कि यदि उनका बहुमत होगा तो देशके लिए वे क्या क्या करेंगे; क्योंकि कामन्स सभामें जिस दलका बहुमत होता है वही राज्यका कर्णधार बनता है। इसलिए निर्वाचक अपना काम देखते हैं, न कि चरित्र। परन्तु अमरीकामें अध्यक्षपद, सिनेट या कांग्रेसका उम्मेदवार अपने निर्वाचकोंसे कोई प्रतिज्ञा नहीं कर सकता; क्योंकि सङ्गठन शासनविधानकी कुछ ऐसी विरोधावरोधयुक्त प्रणाली है कि पहलेसे कोई उम्मेदवार अपना कार्यक्रम निश्चित करके नहीं बतला सकता। इसलिए निर्वाचनके समय राजकारणका कुछ कार्यक्रम नहीं उपस्थित रहता। अध्यक्षके निर्वाचनके समय या कांग्रेसके निर्वाचनपर सर्वसाधारणके मताधिक्यसे भावी राज्यव्यवस्थाका कुछ भी अन्दाज़ नहीं लग सकता। इससे अमरीकन वोट या मतका मूल्य ग्रेटब्रिटेनके वोट या मतके मूल्यसे कम हो जाता है। अमरीकनोंकी दृष्टिमें मतका उतना महत्त्व नहीं रहता। इसलिए साधारण निर्वाचक निर्वाचन कार्यको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं और राजकारण, पेशेवाले राजनीतिज्ञोंका एक लाभदायक व्यवसाय मात्र हो जाता है। अतः निर्वाचनमें प्राण लानेके लिए और लोगोंको उत्तेजित और उत्साहित करनेके लिए व्यक्तियोंको ही प्रधानता दी जाती है, और राजनीतिक दलोंके कार्यक्रममें राजकारणका कुछ भी स्पष्ट निर्देश नहीं होता; और यह बात भी तो नहीं है कि एक ही बारके निर्वाचनसे कोई राजनीतिक कार्य पूरा हो जाता हो। इसलिए अमरीकाके ईमानदार नागरिक राजकारणसम्बन्धी कार्यक्रमसे राजकर्मचारियोंके व्यक्तिगत चरित्रपर ही अधिक भरोसा रखते हैं।

अमरीकाके समान जापानमें भी राजनीतिक सिद्धान्त

और राजकारण निर्वाचनके गौण भाग हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि अमरीकनोंसे जापानी निर्वाचक कम समझदार हैं या उनकी कर्त्तव्यबुद्धि कम जागृत है। परन्तु शासनकार्यकी शिक्षा जापानमें उतनी नहीं फैली है जितनी कि अमरीकामें और इसलिए जापानमें मताधिकारकी वैसी क़द्र नहीं होती। अमरीकामें वोटसे उतना काम नहीं निकलता जितना कि ब्रिटेनमें; तथापि हरेक अमरीकन जानता है कि देशकी सारी राजनीतिक संस्थाएँ लोगोंके मतोंपर ही अवलम्बित हैं। इसके अतिरिक्त अमरीकनोंको इस मताधिकारका उपयोग करते हुए कई पुश्तें बीत गयीं। परन्तु जापानमें इस अधिकारका आरम्भ हुए अभी २० वर्ष हुए हैं और अबतक जापानियोंको केवल १० अधिवेशनोंका ही अनुभव हुआ है। वोटका क्या महत्त्व होता है इस ओर अबतक वोटरका ध्यान भी कभी नहीं दिलाया गया। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिज्ञ, ग्रन्थकार और समाचारपत्र प्रायः वोटकी पवित्रता बतलाया करते हैं। पर वे बतलाते हैं, किसको? हवाको, क्योंकि वोटरकी समझमें ही यह बात नहीं आती कि उनके वोटसे राज्यकी नीतिपर क्या परिणाम होगा। निर्वाचनके समय उम्मेदवार राजकारण या अपना भावी कार्यक्रम लोगोंके सामने नहीं रखते, न कोई प्रतिज्ञा करते हैं, क्योंकि प्रतिज्ञा करके उसे पूरा करनेके लिए मौका भी तो चाहिए, पर ऐसा मौका नहीं मिलता चाहे प्रतिनिधि-सभाका बहुमत भी उसके अनुकूल क्यों न हो। यद्यपि तृतीय भागके तृतीय परिच्छेदमें लिखे अनुसार प्रतिनिधि-सभाका अधिकार पहलेसे बहुत अधिक बढ़ गया है, तथापि अधिकारिवर्गके बिना वह विशेष कुछ नहीं कर सकती; क्योंकि अधिकारिवर्ग लोगोंके सामने

उत्तरदायी नहीं है। अभी बहुतसे ऐसे लोग जापान में हैं जो राष्ट्रीय परिषद्के अस्तित्वाधिकारको ठीक ठीक नहीं समझ सके हैं। राजकर्म्मचारी राष्ट्रीयपरिषद्से विना कहे सुने राज्यका बहुतसा काम कर सकते हैं और करते भी हैं; यही नहीं बल्कि जब यह अवस्था है तब कैसे सम्भव है कि सर्वसाधारण वोट या मतके राजनीतिक महत्त्वको समझ लें?

वोटरके लिए वोट पवित्र और मूल्यवान् है; और जब उसे यह मालूम हो जायगा कि राज्यकी नीतिपर और फलतः अपने हिताहितपर वोटका क्या परिणाम होता है और जब, वोटका दुरुपयोग करनेसे राज्यका भाग्य ही परिवर्त्तित हो जाता है; यह उसकी समझमें आ जायगा तब वह उसे रुपयेके बदलेमें बेच देगा। लन्दनके एक निर्वाचनक्षेत्रके एक वोटरने एक दिन हमसे कहा कि, "मैं लार्ड रॉबर्ट सेसिलके पक्षका हूँ, मैं उनकी योग्यता और सच्चरित्रताके कारण उन्हें मानता भी हूँ; पर आगामी साधारण अधिवेशनमें मैं उन्हें वोट न दे सकूँगा क्योंकि विदेशी वस्तु-शुल्क-सुधार (Tariff Reform)का पक्ष करनेकी प्रतिज्ञा वे नहीं करते। इसी निर्वाचन-क्षेत्रकी एक रॉबर्ट सेसिलने कहा था, "यदि बालफोर महाशयकी प्रधानतामें यूनियनिस्ट दलका मन्त्रिमण्डल हो जाय और मैं व्यापारनीतिके सम्बन्धमें सरकारका पक्ष न कर सकूँ तो मैं पदत्याग कर दूँगा और निर्वाचकोंको इस सम्बन्धमें मत प्रकट करनेका मौका दूँगा।" इस प्रकार इंग्लैंडमें निर्वाचक राज्यप्रबन्धके विचारसे ही वोट देते हैं और उम्मेदवारोंको अपने निर्वाचकोंसे प्रणबद्ध होना पड़ता है।

जापानमें वोटर लोग वोटकी उतनी कदर नहीं करते इसका कारण यही है कि वर्तमान सङ्घटनकी कार्यप्रणालीके

अनुसार वोटका प्रत्यक्ष परिणाम शासनपर कुछ भी नहीं होता। जापानमें भी उसी तरह वोटकी खरीद फरोख़ होती है जैसी अठारहवीं शताब्दीमें इंग्लिस्तानमें हुआ करती थी; हाँ, इतना इधर अवश्य है कि इंग्लिस्तानमें इसका बाजार जैसा गरम ठहरता था वैसा जापानमें नहीं है। यह खरीद बिक्री खुल्लमखुल्ला नहीं होती क्योंकि रिश्वत देनेवाला और लेनेवाला दोनों कानूनसे सजा पाते हैं। यह कहना तो कठिन है कि यह अन्धेर कहाँतक फैला हुआ है पर देख तो सर्वत्र पड़ता है। यहाँ तक इस अन्धेर ने कदम आगे बढ़ाया है कि वोटका मूल्य निश्चित हो गया है और किसी किसी निर्वाचनक्षेत्रमें ३ या ४ येनमें एक वोट मिल सकता है। गत वर्ष प्रतिनिधि-सभाके कुछ सभासदोंने निर्वाचनके कानूनमें संशोधन कराने और गुप्त वोट देनेकी पद्धतिके बजाय प्रकट वोटकी पद्धति चलनेका प्रयत्न किया था। उनका यह कथन था कि प्रकट वोट होनेसे वोटर लोग भिन्न भिन्न लोगोंसे घूस न ले सकेंगे। उनके पक्षमें मत भी बहुत एकत्र हो गये थे; परन्तु सौभाग्य-वश यह प्रस्ताव रद्द हो गया। यदि कहीं यह स्वीकृत हो जाता तो घूसखोरी बन्द होनेके बदले और भी बढ़ जाती। यह हो सकता था कि एक ही वोटर एक ही समयमें कई लोगोंसे रिश्वत ले लेता; पर इसमें सन्देह नहीं कि प्रकट वोट होनेसे रिश्वत देनेवाले अपनी रिश्वतसे पूरा काम निकाल सकते हैं। यहाँ हमें इस प्रस्तावके गुणदोषोंका वर्णन नहीं करना है, केवल यही दिखलाना है कि इस समय जापानकी निर्वाचन-संस्थामें बड़ा अन्धेर है।

कुछ लोग कहते हैं कि जापानको अभी पार्लमेंटका बहुत ही थोड़ा अनुभव है और इसीसे ये खराबियाँ मौजूद हैं। यह

सही है कि निर्वाचनके सम्बन्धमें जापानी लोगोंका अनुभव और ज्ञान बहुत कम है; पर इसका भी क्या ठिकाना है कि पार्लमेंटका अनुभव बढ़नेके साथ ही अन्धेर भी कम हो ही जाता है? सच तो यह है कि कुछ ही वर्षोंमें यह अन्धेर बहुत ही बढ़ गया है, आरम्भमें इतना नहीं था। १८५६ तक इस अन्धेरको रोकनेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई थी, इसीसे समझ लीजिये कि उसके पहले क्या हाल था और अब क्या है। परिषद्के तेरहवें अधिवेशनमें करवृद्धिका बिल पास करानेके निमित्त प्रतिनिधि-सभामें अपना बहुमत करनेके लिए सरकारने रिश्वतकी लूट मचा दी थी। इसीका परिणाम था कि प्रागतिक दलके एक सभासद ओजाकीने घूसखोरी रोकनेके लिए एक प्रस्ताव पेश किया था; परन्तु उदारमत-वादी दल सरकारसे मिला हुआ था और उसीके विरोध करनेसे यह प्रस्ताव रद्द हुआ। १८५८ में वाइशोक्-होअन (घूसका कानून) अर्थात् घूसखोरी रोकनेवाला कानून (प्रस्ताव) परिषद्में पास हुआ और कानून बन गया। परन्तु इस कानूनके रहते हुए भी घूसखोरी और भी अधिक बढ़ गई है।

इसके साथ ही निर्वाचनके समय वोटरोंकी अनुपस्थिति-की संख्या भी बढ़ती जाती है जिससे मालूम होता है कि निर्वाचनके सम्बन्धमें लोगोंका उत्साह और सहानुभूति भी घटती ही जा रही थी। सातवें निर्वाचनमें (१८५५) वोटरोंकी औसत अनुपस्थिति फ़ीसदी ११.७१ थी। यह सुधारे हुए निर्वाचन-कानूनके बननेके बाद पहला ही अधिवेशन था। इसीके बादके अर्थात् आठवें निर्वाचनमें (१८६०) अनुपस्थिति-का हिसाब १३.७८ रहा; नववेंमें (१८६१) १२.८४, और दसवें-

में (१६६५) २८.५६। यदि सङ्घटनात्मक शासनके परिचयकी कमी ही घूसखोरीके अन्धेरका कारण हो, तो यह भी तो मालूम होना चाहिये कि सर्वसाधारणकी इस उपेक्षाका क्या कारण है। विशेषकर इसी उपेक्षाभावहीसे घूसखोरीका अन्धेर मचता है और "पेशेवर मुत्सद्दी (राजनीतिज्ञ)" पैदा होते हैं।

अमरीकाके समान अभी यहाँ राजनीतिक जनसङ्घ' उतने प्रौढ़ नहीं हुए हैं परन्तु प्रौढ़ होनेकी प्रवृत्ति अवश्य है। कुछ निर्वाचन क्षेत्रोंमें 'पेशेवर राजनीतिज्ञ' होते हैं जो राज-कार्यको अपना व्यवसाय बनाये हुए हैं। कभी कभी ये लोग कुछ वोटरोंको मिलाकर विशेष उम्मेदवारके निर्वाचनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे दखल देते हैं। प्रायः तो ऐसे ही उम्मेद्वारोंको वोट दिलानेका प्रयत्न करते हैं जो वोट-संग्रह-के उद्योगमें खूब खर्च कर सकें। सचमुच जापानमें अमरीका-के समान ही 'सेइजिका (राजनीतिज्ञ या मुत्सद्दी)' शब्द बड़ा बद्नाम है; इंग्लिस्तानमें तो अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ अपनेको गौरवके साथ राजनीतिज्ञ कहते हैं। और जापानमें राजनीतिज्ञ लोग इस नामसे बचनेका ही प्रयत्न करते हैं। ये बीचके जो "पेशे-वर राजनीतिज्ञ" होते हैं जो राजकार्यको अपनी जीविकाका साधन बनाये हुए हैं उन्हींके कारण ऐसा होता है। अब यह समझिये कि यदि हमारे यहाँका सङ्घटन भी ग्रेट-ब्रिटन के सङ्घटनके ही अनुरूप होता और साधारण निर्वाचनके अवसरपर सर्वसाधारणको राज्यप्रबन्धका ज्ञान करा दिया जाता तथा उन्हें यह भी ज्ञान कराया जाता कि उन्हींके मतों-द्वारा प्रतिनिधि-सभा, प्रतिनिधि-सभाद्वारा मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डलद्वारा राज्यकी व्यवस्था सङ्गठित होती है तो क्या आप समझते हैं कि वोटर अपने वोटको लाग-तर-

कारीकी तरह बेच देते? और तब क्या ये दालभातमें मूसलचन्द बने रह सकते?

कुछ लोग यह भी कहा करते हैं कि भिन्न भिन्न श्रेणीके लोगोंमें परस्पर तीव्र विवाद न रहनेके कारण राजकार्यमें लोगोंका मन नहीं लगता। यह सच है कि जापानमें पाश्चात्य देशोंकी तरह अमीर-गरीबका कोई झगड़ा नहीं है और न साम्प्रदायिक विवाद या जातिगत विद्वेष ही है। पर लोगोंकी भिन्न भिन्न श्रेणियोंमें यहाँ भी मतभेद और स्वार्थभेद मौजूद हैं। इसके अलावा ऐसे भी कई राजनीतिक प्रश्न हैं जिनका हितसम्बन्ध भिन्न भिन्न श्रेणियोंका भिन्न भिन्न प्रकार से है। परन्तु लोगोंको उसकी यथारीति शिक्षा दी जाय और उनका ध्यान दिलाया जाय तब तो यह सब सम्भव है। परन्तु प्रचलित राजकार्यकी बातें जो मतदाताको समझ में भी आ सकती हैं, कभी निर्वाचनके अवसर पर उसे नहीं बतलायी जातीं और न उम्मेदवार यही बतलाते हैं कि वे प्रतिनिधि होकर क्या काम करेंगे। और तो और, प्रतिनिधिसभातकमें भारी महत्त्वके प्रश्न या प्रस्ताव चर्चाके लिए बहुत ही कम सामने आते हैं। बहुत सा काम तो कमेटियों द्वारा ही बन्द कोठरियों में हुआ करता है; और मन्त्री इन प्रश्नों और प्रस्तावोंकी चर्चा, जहाँतक बन पड़ता है, होने ही नहीं देते और भिन्न भिन्न राजनीतिक दलोंके नेताओंसे एकान्तमें मिल कर, कमेटीके कमरेमें ही सब बातें तय कर लेनेकी चेष्टा करते हैं। सचमुच सरकारने एक नया सूत्र आविष्कृत किया है— अर्थात् "फ्यूजन-जिक्रोका सिद्धान्त या वादविवादके बिना कार्य करना।" जब यह अवस्था है तब कैसे सम्भव है कि सर्वसाधारण राजकार्यमें मनोयोग दें?

प्रतिनिधि-सभाका निर्वाचन-विवाद भिन्न भिन्न दलोंके बीच ऐसे व्यक्तियों द्वारा होता है। जिनका सभासे कोई हितसम्बन्ध नहीं है, अठारहवीं शताब्दीमें इंग्लिस्तानके एक मन्त्रिमण्डलने, जो कि कामन्स-सभाके तन्त्राधीन नहीं था, रिश्वत देकर कामन्स-सभामें अपना बहुमत कराना चाहा जापानमें जिस सङ्घटनात्मक शासनका प्रवर्त्तन हुआ था उस समय प्रतिनिधि-सभाके सभासद प्रायः सच्चे और ईमानदार थे; क्योंकि उन्हें यह आशा थी कि वे मन्त्रिमण्डल-को अपने काबूमें रख सकेंगे; अभी अधिकारीवर्गने भी लोभ-की तलवार म्यानसे बाहर नहीं निकाली थी। सरकार निर्वा-चनके अवसरपर ही "सरकार-पक्ष"को बढ़ानेका उद्योग करती थी। परन्तु तबसे उसने सभामें अपना बहुमत करानेके कितने ही उपाय सीख लिए हैं। वे प्रायः अधिकसंख्यक दल-को अपनी ओर मिला लेते हैं या भिन्न भिन्न दलोंके कुछ सभासदोंको घूस देकर वे अपना बहुमत करा लेते हैं। अतः मन्त्रिमण्डल अब प्रत्यक्षरूपसे निर्वाचनके झगड़ेमें नहीं पड़ता और राजनीतिक दल ही परस्पर झगड़नेके लिए रह जाते हैं।

कोई राजनीतिक दल सभामें अपने बहुमतके बलसे मन्त्रि-मण्डलका अधिकार नहीं पा सकता। फिर भी प्रत्येक दल सभामें अपनी अपनी संख्या बढ़ानेका प्रयत्न करता है। कारण, जिस दलके सभासदोंकी संख्या अधिक होगी वह केवल व्यवस्थापन कार्यमें ही अपना हाथ नहीं रखता, बल्कि मन्त्रिमण्डलसे अच्छा सौदा भी कर लेता है और कभी कभी शुद्धिया कम्पनियोंसे भी उसे कुछ मिल जाता है।* निर्वाचन-

* मैंने जापानकी पार्लमेंटके एक सभासदसे पूछा था कि राजनीतिक दलोंका फण्ड कैसे जमा होता है। उसके उत्तरमें उन्होंने लिख भेजा कि, "फण्ड कैसे जमा

का वातावरण कितना गरम रहता है सो इसी एक बातसे मालूम हो जायगा कि हालके (वैशाख १८६५) साधारण निर्वाचनके अवसरपर २४५७ मनुष्योंपर अवैध उपायसे डराने, धमकाने, मारपीट करने और घूस देनेका अभियोग चला था।

जापानमें साधारण निर्वाचन देशभरमें एक ही तारीखको हो जाता है। यह तारीख सम्राट्के आज्ञापत्रसे ३० दिन पहिले बतला दी जाती है। प्रातःकाल सात बजे वोट-घर खुलता है और सायंकाल ६ बजे बन्द हो जाता है।

कुल ७०५ निर्वाचन-क्षेत्र हैं जिनमेंसे ५७ को एक ही एक सीट या स्थानका अधिकार है और बाकीको जन संख्याके २ से लेकर १२ तक है। निर्वाचनके अवसरपर प्रादेशिक शासक उपस्थित होते हैं और अपने प्रदेशके निर्वाचनका प्रबन्ध करते हैं। शहरोंमें शहरके मेयर 'निर्वाचनके अध्यक्ष' होते हैं; और देहातोंमें देहात या कस्बेके मुख्य मजिस्ट्रेट या अदालत के अफ़सर। वे तीन या चार निर्वाचकोंको एक एक वोटघर का निरीक्षक नियत करते हैं।

उम्मेदवारके सम्बन्धमें इस तरहका कोई रिवाज नहीं है कि मेयर या शेरीफ़ उनको मनोनीत करें और न स्वयं उम्मेदवार ही यह आकर कहता है कि हम प्रतिनिधि होना चाहते हैं। जिस दलका वह होता है वही दल या उसके मित्र या अनुयायी सार्वजनिक रीत्या, विशेषतः समाचारपत्रोंद्वारा यह सूचित कर देते हैं कि अमुक व्यक्ति निर्वाचित किये जाने योग्य हैं। यह सूचना देनेसे पहले वे उस उम्मेदवारको परख

किया जाता है यह तो दल ही जान सकता है, और कोई नहीं; पर इतना मैं कह सकता हूँ कि सभासदोंको सरकारसे जो रुपया मिलता है उसके अलावा लोगोंसे तथा प्राइवेट कम्पनियोंसे और अन्य कई उपायोंसे उसके पास धन आ जाता है।"

लेते हैं और वोट संग्रह करनेवाले गुमाश्तेसे यह भी जान लेते हैं कि उसे कितने वोट मिलनेकी सम्भावना है।

उम्मेदवार स्थानीय व्यक्ति ही होता है। स्थानीय व्यक्तिका मतलब स्थानीय प्रसिद्ध पुरुष नहीं बल्कि वह पुरुष जो कि स्थानीय अधिवासियोंको 'प्यारा' हो। उसकी कीर्त्ति स्थानीय भी हो सकती है और राष्ट्रीय भी। जिस किसीको प्रतिनिधि बननेकी इच्छा होती है उसे अपने जन्मस्थानमें जाना पड़ता है—वहीं उसका निर्वाचन हो सकता है। भूमिकामें लिखे अनुसार, जापानी लोग स्वभावसे ही अपने स्थानको छोड़ना पसन्द नहीं करते और शोगूनकालके शासनसे तो उनका यह स्वभाव बहुत ही दृढ़ हो गया है। और निर्वाचनके बाद क्या क्या राजनीतिक कार्यवाही होनेवाली है इसकी कोई स्पष्ट कल्पना सामने न रहनेके कारण वे ऐसे ही व्यक्तिको चुनते हैं जिससे उनका घनिष्ठ परिचय हो। इसलिए परिचित व्यक्तियोंको ही चुने जानेका सबसे अधिक अवसर मिलता है; और यह तो बहुत ही कम देखनेमें आता है कि एक जगहसे हारा हुआ मनुष्य चुनावके लिए दूसरी जगह जाय।

जहाँतक निर्वाचनका सम्बन्ध आता है, प्रत्येक प्रदेश या म्युनिसिपैलिटी या निर्वाचन-क्षेत्र बिलकुल स्वाधीन होता है। अमरीकामें भी भिन्न भिन्न राज्य कांग्रेसके निर्वाचनके सम्बन्धमें बिलकुल स्वतन्त्र होते हैं। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक स्थानके राजनीतिक दलका उसके तोकियोस्थ मुख्य कार्यालयसे सम्बन्ध रहता है। परन्तु ग्रेट ब्रिटेनमें जैसे प्रत्येक स्थानके नेताओंको लन्दनके नेशनल लिबरल फेडरेशन और नेशनल कानसरवेटिव यूनियनके मुख्य कार्यालयसे

निर्वाचनके सम्बन्धमें सूचनाएँ मिला करती हैं और उन्हींके अनुसार कार्यवाही होती है, वैसे जापानमें स्थानीय निर्वाचनके प्रत्यक्ष सूत्र राजनीतिक दलोंके तोकियोस्थ मुख्य कार्यालयके हाथमें नहीं होते। उम्मेदवारोंका चुनाव और चुनावका प्रबन्ध स्थानीय कार्यकर्त्ताओंके ही हाथमें होता है और मुख्य कार्यालयसे, आवश्यकता पड़नेपर, उन्हें हर तरहकी मदद मिलती है।

जापानमें अन्य देशोंकी तरह, निर्वाचनसम्बन्धी आन्दोलन व्याख्यानों, लेखों और मतसंग्राहकोंद्वारा ही होता है। परन्तु व्याख्यानों और लेखोंसे यहाँ उतना काम नहीं लिया जाता जितना इंग्लिस्तान और अमरीकामें। हमारे यहाँके निर्वाचन सम्बन्धी भाषण उत्तेजक और शब्दाडम्बरपूर्ण होते हैं, इसमें कोई विशेष बात नहीं होती। इंग्लिस्तान और अमरीकामें जैसे बड़े बड़े विज्ञापन दीवारोंपर चिपकाये जाते हैं, जैसे हस्तपत्रक बाँटे जाते हैं और कारटून (व्यङ्ग चित्र) बनाये जाते हैं, वैसे यहाँ भी सब किया जाता है पर बहुत कम—उसका आधा हिस्सा भी नहीं। जापानी वैसे रसिक और कौतुकप्रिय नहीं है।

राजनीतिक आन्दोलनमें हम लोग अङ्गरेजों या अमरीकावासियोंकी तरह बाजे, पताका झण्डे और मशालोंके साथ जुलूस नहीं निकालते। सड़कके किनारे या सार्वजनिक मैदान या उद्यानमें व्याख्यानोंकी धूम भी नहीं मचती। बहुत से जापानियोंको भी इन सड़ककी स्पीचोंसे वैसी घृणा है जैसी कि इंग्लिस्तानमें पुराने ढङ्गकी स्त्रियोंको मताभिलाषी नवीन स्त्रियोंकी कार्यवाहीसे।

इस समय निर्वाचनका सबसे अच्छा उपाय हमारे यहाँ

मतसंग्रह करना है। और लेक्चरबाजीसे यह उपाय अधिक लाभकारी होता है। क्योंकि, किसी दल विशेषसे जापानियोंका कोई परम्परागत प्रेम या द्वेष नहीं है। कुछ अमरीकन लोग कहते हैं कि, "मैं रिपब्लिकन हूँ, क्योंकि मेरे पिता भी रिपब्लिकन दलके थे"; उसी प्रकारसे कुछ अङ्गरेजोंको इस बातका अभिमान रहता होगा कि उनके खान्दानमें पुश्त दर पुश्त कानसरवेटिव (पुराण प्रिय) पक्ष ही रहा है। परन्तु जापानियोंमें पक्षभेदका भाव शायद ही कभी आता हो; यह एक बात और दूसरी यह कि प्रचलित राजकारणका निर्वाचनसे कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता; इसलिए जापानियोंको मतसंग्राहक भेजकर मुरव्वत और दबावसे मत एकत्र करना ही अच्छा लगता है। हमारे एक प्रश्नके उत्तरमें प्रतिनिधिसभाके एक सभासदने यों लिखा था, कि "जिस उम्मेदवारको अपने लिए सबसे अधिक मत पानेकी इच्छा हो उसके लिए तो यही उपाय है कि निर्वाचकोंसे वह जान पहचान और मेलजोल खूब बढ़ावे। बार बार निर्वाचकोंसे मिलते रहना बहुत काम देता है। शहरोंमें तो साधारण निर्वाचन होनेके पूर्व उम्मेदवार निर्वाचकोंके घरपर जाकर उनसे पाँच पाँच छः छः बार भेंट कर लेता है।"

परन्तु उदासीन, पंगु और बूढ़े निर्वाचकोंको वोट-घर तक ले आना आसान काम नहीं है। निर्वाचकोंको वोट-घर तक लानेके लिए जहाज, घोड़ा या गाड़ी अथवा अन्य कोई सवारी भेजना या पहुँचाना कानूनसे मना है। इसलिए निर्वाचनके दिन-इंग्लिस्तानके समान वोटर जिनमें ढोये जाते हों ऐसी गाड़ियों, मोटरों और फिटिनोंकी भीड़ वोट-घरपर नहीं लगती। पर ऐसा भी नहीं कि ज़रा भी शोरगुल या

हलचल न होती हो या कभी कभी मारपीट और दङ्गाफसाद न होता हो।

जापानमें निर्वाचनके अवसरपर एक एक उम्मेदवारको तीन हज़ार येन खर्च करना पड़ता है। इन उम्मेदवारोंकी आय-का विचार कीजिये तो यही बड़ी भारी रकम होती है। इतनी बड़ी रकम पैदा करनेके लिए कुछ लोग तो अपनी जायदाद भी बेच देते हैं। फिर भी जिस सीटके लिए वे इतना स्वार्थ त्याग करते हैं उससे उनको कोई बड़ा अधिकार मिलता हो सो भी नहीं; कुछ सभासद तो अपने सभासद-कालमें सभाकी चर्चामें भागतक नहीं लेते, केवल पैरपर पैर रखे बैठे रहते हैं और दलपतिकी आशाके अनुसार वोट दे देते हैं। इसपर भी इसका कोई ठिकाना नहीं कि सभासद-पदका गौरव वे कब तक भोग सकेंगे। सभासद-कालकी मर्यादा तो ४ वर्ष है; पर अधिकारी वर्गकी जब इच्छा होगी, सभा भङ्ग हो जायगी।

तथापि परिषद्में स्थान पानेके लिए बहुत से उम्मेदवार होते हैं। इसका हेतु, हम यही समझते हैं कि संसारमें कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ जापानसे बढ़ कर, अधिकारियोंका सम्मान किया जाता हो। जापानके राजकर्म्मचारी "सार्वजनीन सेवक" नहीं बल्कि सार्वजनीन प्रभु होते हैं और समाजमें उनका ओहदा सबसे बड़ा माना जाता है। वस्तुतः देहातोंमें जो कद्र एक पुलिसके सिपाहीकी है (क्योंकि वह सरकारी नौकर है) वह एक बड़े जमींदारकी भी नहीं। इसके अतिरिक्त, जापानी लोग सत्कीर्त्ति और सम्मानके लिए बड़े लालायित रहते हैं। प्रतिनिधि-सभाका सभासद "माननीय" होता है; बड़े बड़े अधिकारियोंकी जो इज्जत होती है वह इसकी भी होती है। वह सामान्य जनसमुदायका मनुष्य नहीं समझा जाता;

क्योंकि वह "एम. पी." (शुगु-इन-गु-इन) होता है। वह अपने नामके पीछे "एम. पी." लगानेमें अपना बड़ा गौरव समझता है और लोग भी उसकी इज्जत करते हैं। उसके ओहदे और वोटकी यह महिमा है कि कोई मन्त्री भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। बड़े बड़े अधिकारियोंके यहाँ, जहाँ सामान्य जन जा नहीं सकते, एम. पी. जा सकते हैं और उनके जलसोंका आनन्द ले सकते हैं। यह एक ऐसा गौरव है जिससे प्रधानतः सभाकी ओर लोग झुकते हैं और इस प्रकार प्रतिनिधि-सभाके सभासदोंको चाहे अधिकार विशेष न हो तोभी सभामें सौभाग्यवश ऐसे सभासद होते हैं जिनकी समाजमें प्रतिष्ठा होती है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

संघटन

[सरकारी भाषान्तर का भाषान्तर]

प्रथम परिच्छेद

सम्राट्

१. जापान साम्राज्यपर सम्राट्-वंश-परम्पराका राज्य और शासन सदा अक्षुण्ण रहेगा।

२. सम्राट्-सिंहासनपर बैठनेका अधिकार, सम्राट्-परिवार-कानूनकी धाराओंके अनुसार केवल सम्राट्के पुरुष वंशजोंको ही रहेगा।

३. सम्राट् परम पुनीत और अलङ्घनीय हैं।

४. सम्राट् साम्राज्यके शीर्षस्थान हैं: उन्हींको साम्राज्य-सत्ताके सब अधिकार प्राप्त हैं और वे वर्तमान सङ्घटनके अनुसार उनका उपयोग करते हैं।

५. सम्राट् राष्ट्रीय-परिषद्की सम्मतिसे व्यवस्थापनाधिकारको उपयोगमें लाते हैं।

६. सम्राट् कानूनोंपर मंजूरी देते और उन्हें घोषित तथा कार्यमें लानेकी आज्ञा देते हैं।

७. सम्राट् राष्ट्रीय परिषद्को एकत्र सम्मिलित करते, उसे खोलते, बन्द करते और स्थगित करते हैं, तथा प्रतिनिधि-सभाको भङ्ग करते हैं।

८. सम्राट, सार्वजनिक शान्ति-रक्षाकी अत्यन्त आवश्यकता से अथवा सार्वजनिक सङ्कट-निवारणार्थ राष्ट्रीय परिषद्के अधिवेशनसे अतिरिक्त कालमें, कानूनके बदले आज्ञापत्र प्रचारित करते हैं।

ऐसे आज्ञापत्र राष्ट्रीय-परिषद्के आगामी अधिवेशनमें उपस्थित किये जाते हैं और परिषद् इन आज्ञापत्रोंके अनुकूल सम्मति नहीं देती तो सरकार उन्हें भविष्यके लिए रद्द कर देती है।

९. सम्राट् कानूनोंके अनुसार कार्य करानेके निमित्त, अथवा सार्वजनिक शान्तिकी रक्षा तथा प्रजाजनोंकी सुख-समृद्धिके हेतु आज्ञापत्र प्रचारित करते या कराते हैं। परन्तु कोई आज्ञापत्र किसी प्रचलित कानूनको नहीं बदल सकता।

१०. सम्राट् शाशनके भिन्न भिन्न विभागोंका सङ्गटन तथा समस्त फ़ौजी और मुल्की अधिकारियोंका वेतन स्वयं निश्चित करते हैं और उन अधिकारियोंको नियुक्त और पदच्युत भी करते हैं इस सम्बन्धमें जो अपवाद हैं सो वर्तमान सङ्गटन-विधानमें दिये गये हैं और अन्य कानूनोंमें उल्लिखित हैं, वे (उनके सम्बन्धकी) भिन्न भिन्न नियमधाराओंके अनुरूप होंगे।

११. सम्राट् जलसेना और स्थलसेनाके प्रधान अधिनायक हैं।

१२. सम्राट् जलसेना और स्थलसेनाका सङ्गठन और शान्तिकालिक संस्थासङ्ग निश्चित करते हैं।

१३. सम्राट् युद्धकी घोषणा, शान्तिका प्रवर्त्तन और सन्धिकी शर्तोंका निश्चय करते हैं।

१४. सम्राट्को यह घोषणा देनेका अधिकार है कि देश

शत्रुओंसे घिरा है या घिरावकी हालतमें है। घिरावकी हालतके परिणाम और नियमादि कानूनसे तय पावेंगे।

१५. सम्राट् सरदारी, बड़ाई, तथा प्रतिष्ठाकी उपाधियाँ और सम्मानके अन्यान्य चिह्न प्रदान करेंगे।

१६. सम्राट्की आज्ञासे कैदी छूट सकते हैं, अपराधोंकी क्षमा हो सकती है, दण्डकी कठोरता कम हो सकती है और पूर्वपद पुनः मिल सकता है।

१७. सम्राट्-परिवार-कानूनके नियमानुसार राजप्रतिनिधिकी नियुक्ति हो सकती है।

सम्राट्-प्रतिनिधि सम्राट्के अधिकारोंका उपयोग सम्राट्के नामसे कर सकते हैं।

द्वितीय परिच्छेद

प्रजाजनके कर्त्तव्य और अधिकार

१८. जापानी प्रजाजन होनेकी शर्तें कानूनसे तयकी जायँगी।

१९. जापानी प्रजाजन, कानून अथवा सम्राट्के आज्ञापत्रद्वारा निर्दिष्ट लक्षणोंके अनुसार, मुल्की या फौजी और किसी भी शासनविभागमें समानरूपसे नियुक्त किये जा सकते हैं।

२०. जापानी प्रजाजन, कानूनकी धाराओंके अनुसार, स्थलसेना और जलसेनामें नौकरी पा सकते हैं।

२१. जापानी प्रजाजन, कानूनकी धाराओंके अनुसार, कर देनेका कर्त्तव्य पालन करेंगे।

२२. जापानी प्रजाजनको निवासस्थानकी तथा कानूनकी सीमाओंके अन्दर उसे बदलनेकी स्वतन्त्रता रहेगी।

२३. कोई जापानी प्रजाजन, कानून की अनुमतिके बिना

तृतीय परिच्छेद

राष्ट्रीय परिषद्

३३. राष्ट्रीय परिषद्की दो सभाएँ होंगी—सरदार-सभा और प्रतिनिधि-सभा।

३४. सरदार-सभामें सरदार-सभा-सम्बन्धी आज्ञापत्रके अनुसार, सम्राट्-परिवारके लोग, अथवा सरदार-श्रेणियोंके लोग तथा ऐसे लोग होंगे जिन्हें सम्राट् मनोनीत करेंगे।

३५. प्रतिनिधि-सभा में निर्वाचनके कानूनके अनुसार सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित सभासद होंगे।

३६. एक ही व्यक्ति एक ही समयमें दोनों सभाओंका सभासद नहीं हो सकता।

३७. प्रत्येक कानूनको राष्ट्रीय परिषद्की स्वीकृति लेनी आवश्यक है।

३८. दोनों सभाएँ सरकारद्वारा प्रेषित प्रस्तावोंपर अपनी अपनी सम्मति देंगी और स्वयं भी अलग अलग कानूनके प्रस्ताव पेश कर सकेंगी।

३९. जो बिल दोनों सभाओंमेंसे किसी सभाद्वारा अस्वीकृत हो चुका हो वह फिर उसी अधिवेशनमें पेश न किया जायगा।

४०. दोनों सभाएँ किसी कानूनके सम्बन्धमें अथवा किसी विषयके सम्बन्धमें निवेदनपत्र सरकारके पास भेज सकती हैं। ऐसे निवेदनपत्र यदि स्वीकृत न हों तो फिर उसी अधिवेशनमें उन्हीं निवेदनपत्रोंको नहीं भेज सकते।

४१. राष्ट्रीय परिषद्का सम्मेलन प्रतिवर्ष हुआ करेगा।

४२. राष्ट्रीय परिषद्का अधिवेशन तीन महीनेतक होगा।

आवश्यकता पड़नेपर सम्राट्की आज्ञासे अधिवेशन-काल बढ़ाया जा सकेगा।

साधारण अधिवेशनका काल सम्राट्की आज्ञासे निश्चित किया जायगा।

४४. दोनों सभाओंका खुलना, बन्द होना, उनके अधिवेशनोंका बढ़ाया जाना एक साथ ही हुआ करेगा।

यदि प्रतिनिधि-सभा भङ्ग कर दी गई है तो सरदार-सभा भी स्थगित कर दी जायगी।

४५. जब प्रतिनिधि-सभा भङ्ग कर दी जायगी तब सम्राट्की आज्ञासे सभासदोंका नूतन निर्वाचन होगा, और सभाभङ्गके दिनसे पाँच महीनेके अन्दर नवीन सभाका सम्मेलन होगा।

४६. राष्ट्रीय परिषद्की किसी सभाके अधिवेशनमें भी यदि दो तिहाई सभासद उपस्थित न हों तो उस सभामें किसी विषयपर चर्चा नहीं हो सकती और किसी विषयपर मत भी नहीं लिया जा सकता।

४७. दोनों सभाओंमें बहुमत ही स्वीकार किया जायगा। जब अनुकूल और प्रतिकूल दोनों मत बराबर हों तब अध्यक्षको निर्णयात्मक मत देनेका अधिकार होगा।

४८. दोनों सभाओंके कार्य सार्वजनिक होंगे। सरकारके कहनेपर अथवा सभाके तदर्थक प्रस्ताव स्वीकार कर चुकनेपर गुप्त चर्चा भी की जासकेगी।

४९. दोनों सभाएँ सम्राट्की सेवामें पृथक् पृथक् आवेदनपत्र भेज सकेंगी।

५०. दोनों सभाएँ प्रजाजनोंके प्रार्थनापत्र स्वीकार कर सकेंगी।

५१. दोनों सभाएँ वर्तमान सङ्गठन तथा परिषद् सम्बन्धी कानूनके अतिरिक्त भी अपने अपने प्रबन्धके लिये आवश्यक नियम बना सकेंगी।

५२. किसी सभासदने सभामें जो सम्मति दी है वा जो मत दिया है उसके लिए वह उस सभाके बाहर जिम्मेदार न समझा जायगा। जब किसी सभासदने सभाके बाहर व्याख्यान देकर, लिखकर या छापकर अथवा ऐसे ही किसी उपायसे अपने विचार प्रकट किये हों तो इस सम्बन्धका कानून उस-पर भी लगाया जा सकता है।

५३. भारी अपराध अथवा ऐसे अपराध कि जिनका अन्तर्विद्रोह अथवा परचक्रसे सम्बन्ध हो—ऐसे अपराधोंकी हालतको छोड़कर, किसी सभाका कोई सभासद सभाकी सम्मतिके विना गिरफ़ार नहीं किया जा सकेगा।

५४. राजमन्त्री तथा सरकारके प्रतिनिधि जब चाहें किसी सभामें बैठ सकते हैं और बोल सकते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

राजमन्त्री और मन्त्रपरिषद्

५५. भिन्न भिन्न राजमन्त्री सम्राट्को सम्मति दिया करेंगे और उसके लिए जिम्मेवार रहेंगे।

सब कानूनों, सम्राट्के आज्ञापत्रों और सम्राट्के हर तरह-के सूचनापत्रोंपर जिनका कि राज्य व्यवस्थासे सम्बन्ध है, एक राजमन्त्रीका भी हस्ताक्षर होना चाहिए।

५६. मन्त्रपरिषद्के सभासद सम्राट्द्वारा पूछे जानेपर, मन्त्रपरिषद्के सङ्गठनके नियमानुसार, राज्यव्यवस्थाकी प्रधान बातोंपर विचार करेंगे।

पञ्चम परिच्छेद

न्याय-व्यवस्था

५७. न्यायव्यवस्था न्यायालयोंद्वारा सम्राट्के नामसे कानूनके अनुसार की जायगी।

न्यायालयोंके सङ्गठनके नियम कानूनसे बनाये जायँगे।

५८. जज उन लोगोंमेंसे नियुक्त किये जायँगे जो कि कानूनमें बतलाये हुए लक्षणोंसे युक्त हों।

कोई जज अपने स्थानसे पदच्युत नहीं किया जा सकता, जबतक कि उसे फ़ौजदारी कानूनसे सज़ा न हुई हो और कर्त्तव्यपालनकी त्रुटिके सम्बन्धमें दण्ड न हुआ हो।

कर्त्तव्यपालनकी त्रुटिके सम्बन्धका दण्डविधान कानूनसे किया जायगा।

५९. अदालतमें अभियोग (मुकदमा) और निर्णय (फैसला) आदि सबके सामने होगा। जब इस बातका भय हो कि सबके सामने मुकदमा चलनेसे शान्ति भङ्ग होगी अथवा सर्वसाधारणमें बुरे मनोविकार फैलेंगे तो मुकदमेका काम कानूनके नियमों अथवा न्यायालयके निर्णयसे स्थगित किया जा सकता है।

६०. जो मामले किसी विशेष न्यायालयोंमें ही चलाये जा सकते हैं, कानूनसे उनका निर्देश किया जायगा।

६१. शासनाधिकारियोंके अवैध उपायोंसे किसीके स्वत्वोंकी हानि आदि होनेके सम्बन्धके अभियोग जो कि कानूनसे प्रस्थापित शासनव्यवहार-न्यायमन्दिरमें ही चल सकते हैं, साधारण न्यायालयमें विचारार्थ न लिये जायँगे।

षष्ठ परिच्छेद

आयव्यय-प्रबन्ध

६२. नया कर लगाना या पुराना कर ही बढ़ाना कानूनसे निश्चित किया जायगा।

परन्तु शासनसम्बन्धी फ़ीस या ऐसी आय जिसका स्वरूप क्षति पूरण सा ही है, उक्त नियमकी कोटिमें नहीं आती।

राष्ट्रीय ऋण उगाहने तथा राष्ट्रीय धनभण्डारके सम्बन्धके ऐसे व्यवहारोंके लिए जिनका उल्लेख बजटमें नहीं हुआ है, राष्ट्रीय परिषद्की स्वीकृति आवश्यक होगी।

६३. जो कर इस समय मौजूद हैं और किसी नये कानूनसे जिनमें कुछ परिवर्त्तन नहीं हुआ है वे पुराने ढङ्गसे ही वसूल किये जायँगे।

६४. वार्षिक अनुमानपत्र (बजेट) द्वारा वार्षिक आय-व्ययका लेखा राष्ट्रीय परिषद्से स्वीकृत होना आवश्यक होगा।

जो जो खर्च अनुमान पत्रकी सीमाके बाहर हुआ हो या जिसका उल्लेख ही अनुमानपत्रमें हुआ न हो पर खर्च हो गया हो, उसके लिए राष्ट्रीय परिषद्की पश्चात्स्वीकृति ली जायगी।

६५. बजेट प्रतिनिधि-सभाके सम्मुख उपस्थित किया जायगा।

६६. सम्राट्-परिवारका सब खर्च निश्चित रकम तक राष्ट्रीय धनभण्डारसे किया जायगा और उसके लिए राष्ट्रीय परिषद्की सम्मति आवश्यक न होगी—जब खर्च बढ़ानेकी आवश्यकता प्रतीत होगी तब राष्ट्रीय परिषद्से सम्मति ली जायगी।

६७. सम्राट्से सम्बन्ध रखनेवाले अधिकारोंके सम्बन्धमें सङ्कटनसे जो जो व्यय निश्चित हो चुके हैं, और कानून

विशेषके कारण जो व्यय आवश्यक होंगे अथवा सरकारके लिए वैध-कर्त्तव्यवश जो व्यय आवश्यक होंगे, प्रतिनिधि-सभा सरकारकी अनुकूलताके बिना उन्हें स्वीकार न कर सकेगी और न घटा सकेगी।

६८. विशेष विशेष अवसरपर काम देनेके लिए 'अविरत व्ययनिधि' के नामसे कुछ निश्चित वर्षोंके लिए सरकार राष्ट्रीय परिषद्से कुछ रकम लेनेके निमित्त सम्मति माँग सकती है।

६९. बजटकी अनिवार्य अनुमान त्रुटिके कारण जो कमी हुई हो उसे और बजटमें जिनका उल्लेख नहीं हुआ है ऐसी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए बजटमें रेवेन्यू फण्डके नामसे मद रहेगी।

७०. सार्वजनिक शान्तिकी रक्षा करनेकी अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर देशके अन्तःक्षोभ या बहिःक्षोभके कारण जब राष्ट्रीय परिषद्का सम्मेलन न हो सकेगा, तब सरकार सम्राट्के आज्ञापत्रसे आयव्ययसम्बन्धी सब प्रबन्ध कर सकेगी।

ऐसी अवस्थामें उक्त प्रबन्ध राष्ट्रीय परिषद्के आगामी अधिवेशनमें उपस्थित किया जायगा और उसकी स्वीकृति ली जायगी।

७१. जब राष्ट्रीय परिषद् बजटपर सम्मति न दे या जब बजेट ही तैयार न हो तब सरकार पूर्व वर्षके बजेटसे काम ले सकेगी।

७२. देशके आयव्ययका सब हिसाब जाँच कर्त्ताओंकी समितिद्वारा जाँचा और मंजूर किया जायगा, और सरकारद्वारा वह राष्ट्रीय परिषद्में, जाँचकर्त्ताओंकी समितिकी जाँच और मंजूरीके साथ पेश किया जायगा।

जाँचकर्त्ताओंकी समितिके सङ्गठन और लक्षणोंकी नियमावली कानूनसे अलग बनायी जायगी।

सप्तम परिच्छेद

क्रोड़ नियम

७३. भविष्यमें जब कभी वर्तमान सङ्घटनमें धारापरिवर्त्तनकी आवश्यकता प्रतीत होगी, तब सम्राट्के आज्ञापत्र-द्वारा तद्विषयक प्रस्ताव राष्ट्रीयपरिषद्में उपस्थित किया जायगा।

जब ऐसी अवस्था होगी तो जबतक सभाके कमसे कम दो तिहाई सभासद उपस्थित न हों तबतक कोई सभा इसपर विवाद आरम्भ नहीं कर सकती, और जबतक उपस्थित सभासदोंमेंसे दो तिहाई सभासदोंकी अनुकूल सम्मति न हो. तबतक कोई संशोधन उसमें नहीं किया जा सकेगा।

७४. सम्राट्-परिवार-कानूनके परिवर्तन-प्रस्तावको राष्ट्रीय परिषद्में उपस्थित करनेकी आवश्यकता न होगी।

वर्त्तमान सङ्घटनकी किसी धाराको सम्राट्-परिवार-कानून नहीं बदल सकता।

७५. सम्राट्-प्रतिनिधिके सत्ताकालमें सम्राट्-परिवार-कानून अथवा सङ्घटनमें परिवर्त्तन करनेका कोई प्रस्ताव उपस्थित नहीं किया जा सकता।

७६. इस समय जो कायदे, कानून, नियम, आज्ञाएँ अथवा आदेशादि प्रचलित हैं वे जहाँतक वर्त्तमान सङ्घटनके विरोधी हैं, वहाँतक प्रचलित रहेंगे।

सरकार जिन जिन कामोंको उठा चुकी है या जिन जिन कामोंको करनेकी आज्ञा दे चुकी है, और व्ययसे जिनका सम्बन्ध है, वे सब काम ६७ वीं धाराके अन्तर्भूत होंगे।

१६४२ वि०से आगे नियुक्त हुए मन्त्रियोंके परिवर्त्तनोंकी सूची

नियुक्तिका काल	मन्त्रि-सभापति	विदेश सम्बन्धी कारबार के मन्त्री	आभ्यन्तर नीतिके मन्त्री	अर्थ-मन्त्री	युद्ध-मन्त्री	जलसेना मन्त्री	न्यायविभागके मन्त्री	शिक्षा विभागके मन्त्री	व्यवसाय और कृषि-के मन्त्री	पत्र व्यवहारके मन्त्री	सेवाका काल वर्ष—मास
मार्ग० १९४२	इतो	इनोयी	यामागाता	मात्सु-काता	ओयामा	सायगो	यामादा	मोरि	तानि	इनोमोतो	२—४
फाल्गुन ,,	...	...	...	...	...	...	...	...	सायगो *	...	...
आषाढ़ १९४३	...	...	...	...	...	ओयामा*	...	...	यामागाता*	...	...
ज्येष्ठ १९४४	...	...	...	...	...	...	...	...	तानि	...	...
आषाढ़ ,,	...	...	...	...	सायगो	...	...	...	हिजिकाता	...	...
भाद्रपद ,,	...	इतो	...	...	...	...	...	...	कुरोदा	...	...
माघ ,,	...	ओकुमा	...	...	...	...	...	...	...	...	...
चैत्र ,,	कुरोदा	ओकुमा	यामागाता	मात्सु-काता	ओयामा	सायगो	यामादा	मोरि	इनोमोतो	इनो-मोतो *	१—६

आषाढ १९४५	...	...	...	...	...	...	...	...	इनोबी	...	...
मार्ग० ,,	...	...	मात्सु-काता *	...	...	...	...	...	...	...	...
माघ ,,	...	...	...	...	...	...	...	ओयामा *	...	...	...
फाल्गुन १९४५	...	...	...	...	...	...	...	इनोमोतो	...	गोतो	...
आश्विन १९४६	...	...	यामागाता	...	...	...	...	...	...	...	...
आश्विन ,,	कुछकाल-के लिए, सान्जो	...	...	...	...	...	...	...	इवासुरा	...	...
मार्गशीर्ष ,,	यामागाता	आओकि	यामागाता *	मात्सु-काता	ओयामा	सायगो	यामादा	योशि-कावा	मुत्सु	गोतो	१—५
वैशाख १९४७	...	...	सायगो	...	...	कावायामा	...	...	...	...	...
वैशाख १९४८	मात्सु-काता	इनोमोतो	सायगो	मात्सु-काता *	ताका-शिमा	कावायामा	यामादा	योशि-कावा	मुत्सु	गोतो	१—३
ज्येष्ठ ,,	...	...	शिना गावा	...	...	...	तानाका	ओकि	...	...	...

* ऐसे तारा चिन्हसे अंकित सज्जन अपने समयमें एकसे अधिक पदोंपर कार्य क

य

र

ल

पारिभाषिक शब्द-कोष ।

अंगरेज़ी से हिन्दी ।

A

Absolutism or Oriental Despotism	स्वैरशासननीति या प्रजादमनमूलक नीति (एकमेवाद्वितीयाधिकार)
Admonition Act	आगाही कानून
Administrative Power	शासन सत्ता
Amity	मैत्री
Assembly of Prepectural Governors	प्रान्तीय शासक सभा

C

Cabinet	मन्त्रिमण्डल
Charter Oath	प्रतिज्ञापत्र
Civil and Military Codes	दीवानी फौजदारी कानून
Conference	(कानफरेन्स) सभा
Conservative	पुराणप्रिय
Consultative Assembly	परामर्श सभा
Constitution	संघटन, प्रातिनिधिक राज्य पद्धति
Council	(कौन्सिल) परिषद्

Country	देश
Court	अदालत
Court of Administrative Litigation	न्यायमन्दिर

D

Democracy	सर्वसाधारणसत्तावाद
Deputy governor	नायब
Development	प्रगति
Desciplinary Punishment	मर्यादारक्षा दण्ड
Divine Right	दैवी अधिकार
Duality of Govt.	राज्यकी युग्मरूपता

E

Economics	अर्थविज्ञान
Eloctoral System	निर्वाचनपद्धति
Elector	निर्वाचक
Emperor	सम्राट्
Executive Powers	शासनाधिकार

F

Feudal Chiefs	ताल्लुकेदार

G

General	सेनानी, सेनापति

H

Hard Money System	धातुनिर्मित धन
High Court of Justice	प्रधान न्यायमन्दिर

पारिभाषिक शब्द-कोष

House of Commons	लोकप्रतिनिधि सभा
House of Pears	सरदार परिषद्
House of Representatives	प्रतिनिधि परिषद्
I	
Illegitimate, Illegel	अवैध
Imperial Court	राजसभा, दर्बार
Imperial Diet	राष्ट्रीय सभा
Imperial Ordinance	अनुष्ठानपत्र
Individualism	व्यक्तिप्रधानवाद
Intrigues	षड्यन्त्र
J	
Judge	न्यायाधीश
L	
Law of State	राजकानून
Laws	धर्मशास्त्र
Legislative Assembly	धर्मपरिषद्, कानून बनानेवाली सभा
Legislative Powers	धर्मविधान अधिकार
Liberalism	उदारमत
Liberal	उदार
Local Autonomy	स्थानिक स्वराज्य
M	
Memorial	आवेदनपत्र
Monarchical Form of Govt.	राजतन्त्र राज्य

Monitary System	मुद्राङ्कणपद्धति
Morpohological Observation	देहरचनासम्बन्धी निरीक्षण

N

National Treasury	राष्ट्रनिधि
Natural Rights	जन्मसिद्ध अधिकार

O

Oligarchic Form of Govt.	अल्पसत्तात्मकशासन पद्धति

P

Paper Money	कागज़ी सिक्के
Party Govt.	दलबद्ध सरकार
Public Opinion	लोकमत
Press Law	छापासम्बन्धी विधान
Privy Council	मन्त्रपरिषद्

R

Radical Politician	आमूलसुधारवादी
Reactionist Party	पुनरान्दोलक दल
Representative Legislative Assembly	प्रातिनिधिक धर्मसभा
Repnblicanism	प्रतिनिधिसत्तावाद
Responsible and Non-Responsible	उत्तरदायी और अनुत्तरदायी
Restoration	पुनःस्थापना

पारिभाषिक-शब्द-कोष

Ruler	हाकिम
Rural community	ग्रामसंस्था

S

Semi Independent	अर्धस्वाधीन
Senate	शिष्टसभा
Socialism	समाजसत्तावाद
Social Out-casts	अन्त्यज जातिएँ
Sufferagist	अधिकाराभिलाषी
Star-chamber	नक्षत्रभवन
Systum of Arbitration	पंचायत प्रथा

T

Tent-government	छावनी सरकार
Tow-chamber Systum	सभाद्वय पद्धति

U

Unification	एकीकरण
Union-in-larg Party	प्रबलएकतावादी दल
United Association	संयुक्त संघ
United States	संयुक्तराष्ट्र
Utilitarianism	उपयोगितातत्व
Utility	उपयोगिता

पारिभाषिक शब्द-कोष।

हिन्दी से अँगरेज़ी।

अ

अधिकाराभिला-षिणी स्त्रियें	Sufferagists	सफ़्रजिस्ट्स
अदालत	Court	कोर्ट
अनुष्ठानपत्र	Imperial Ordinance	इम्पीरियल आर्डिनन्स
अन्तः कलह	Civil War	सिविलवार
अन्त्यज जातियें	Social Outcasts	सोशल आउट-कास्ट्स्
अमात्यपद	Ministrial Office	मिनिस्ट्रियल आफिस
अमीर उमराव	Nobles	नोब्ल्स
अर्थविज्ञान	Economics	इकोनोमिक्स
अर्धस्वाधीन नृपति	Semi Independent	सेमि-इन्डिपेन्डेन्ट
अर्मदा	Armeda	आर्मेडा
अल्पजन सत्तात्मक शासनपद्धति	Oligarchic Form of Govt.	ओलिगार्किक फार्म आव् गवर्नमेंट
अहंभाव	Ego	इगो
अवैध सम्राट	Illegitimate Emperor	इल्लिजिटिमेट एम्परर

आ

आगाही कानून	Admonition act	एडमोनिशन एक्ट
आपत्कालिक आज्ञापत्र	Emergency ordinance	इमर्जेन्सी आर्डिनन्स
आमूलसुधारवादी	Radical Politicians	रेडिकल पालिटीशियन्स
आवेदन पत्र	Memorial	मेमोरियल

इ

इंग्लिस्तान	England	इंग्लेन्ड

उ

उत्तरदायी और अनुत्तरदायी सरकार	Responsible and Non-responsible Govt.	रिस्पोन्सिब्ल एन्ड नान-रिस्पोन्सिब्ल गवर्नमेंट
उदारमत	Liberalism	लिबरेलिज़्म
उपयोगितासिद्धांत, उपयोगितातत्त्व	Utiliterianism	यूटिलिटेरियनिज़्म

ए

एक और अनेक द्वैत-अद्वैत	One and many	वन एन्ड मेनी
एकीकरण	Unification	यूनिफ़िकेशन

क

कागज़ी सिक्के	Paper Money	पेपर मनी
कान्फरेन्स	Conference,	कान्फरेन्स

परिषद्	Council	कौन्सिल
कानूनकी पोथी	Codes of Laws	कोड्स आफ लांज़

ख

खड्गहस्तशासननीति	Iorn-hand Policy	आयर्न हैन्ड पालिसी

ग

ग्रामपञ्चायत, नगरपञ्चायत	Village or Town-meating	विलेज आर टौन मीटिंग
ग्रामसंस्था	Rural Community	रूरल कम्यूनिटी

छ

छापासम्बन्धीविधान	Press law	प्रेस ला
छावनी	Tent Governmet	टेन्ट गवर्नमेंट

ज

जगद्गुरु	Spiritual Head	स्पिरिचुअल हैड
जन्मसिद्धअधिकार	Natural Rights	नेचुरल राइट्स

त

ताल्लुकेदार	Feudel Chifs	फ्यूडल चीफ्स

द

दलबद्ध सरकार	Party Govt.	पार्टी गवर्नमेंट
दुनियादार	Materialist	मेटिरीयलिस्ट

मानहानिका कानून	Law of Libel	ला आफ लाइबल
मिकादो तत्व	Mecadoism	मिकादोइज़्म
मुद्राङ्कन पद्धति	Monatery Systum	मोनेटरी सिस्टम
मूलपुरुष	Origin	ओरिजन
मेग्ना चार्टा	Magna-charta	
मैत्री	Amity	एमिटी

र

राजा	Soveriegn	सावरेन
राजतन्त्रराज्य	Monarchical Form of Govt.	मोनार्चिकल फार्म आव् गवर्नमेंट
राजनीतिक संस्कार	Political mind	पोलिटिकल माइन्ड
राजनीतिक संस्था	Political Institution	पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन
राजसभा	Imperial Court	इम्पीरियल कोर्ट
राज्यकी युग्मरूपता	Duality of Govt.	ड्युअलिटी आव् गवर्नमेंट
राष्ट्र	Nation, People	नेशन, पीपल
राष्ट्रसंघटनसम्बन्धी उद्योग	Canstitutional movement	कन्स्टिट्यूशनल मूवमेंट
राष्ट्रनिधि	National treasury	नेशनल ट्रेज़री
राष्ट्रकानून	Law of State	ला आफ स्टेट
राष्ट्रीय एकान्त	National Iosolation	नेशनल आइसोलेशन
राष्ट्रीय अस्तित्व	National Existence	नेशनल एक्जिस्टेन्स
राष्ट्रीय सभा	Imperial Diat	इम्पीरियल डायट

ल

लश्करी जागीरदार तालुकेदार	Feudel Lord	फ्यूडल लार्ड
लक्ष्मीका दासत्व	Worship of dollar	वर्शिप आव् डालर
लोकप्रतिनिधिसभा	House of commons	हाउस आव कामन्स
लोकमत	Public opinion	पब्लिक ओपिनियन

व

विशिष्टमुद्रण और प्रकाशन विधान	Special Press and Publication act	स्पेशल प्रेस एन्ड पब्लिकेशन एक्ट
विदेशसम्पर्क-विरोध	Anti-forein sentiment	एन्टि-फोरेन सेन्टिमेंट
विदेशियोंका निवासान्त	Expulsion of foreigners	एक्सपल्शन आव फोरेनर्स
वंशवेत्ता	Anthrapologist Ethnologists	एन्थ्रापालोजिस्ट, एथनालोजिस्ट
व्यवसाय वाणिज्य	Trade and Industry	ट्रेड एण्ड इन्डस्ट्री
व्यक्तिप्राधान्यवाद	Individualism	इन्डिविजुआलिज़्म
व्यूहबद्ध राज्य	Consolidated State	कान्सोलिडेटड् स्टेट

श

शान्ति	Peace	पीस
शान्तिरक्षा कानून	Peace Priservation Law	पीस प्रिसर्वेशनक

शासक	Civil Governor	सिविल गवर्नर
शासन अधिकार	Excutive Powers	एक्ज़क्यूटिव पावर्स
शासनपद्धति	Constitution	कानस्टिट्यूशन
शासनसत्ता	Administrative Power	एडमिनिस्ट्रेटिव पावर
शासकवर्ग	Governing Class	गवर्निंग क्लास
शिष्टसभा	Senate	सीनेट

ष

षड्यन्त्र	Intrigue	इनट्रिग्

स

सभा	Assembly	असेम्ब्ली
समाजस्वातन्त्र्य का सिद्धांत	Theory of Social Contract	थ्योरि आफ सोशल कन्ट्राक्ट्
सभाद्वय पद्धति	Two-chamber Systum	टू-चेम्बर सिस्टम
समाजसत्तावाद	Socialism	सोशलिज़्म
सम्राट	Emperor	एम्परर
सरकार	Government	गवर्नमेंट
सरकारका दूत	Herald on Offical Service	हेरल्ड आन आफिशल सर्विस
सरदार परिषद्	House of Peers	हाउस आफ पीयर्स
सर्वसाधारण सत्ता वाद	Democracy	डेमोक्रेसी
सामरिक कर्मचारी	Military Men	मिलिटरी मेन